रत्नाकर-शतक

द्वितीय भाग

अनुवादक और सम्पादक
भारतगौरव श्री १०८ आचार्यरत्न, धर्मनेता, विद्यालंकार
श्री देशभूषणजी महाराज

प्रकाशक
जैन मित्र मण्डल,
धर्मपुरा, दिल्ली।

प्रकाशक :
जैन मित्र मण्डल,
धर्मपुरा, दिल्ली
ट्रैक्ट नं० १५७

द्वितीय संस्करण-वीर नि० स० २४९०
मूल्य २॥) ढाई रुपया

मुद्रक :
नवचेतन प्रेस प्रा० लि०,
(लीजिज ऑफ अर्जुन प्रेस),
नया बाजार, दिल्ली ।

प्रस्तावना

भारतीय साहित्य मे जैन वाङ्मय का अत्यन्त गौरवपूर्ण स्थान है। जैन-साहित्य के निर्माताओं मे बहुभाग जैनाचार्यो का है। जैनाचार्य त्याग और संयम के मूर्तिमान रूप होते है। उनके जीवन का सारा आयोजन आध्यात्मिक होता है। वे सांसारिक आरम्भ-परिग्रह को त्याग कर केवल आत्म-साधना मे निरत रहते हैं। उनके कन्धों पर जैन शासन और जैन संघ की सुरक्षा के जो महान् दायित्व होते है, उनका निर्वाह वे कुशलतापूर्वक करते है। जैन-शासन की नौका के सामने कई बार पहाड आकर खड़े हो जाते है, किन्तु आचार्य उन पहाड़ों मे मार्ग बना-कर नौका को खे ले जाते हैं।

जब अन्तिम श्रुत केवली भद्रबाहु मौर्य सम्राट् चन्द्रगुप्त को लेकर १२००० मुनियो के साथ दक्षिण भारत की ओर चले गये, उसके बाद शताब्दियों तक उत्तर भारत मे कोई प्रसिद्ध जैनाचार्य नही हुए। सभी प्रसिद्ध आचार्य दक्षिण भारत में ही होते रहे। आचार्य पुष्पदन्त, भूतबली, गुणभद्र, आचार्य कुन्दकुन्द, उमास्वामी, समन्तभद्र, अकलंक, सिद्धसेन, विद्यानदी, जिनसेन, रविषेण, नेमिचन्द्र, देवनन्दी, रामसेन आदि सभी प्रमुख आचार्यो ने दक्षिण भारत मे जन्म लिया और प्राय उधर ही प्रचार किया। उनके महान् व्यक्तित्व, विद्वत्ता और प्रतिभा के कारण सारा दक्षिण जैनधर्म का अनुयायी बन गया; दक्षिण के सभी राजवश—चोल, पाण्ड्य, होयसल, कदम्ब, चालुक्य जैनधर्म के कट्टर भक्त हो गये। और इसी का परिणाम यह हुआ कि जब दक्षिण में शकराचार्य के धर्म-प्रचार की आंधी उठी, उसमे बौद्ध धर्म के भारत से पैर उखड गये, किन्तु इन दिग्गज आचार्यो ने उस आंधी को अपनी छाती पर झेल

लिया, उससे उनके पैर नही डगमगाये। इतिहासकारो को अभी यह खोजना शेष है कि आचार्य कुन्दकुन्द ने भारत के चारो कोनो पर जो चार आश्रम या तीर्थ स्थापित किये थे, उनका शकराचार्य के युग मे क्या रूप परिवर्तित हुआ और हिन्दुओ के वर्तमान चार धाम ही क्या कुन्दकुन्द द्वारा स्थापित चार तीर्थ नही है ? यह असंभव नही है कि जैसे दक्षिण भारत के प्रसिद्ध शैव मन्दिर कभी जैन मन्दिर रहे थे और लिंगायतो के जहाद मे वे परिवर्तित कर लिये गये, इसी प्रकार चारो तीर्थ ही परिवर्तित करके हिन्दुओ के चार धाम वन गये हो। वद्रीनाथ पर मूलनायक प्रतिमा आज भी ऋषभदेव की ही प्रतिमा है और उसे हिन्दू लोग अपना आराध्य मानते है। केवल नाम-रूप ही वदल दिया है। अस्तु !

दक्षिण भारत मे आचार्य-परम्परा मे जव तक प्रौढ आचार्य होते रहे, तव तक उन्होने धर्म और सस्कृति की रक्षा की, वे साहित्य-सृजन करते रहे। ,उनके वाद गृहस्थ विद्वानो ने और भट्टारको ने यह कार्य किया और साहित्य की श्री-वृद्धि की ।

उत्तरभारत से यद्यपि मुनि-सघ भद्रवाहु स्वामी के साथ चला गया था, किन्तु इसका अर्थ यह नही है कि उत्तर भारत मे मुनियो का एक-दम अभाव हो गया था। यहाँ भी मुनि रहे थे और उन्होंने भी समय-समय पर साहित्य-निर्माण मे हाथ बंटाया। इनके अतिरिक्त विद्वान् पण्डितो ने अनेक विपयो की प्रौढ रचनाएँ की ।

आचार्य और मुनि आध्यात्मिक जीवन के व्यावहारिक और मूर्तिमान रूप रहे हैं, अत उनकी रचनाओ का मुख्य विपय अध्यात्म रहा है। स्वयं अध्यात्म-साधना मे निरत रहने वाले यह कैसे स्वीकार कर सकते थे कि वे अपनी रचनाओ द्वारा जनता के मानस मे अश्लील शृंगार के माध्यम से कुरुचि अथवा विकृति भर दें। इसलिये इन महान् आचार्यो ने ससार की गहन समस्याओ के मूल मे जाकर द्रव्यो और तत्वो का जिस वारीकी के साथ विश्लेपण किया है, अरूपी आत्मा का

स्वरूप रूपी पुद्गल के आवरण को दूर करके अपने अनुभव के जोर से जगत के समक्ष प्रस्तुत किया, जन्म-मरण की परम्परा का सही निदान करके उसके कारणो का निरसन करने का जो मार्ग उद्घाटित किया, वह जैनाचार्यों की अपनी ही विशेषता रही है और इस विशेषता की बदौलत ही वे दूसरे लेखको से पृथक् पहचाने जा सकते हैं। साम्प्रदायिक आवरण डालकर दुनिया को देखने वाले उनके दृष्टिकोण को कभी-कभी साम्प्रदायिक कह बैठते हैं, किन्तु निष्पक्ष तत्व मनीषियो की दृष्टि मे चरम सत्य की उपलब्धि इसके अतिरिक्त दूसरी हो नही सकती। वस्तुत. सत्य का साक्षात्कार करने की जो दृष्टि जैनाचार्यों ने अपनी रचनाओं द्वारा दी है, उसी के कारण यह सम्भव हो सका कि दार्शनिक इस या उस रूप में अनेकान्त और स्याद्वाद की उपयोगिता को स्वीकार करने लगे। जैन तत्वज्ञानियो ने आत्मा मे अनन्तशक्ति, अनन्त-ज्ञान और अनन्त सुख की जो स्वीकृति दी है, वह सत्य की महान् उद्भावना है और इस स्वीकृति के बिना आत्मा के सही रूप के न कभी दर्शन हो सकते है और न उस दिशा मे कोई प्रयत्न ही सम्भव है।

किन्तु इस सबका अर्थ यह नही है कि जैनाचार्यों ने केवल शुष्क अध्यात्म को ही अपनी रचनाओ और प्रतिभा का विषय बनाया। न्याय, छन्द, कोष, अलंकार, वैद्यक, ज्योतिष, पुराण, इतिहास, चम्पू, काव्य, व्याकरण, मत्र, गणित आदि सभी विषयों पर समान अधिकार के साथ अपनी लेखनी चलाई। और साहित्य के सभी अगो को अपनी प्रतिभा द्वारा समृद्ध किया।

आचार्यों की तरह गृहस्थ विद्वानो और भट्टारको ने भी उपरोक्त सभी विषयों पर प्रौढ़ रचनाएँ की।

जैन लेखको ने—चाहे वे आचार्य हो, विद्वान् हो या भट्टारक—कभी अपनी लेखनी को बेचा नही, व्यवसाय नही बनाया और न राजाओ या धनिको की सन्तुष्टि का साधन ही बनाया। उन्होंने जो

कुछ लिखा, स्वान्त सुखाय ही लिखा, उन्होने जो कुछ लिखा, जन-कल्याण की भावना से प्रेरित होकर लिखा। उनकी रचनाओ से उनके लेखको को आत्म सन्तुष्टि प्राप्त हुई और पाठको को कल्याण के दर्शन हुए। एक और भी उनका दृष्टिकोण था, उसे समझ लेना भी आवश्यक है, जिससे कही उनके साथ अनजाने मे अन्याय न हो जाय। उन्होने जो कुछ भी लिखा, परम्परा की सीमा मे रहकर ही लिखा; उन्होने जो कुछ लिखा मर्यादा मे रहकर लिखा। अपनी परम्परा और मर्यादा का निर्वाह वे न कर सके हो, ऐसा हमे कही नही मिलता। इसलिये ही उनकी लेखनी नियन्त्रित, सयत और उद्‌बुद्ध रहकर चली; उच्छृखलता, दम्भ और माया को कही प्रश्रय नही मिल पाया। इसीलिये वादीन्द्रकालानल, स्याद्‌वादाचलसिंह, तार्किक चक्रवर्ती, वादीभ पचानन और वाक्कल्लोलपयोनिधि जैसे विरुदधारी भी गुरु और धर्म-शासन के समक्ष अपनी लघुता प्रदर्शित करके ही आगे बढ सके।

जैन साहित्य-निर्माताओ की एक विशेषता यह रही है कि उन्होने किसी भाषा विशेष की दासता कभी स्वीकार नही की। उनका उद्देश्य भाषा की श्रेष्ठता प्रमाणित करना कभी नही रहा, अपितु वे एक उद्देश्य को लेकर चले थे। उस उद्देश्य का प्रचार-प्रसार जिस भी भाषा से हो सकता था, उसी के द्वारा उन्होने अपने विचारो को अभिव्यक्त किया। भाषा भावो की अभिव्यक्ति का माध्यम है, सबल साधन है, इस सत्य को सबसे पहले जैन साहित्यकारो ने ही पहचाना था। इस सत्य को पहचानने की प्रबल प्रेरणा उन्हे तीर्थंकरो की दिव्य ध्वनि से प्राप्त हुई थी। तीर्थंकरो की दिव्यध्वनि अर्धमागधी मे प्रगट होती है। वह भाषा निरक्षरी होती है, किन्तु देव, मनुष्य और तिर्यंच सभी जीव उसे अपनी भाषा मे समझ लेते है। जैन-साहित्यकारों ने साहित्य-निर्माण करते समय इसका निष्कर्ष निकाला कि तीर्थंकरो के उपदेश सभी लोगो के पास उनकी भाषाओ मे जाने चाहिये। इसका अर्थ यह भी है कि कोई एक भाषा श्रेष्ठ नही है, बल्कि सब भावो के व्यक्तीकरण का अपना-अपना

उद्देश्य पूरा करती हैं। इस फलितार्थ पर पहुँच कर वे किसी भाषा-विशेष के बन्धन में जकडे नही रह सकते थे, न उन्हे किसी भाषा-विशेष से व्यामोह हो सकता था और न किसी भाषा को वे हीन ही समझ सकते थे।

अत उन्होने सस्कृत मे रचना की, प्राकृत मे रचना की, अपभ्रंश मे साहित्य-सृजन किया। विभिन्न जनपद-भाषाओ को उन्होने अपने साहित्य का माध्यम बनाया। प्राकृत भाषा पर जैन साहित्यकारो का सम्पूर्ण अधिकार रहा है। अपभ्रश साहित्यकारो मे बहुभाग जैन साहित्यकारो का ही है। हिन्दी भाषा के आद्य रचनाकार जैन ही थे और यदि समुचित न्याय मिला—जिसका मुझे पूर्ण विश्वास है—तो हिन्दी के आद्य महाकवि बनने का गौरव चतुर्मुख स्वयभू और रयधू को देना होगा। व्रजभाषा, राजस्थानी और गुजराती मे जैन लेखको ने जो देन दी है, वह कम महत्वपूर्ण नही है। दक्षिण भारत की भाषाओ को साहित्य का माध्यम बनाने का एकमात्र श्रेय जैन साहित्यकारो को ही मिलेगा। तामिल भाषा के संगमों के सयोजक जैन रहे हैं। उसके आदि पाच महाकाव्य और कुरल काव्य जैनाचार्यों की ही कृतियाँ है। और कन्नड़ भाषा तो जैनो की प्रिय भाषा रही है। अधिकांश दिगम्बर जैन साहित्य कन्नड भाषा मे ही उपलब्ध होता है। कन्नड़ भाषा के पम्प, रन्न, पोन्न, जन्न, साल्व, चन्द्र, रत्नाकर, अग्गल, बन्धुवर्मा ये सभी जैन कवि थे। इस प्रकार जनपद भाषाओ और प्रान्तीय भाषाओ को साहित्य का माध्यम बनाने का श्रेय जैन साहित्यकारों को ही है और साहित्य के क्षेत्र मे जैनो की यह देन भारतीय भाषाओ के इतिहास मे गौरव के साथ स्मरण की जाती रहेगी।

ग्रन्थ का नाम

प्रस्तुत ग्रन्थ का नाम लेखक के नाम पर 'रत्नाकर-शतक' है। यह कन्नड भाषा का बड़ा सरस उपदेश-ग्रन्थ है। इसमे कुल १२८ पद्य है। यह कन्नड़ भाषा के प्रसिद्ध कवि रत्नाकर वर्णी की महत्वपूर्ण रचना

है। इसमे मुख्य प्रतिपाद्य विषय अध्यात्म, नीति और वैराग्य है। इन विषयो को लेकर कवि ने उपदेश दिया है। किन्तु कवि की उपदेश की भी अपनी शैली है। न उसमे गुरु का कठोर शासन है, न कान्तासम्मत प्यार भरी सीख है, न मित्रो जैसी हिताकाक्षा है बल्कि कवि अपने रत्नाकराधीश्वर से प्रत्येक पद्य मे भक्तिपूर्ण सलाप करता है और भक्ति मे उसके हृदय मे जो भावनाएँ उत्पन्न होती है, उन्हे सब बन्धनो से ऊपर उठकर व्यक्त करता है। कभी वह अपने प्रभु से ससार की असारता का बखान करता है, कभी पाप-पुण्य को लेकर फरियाद करता है, कभी राजाओ की मनोवृत्ति की शिकायत करता है तो कभी अपने प्रभु को बड़े ध्यान से देखकर पुकारता है—'हे रत्नाकराधीश्वर! भगवन्! बोलो, क्या आपको मुनियो द्वारा भावपूर्ण पूजा इष्ट है या भव्यजनो द्वारा श्रेष्ठ पदार्थों से होने वाली पूजा इष्ट है? तुम बोलते क्यो नही?' किन्तु भक्त कवि सोच मे पड़ जाता है, उसके भगवान् बोलते नही, मौन है। उनका मौन रहस्य से खाली नही है। तभी यकायक वह चिल्ला उठता है—मैने रहस्य जान लिया कि भगवान् मौन क्यो है। भगवन्! आप तो इच्छा रहित है।' किन्तु प्रश्न सुलझा नही, भगवान् चाहते क्या हैं? फिर भगवान् चाहेगे ही क्या, उनके तो कोई इच्छा ही नही है। तब! भावपूर्ण पूजा, श्रेष्ठ पदार्थों द्वारा पूजा ये सब क्यो? कवि सोचता है और स्वयं ही उत्तर देता है—'भव्य लोग आपके अन्दर अपने मन को लगाने के लिये ये नानाविध साधन किया करते है।' (पद्य ९९)

एक ज्ञानी ने कहा—'भावो की शुद्धता ही पूजा है। भगवान् को ससार के पदार्थ चढाना भगवान् की विडम्बना है, क्योकि भगवान् वीत-राग है, वे न फलो से प्रसन्न होते हैं, न वे न चढाने से अप्रसन्न होते है। संसारी जनो ने कहा—'हम अपने कर्मों को नष्ट करना चाहते है। कैसे करें, कुछ तो आलम्बन चाहिये। हम तो इसलिये भगवान् के आगे अष्ट द्रव्य चढाकर उनके उपलक्षण से आठ कर्मों का हवन करना चाहते है।

क्या बुराई है यो करने में।' कवि ने दोनो की बात सुनी और अपने भगवान् से बोला—'हे रत्नाकराधीश्वर ! जैसे योगी आपकी भावपूजा करके अपना कल्याण करता है, वैसे ही श्रेष्ठ पदार्थों से जो सत्पुरुष आपकी पूजा करते हैं, उनका भी महान् कल्याण होता है।' कितना सुन्दर फैसला है कवि का। यह व्यवहारवादी दृष्टिकोण लेकर कवि चला है। (६८)

कवि गुरु का लक्षण करते हुए कहता है कि—'दूसरे के सुख-दुःख को अपना सुख-दुःख मानने वाला, आत्मा को शरीर से पृथक् समझने वाला तथा परलोक को अपना देश मानने वाला इस लोक का गुरु है और उत्कृष्ट ज्ञानी है।' कवि ऐसे ही गुरु को अपना गुरु मानता है और यही वह अपने गुरु देवेन्द्रकीर्ति मुनिराज का परिचय देते हुए कहता है कि वे ऐसे ही ज्ञानी गुरु थे।

कवि एक ओर तो कहता है कि भगवान् के चरण-कमलो की भक्ति करने से किसी प्रकार की आपत्ति नही आती तथा अनेकानेक इष्टार्थ की सिद्धि भी होती है, और दूसरी ओर उसे भारी शिकायत है कि ससार के समाचारो पर स्नेह के साथ बात करते हुए शरीर की दशा भरे हुए घडे के समान रहती है, किन्तु भगवान् के नामाक्षर रूप मंत्र का स्मरण और जाप्य करते समय जम्हाई आने लगती है, आँखो से पानी बहने लगता है, आलस्य सताने लगता है। कवि ने वास्तव मे सत्य ही कहा है—हमे दुनिया के कामो के लिये खूब समय है, उत्साह है, रुचि है, किन्तु भगवान् का नाम लेने के लिये हमारे पास न समय है, न रुचि है और न उत्साह ही है।

आत्मा का स्वरूप क्या है, यह शरीर के बन्धन मे किस प्रकार पडा, ये और इसी प्रकार के दूसरे प्रश्न है, जिन पर भारतीय और अन्य दार्शनिको ने बड़ा ऊहापोह किया है। किन्तु आत्मा के स्वरूप को पहचानने मे वे अक्षम ही सिद्ध हुए हैं। जैनधर्म ने इस प्रश्न को अपने सिद्धान्त और दर्शन का मुख्य विषय मानकर विचार किया और इस

निष्कर्ष पर पहुँचा कि आत्मा शक्ति की दृष्टि से परमात्मा के समान अनन्त ज्ञानादि गुणो से युक्त है, किन्तु इसके गुणों पर मोह, राग-द्वेष आदि का आवरण पड़ा है। इसलिये उसकी शक्ति व्यक्त नही हो पाई। जैनधर्म की इसी मान्यता को रत्नाकर शतक मे कवि ने प्रकट किया है। वह कहता है कि आत्मा स्फटिक मणि के समान निर्मल है। विभिन्न रगों के साथ सम्बन्ध होने पर जैसे स्फटिक लाल-पीली आदि हो जाती है, उसी प्रकार विभिन्न शरीरों के संयोग के कारण यह आत्मा विभिन्न नाम-रूप की कहलाने लगती है। इन शरीरो के बंधन में यह आत्मा अपने किये हुए कर्मों के परिणाम-स्वरूप पड़ा है। जब तक कर्मों का नाश नही किया जाता, तब तक आत्मा के शुद्ध-निर्मल स्वरूप की उपलब्धि होना असभव है। (११८-११९)

इस प्रकार इस ग्रन्थ मे अध्यात्म, सिद्धान्त, नीति, वैराग्य, उपदेश आदि को लेकर १२८ श्लोक दिये गये है।

ग्रन्थकार रत्नाकर वर्णी

इस ग्रन्थ के रचयिता रत्नाकर वर्णी कन्नड़ भाषा के मूर्धन्य साहित्यकारो मे माने जाते हैं। इनकी उपलब्ध रचनाओ मे तीन शतको की बड़ी ख्याति है—रत्नाकर-शतक, अपराजित-शतक और त्रैलोक्येश्वर शतक। रत्नाकर शतक का दूसरा नाम रत्नाकराधीश्वर शतक भी है। तीनो शतको मे १२८-१२८ पद्य हैं, और इनमे अध्यात्म, नीति, वैराग्य, वेदान्त और त्रिलोक सम्बन्धी वर्णन है।

इनकी एक और रचना अत्यन्त प्रसिद्ध है, जिसका नाम है भरतेश-वैभव। भरतेश वैभव मे योगिराज चक्रवर्ती भरत का जीवन-चरित्र गुम्फित किया गया है। इसमे वैराग्य के साथ शृंगार का जिस प्रकार समन्वय किया गया है, वह अनुपम है। इस काव्य ग्रन्थ के कारण इनका एक विरुद 'शृंगार कवि राजहंस' भी ग्रन्थो मे मिलता है। इनके इस विरुद का रहस्य इसी काव्य मे निहित है। मैं नही जानता कि इस काव्य का कन्नड महाकाव्यो मे क्या स्थान है, किन्तु यदि इस काव्य को महाकाव्य

की कोटि मे नही सम्मिलित किया गया है तो निश्चय ही कन्नड भाषा और कन्नड़ भाषाभाषियों की यह महान् क्षति है।

कवि रत्नाकर का एक और भी शतक है, जिसका नाम 'सोमेश्वर-शतक' है। यह काव्य कवि की उस काल की रचना है, जब कवि ने जैनधर्म छोडकर शैवमत अङ्गीकार कर लिया था। इसमे तत्त्व तो जैन-धर्म सम्बन्धी है, किन्तु यह शिवजी को सम्बोधन करके लिखा गया है और प्रत्येक काव्य के अन्त मे 'हरहरा सोमेश्वरा' पद दिया गया है।

कवि का क्या परिचय है, कौन इनके गुरु थे आदि विषय अभी निर्भ्रान्त नही हैं। किन्तु फिर भी इन्होने रत्नाकर-शतक के पद्य १०८ मे गुरु की परिभाषा करते हुए बताया है कि 'दूसरे के सुख-दु ख-आनन्द को अपना मानने वाला, शरीर मे अपने को पृथक् समझने वाला, परलोक को अपना देश कहने वाला, इस लोक का गुरु और उत्कृष्ट ज्ञानी है। वही मेरा भी गुरु है और वह ज्ञानी देवेन्द्रकीर्ति मुनीश्वर है।' इसमे अपने गुरु का नाम देवेन्द्रकीर्ति दिया है। इसी प्रकार अन्त मे 'श्रीमद्देवेन्द्रकीर्ति योगीश्वर-पादाभोजभृ गायमान-श्रृ गारकविराज-हंसराज विरचितमप्परत्नाकर सपाद शतक समाप्त अर्थात् देवेन्द्रकीर्ति योगीश्वर के चरण-कमलो मे भ्रमर के सदृश रहने वाले श्रृ गार कवि राजहस विरचित 'रत्नाकर सपादशतक समाप्त हो गया। इसमे भी यही बतलाया है कि श्रृ गार कवि राजहस के गुरु देवेन्द्रकीर्ति योगीश्वर थे। कही-कही इनके गुरु का नाम महेन्द्रकीर्ति मिलता है। किन्तु राजा-वलि कथा के अनुसार देवेन्द्रकीर्ति और महेन्द्रकीर्ति दोनो नाम एक ही व्यक्ति के थे।

कवि का जन्म कब हुआ, यह तो विदित नही हो पाया, किन्तु इतना निश्चित है कि वे १६वी शताब्दी मे हुए थे। ये सूर्यवशी राजा देवराज के पुत्र थे। इनका जन्म तुलुदेश के मूडविद्री मे हुआ था। ये अनेक विषयो के पारगामी विद्वान् थे।

ग्रन्थ का अनुवाद और टीकाकार आचार्य महाराज

इस ग्रन्थ का यह द्वितीय सस्करण है। इसका प्रथम सस्करण श्री स्याद्वाद प्रकाशन मंदिर आरा की ओर से प्रकाशित हुआ था। सुविधा की दृष्टि से पहले की तरह इस द्वितीय सस्करण को भी इसे दो भागों मे प्रकाशित किया जा रहा है। ग्रन्थ मे कुल १२८ पद्य हैं, जिनमें से प्रथम भाग मे ६३ पद्य दिये गये है और द्वितीय भाग मे ६५ पद्य है। प्रथम सस्करण मे दोनो भागो की पृष्ठ सख्या २४०+२७१=५११ थी। किन्तु द्वितीय संस्करण मे दोनो भागो की पृष्ठ सख्या ४१९+३१० =७२९ है अर्थात् प्रथम सस्करण से द्वितीय संस्करण मे २१८ पृष्ठ अधिक दिये गये हैं। इसका कारण यह है कि पहले की अपेक्षा इस बार विषय को अधिक वोधगम्य बनाने के लिये उसका विशेष विवेचन किया गया है। आचार्यो की रचनाओ मे से अनेको उद्धरण देकर विषय को अधिक स्पष्ट किया गया है। इस सस्करण मे भाषा, गैटअप, मेकअप आदि अन्त और वाह्य सौन्दर्य की ओर भी विशेष ध्यान दिया गया है।

इस ग्रन्थ की हिन्दी टीका परम पूज्य आचार्यरत्न श्री १०८ देशभूषणजी महाराज ने की है। मूल ग्रन्थ कन्नड भाषा मे है। आचार्य महाराज कन्नड, मराठी, संस्कृत, प्राकृत, अपभ्रंश, हिन्दी, गुजराती आदि अनेक भाषाओ के विद्वान् है; अनेक विषयो पर उनका अधिकारपूर्ण पाण्डित्य है। रत्नाकर शतक की हिन्दी टीका करते हुए उन्होने अनेक शास्त्रो का आलोडन करके विविध विषयों का विशद विवेचन किया है। गम्भीर विषय को भी जितना सरस और सरल बनाया है, यह आपके ही उपयुक्त है।

आचार्य महाराज को स्वाध्याय का एक व्यसन सा है। जैन मुनि की आवश्यक क्रियाओ—सामायिक, आहार, प्रतिक्रमण आदि से अवशिष्ट समय में आप स्वाध्याय, ग्रन्थ-प्रणयन या ध्यान में ही निरत

रहते हैं। आप अपने एक-एक क्षण का ध्यान-अध्ययन मे जिस प्रकार सदुपयोग करते हैं, वह वास्तव मे हम संसारीजनों के लिये प्रेरणाप्रद है। जैन मुनि की चर्या और आचार-विचार बहुत कठिन है। चातुर्मास के अतिरिक्त शेष समय उन्हे विहार करते रहना पड़ता है। विहार करते समय ग्रन्थ-प्रणयन जैसा कार्य हो नहीं पाता। अत ग्रन्थ-प्रणयन और किसी विषय के गम्भीर अध्ययन का यदि कुछ सुयोग मिल सकता है, तो वह केवल चातुमास मे ही। वैसे तो चातुर्मास में भी मुनियों का बहुत सा समय तो सामायिक, प्रतिक्रमण, आहार, प्रवचन, ध्यान, दर्शनार्थ आये व्यक्तियो को सबोधन, समय-समय पर होने वाले केशलुंचन आदि के आयोजन और विभिन्न धार्मिक समारोहो में ही चला जाता है। ग्रन्थ रचना के लिये जिस गम्भीर अध्ययन, चिन्तन, मनन और अवकाश की आवश्यकता है, वह मुनियो को कठिनता से ही प्राप्त हो पाता है। उन मुनियो के लिये ऐसे महत्त्वपूर्ण कार्य के लिये समय निकाल लेना तो और भी कठिन है, जिनका जनता पर पर्याप्त प्रभाव है। किन्तु आचार्य देशभूषणजी इसके अपवाद हैं। वे जनता की श्रद्धा के केन्द्र हैं। जहाँ जाते है, जहाँ ठहरते हैं, जनता की श्रद्धा वहाँ उमड पडती है और आचार्य महाराज के निकट जनता का मेला सा लग जाता है। उसमें ग्रन्थ-निर्माण के लिये समय निकालना कितना कठिन है, यह समझना कठिन नही है।

इस वर्ष आचार्य महाराज का चातुर्मास दिल्ली में ला० लच्छूमल कानजी की धर्मशाला कूचा बुलाकीबेगम (दरीबाकलां) मे हुआ। मुनि-धर्म के अनुकूल सभी आवश्यक क्रियाएँ चलती रहती थी, समय-समय पर धार्मिक आयोजन होते रहते थे। इन व्यस्तताओं मे भी आप स्वाध्याय और ग्रन्थ-प्रणयन के लिये पर्याप्त समय निकाल ही लेते थे। इस दिल्ली-चातुर्मास के अवसर पर आपके द्वारा अनूदित और संपादित रत्नाकर शतक प्रथम और द्वितीय भाग, णमोकारमंत्र कल्प, उपदेश सारसग्रह छटा भाग, रयणसार, आदि कई ग्रन्थ प्रकाशित हो चुके हैं तथा धर्मामृत की विस्तृत

टीका का आपने प्रणयन किया है, जो प्रैस मे देदी गई है। थोड़े से समय मे इतना विशाल साहित्य-सृजन का कार्य असाधारण है । यह साहित्य परिमाण की दृष्टि से तो विपुल है ही, गुण, सौष्ठव और गम्भीरता मे भी बेजोड है। आज तक आचार्य महाराज की लगभग ४० रचनाएँ कन्नड, मराठी, हिन्दी, सस्कृत, प्राकृत, गुजराती, इगलिश मे प्रकाशित हो चुकी है। मैने निकट से देखा है कि महाराज को निरन्तर साहित्य-सृजन की अदम्य उत्कण्ठा और उत्साह है । इसके अतिरिक्त प्राचीन हस्तलिखित ग्रन्थो का सग्रह, उनका सतत् अवलोकन, नानाविध धार्मिक प्रवृत्तियाँ आदि आचार्य महाराज की अपनी विशेषताएँ है। यह देखकर बडा आश्चर्य होता है कि साठ वर्ष की आयु, मुनि धर्म की कठोर मर्यादाएँ, आवश्यक चर्यायें, प्रभावशाली आचार्य होने के कारण दर्शनार्थियो की भीड, आदि अनेक प्रकार की व्यस्तताओ और विवश-ताओ के बीच शोर-शराबे मे एकाग्र होकर इतना विशाल और महान् साहित्य का निर्माण ये कैसे कर लेते है।

आचार्य महाराज की एक और भी विशेषता है, जिसके कारण सारा हिन्दी ससार उनका चिरऋणी रहेगा। वह है कन्नड भाषा के अमूल्य ग्रन्थ रत्नो का हिन्दी मे रूपान्तर करके उसके सौष्ठव और रस से हिन्दी भाषियो को परितृप्त करना । हिन्दी को राष्ट्रभाषा का जो महान् गौरव प्राप्त हुआ है, वह अपेक्षा करता है कि विविध भारतीय और भारतीयेतर श्रेष्ठ साहित्य को हिन्दी भाषा मे अनूदित किया जाय। जो भी विद्वान् इस दिशा मे प्रयत्न कर रहे है, उनके प्रति हिन्दी जगत् आभारी है और यह न केवल हिन्दी भाषा की ही सेवा है, बल्कि हिन्दी को समृद्ध करके वे लोग राष्ट्रभाषा के रूप मे राष्ट्र की गौरवपूर्ण सेवा कर रहे है। आचार्य महाराज भी उन्ही महान् व्यक्तियो मे है। उन्होने अब तक लगभग १५ कन्नड भाषा के ग्रन्थो का हिन्दी मे अनुवाद करके हिन्दी-साहित्य की समृद्धि मे महत्वपूर्ण योगदान किया है। हमे आचार्य महाराज के विशाल साहित्य का इस दृष्टि से भी समुचित मूल्याकन

करना चाहिये।

आचार्य महाराज हिन्दी-सेवा के साथ-साथ जैनवाङ्मय की जो सेवा कर रहे हैं, वह तो विशेष उल्लेखनीय है ही। मुझे यह देखकर सन्तोष है कि महान् जैनाचार्यो ने अपनी प्रतिभा और विद्वत्ता का उपयोग जैनवाङ्मय को समृद्ध करने में किया और आचार्यो की उस परम्परा का निर्वाह आचार्य देशभूषणजी ने भी करके जिनवाणी माता को अर्घ्य-दान किया है। इससे भी अधिक सन्तोष इस बात का है कि लेखक के गौरव का आकलन उसके जीवन-काल में ही हो, यह सौभाग्य कम ही लोगो को मिल पाता है। किन्तु आचार्य महाराज इस मामले मे भी पुण्यशाली हैं। उनकी रचनाओं का विद्वानो मे जो समादर आज भी है, वह उनकी सफलता का मापविन्दु है।

आचार्य महाराज की प्रस्तुत रचना-रत्नाकर शतक का प्रथम भाग (द्वितीय संस्करण) कुछ समय पूर्व प्रकाशित हो चुका है, दूसरा भाग यह प्रस्तुत है। मुझे आशा है, सर्वसाधारण और विद्वानों के लिये अन्य रचनाओ की तरह यह रचना भी अत्यन्त उपयोगी सिद्ध होगी।

द्वितीय भाग के दाता
स्वनामधन्य साहू शान्तिप्रसादजी

रत्नाकरशतक जनता को इतना अधिक पसन्द आया कि इसका प्रथम सस्करण हाथोहाथ चला गया और शीघ्र समाप्त भी हो गया। किन्तु फिर भी जनता की मांग जरा भी कम नही हुई। तब इसका द्वितीय सस्करण निकालने की योजना की गई। पूज्य आचार्य महाराज ६ वर्ष पश्चात् दिल्ली नगरी मे पुन पधारे और उनका चातुर्मास हुआ। जनता की मांग को देखते हुए इसके प्रथम भाग को प्रकाशित करने के लिये ला० उदमीराम कुन्दनलाल जी की अन्त प्रेरणा हुई और उसका मुद्रण तथा वाइण्डिग का सारा व्यय उन्होने दिया। उसके कागज का व्यय स्वनामधन्य श्रावक-शिरोमणि साहू शान्तिप्रसाद जी और

उनकी धर्मनिष्ठा सौभाग्यवती धर्मपत्नी श्रीमती रमारानी जी जैन ने दिया ।

प्रस्तुत द्वितीय भाग के मुद्रण, कागज, वाइण्डिग आदि का सम्पूर्ण व्यय श्रीमान् साहू जी और उनकी धर्मपत्नी ने दिया है । आप दोनो ही अत्यन्त उदार, धर्म-प्रेमी और गुरु-भक्त है। आप जैन समाज के गौरव हैं। आपके हृदय मे जैनधर्म का प्रसार करने की बडी भावना है, आपकी रुचि जैन तीर्थो के जीर्णोद्वार, प्राचीनकला और जैन पुरातत्व के सरक्षण मे विशेष रूप से है, आप जैन साहित्य का प्रकाशन आकर्षक रूपसज्जा और विकसित सपादन कला के वर्तमान रूपों में चाहते है और इसके लिये न केवल दूसरो को आप अपना सक्रिय सहयोग ही देते है, अपितु आपने इसी उद्देश्य के लिये 'भारतीय ज्ञानपीठ' नाम से एक साहित्यिक सस्था की भी स्थापना की है और आज वह भारत की सर्वश्रेष्ठ प्रकाशन सस्थाओ मे परिगणित की जाती है। साहित्यिक क्षेत्र मे ज्ञानपीठ ने जो एक नया मानदण्ड स्थिर किया है, रुचि का जो परिष्कार किया है और आकर्षक बाह्य रूप सज्जा को जो दिशा दी है, उसके कारण ज्ञानपीठ प्रकाशन और सपादन के क्षेत्र मे एक आदर्श बन गया है ।

श्रीमान् साहू जी भारत के मूर्धन्य उद्योगपति है । भारत तथा विदेशों में आपके अनेक उद्योग चल रहे हैं। उनकी व्यवस्था और सचालन सम्बन्धी व्यस्तताएँ कुछ कम नही हैं, किन्तु फिर भी समय निकाल कर आप पूज्य आचार्य महाराज के दर्शनार्थ आते ही रहते है और धर्म-श्रवण कर शान्ति-लाभ करते है । मुझे व्यक्तिगत रूप से अनुभव है कि जैनधर्म के वास्तविक रूप को समझने-जानने की उनकी इच्छा बडी प्रबल है । वे धर्म के हर पहलू को तार्किक ढंग से समझना और उसे आत्मसात करना चाहते है । आचार्य महाराज द्वारा की गई हर धार्मिक प्रवृत्ति मे अपना सहयोग देने मे वे सन्तोष अनुभव करते है । वास्तव मे आपकी गुरु-भक्ति सराहनीय है ।
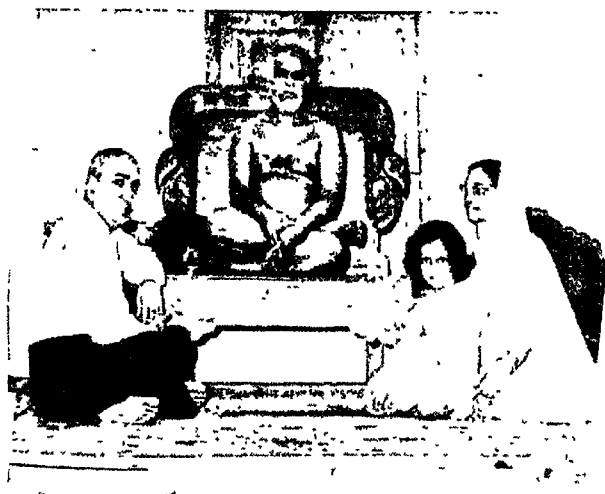
आचार्य देशभूषण जी मे साहू शान्ति प्रसाद जी और उनकी धर्मपत्नी
. सौ० रमारानी अपनी पौत्री के साथ धर्मोपदेश सुन रहे हैं।

आभार-प्रदर्शन

यद्यपि इस ग्रन्थ के प्रकाशन मे कुछ कारणवश आवश्यकता से अधिक विलम्ब लग गया, किन्तु फिर भी यह जिस सजधज और सुन्दर रूप मे प्रकाशित हो रहा है, इसका श्रेय नवचेतन प्रेस के प्रोप्राइटर बा० छोटेलाल जी को है। उनका मैं हृदय से आभारी हूँ।

इनके अतिरिक्त जैन मित्र मण्डल के मंत्री ला० महतावसिंह जी बी० ए० एल-एल० बी०, बा० आदीश्वर प्रसाद जी एम० ए०, ला० पन्नालाल जी (प्रकाशक दैनिक तेज), आचार्य महाराज के अनन्य चरणसेवक ला० रघुवरदयाल जी और बा० भगवानदास जी का भी मैं हृदय से आभारी हूँ, जिनका कृपापूर्ण सहयोग और सौहार्द मुझे सदैव प्राप्त हुआ।

कूंचा बुलाकीबेगम,
दिल्ली
दिनांक-३० जनवरी '६४

बलभद्र जैन
(भूतपूर्व संपादक दैनिक सन्देश,
साप्ताहिक जैन सन्देश)

विषय-सूची

पद्य	विषय	पृष्ठ

आचार्य देशभूषण जी महाराज साहू शान्ति प्रसाद जी को शुभाशीर्वाद देते हुए ।

श्री हंसराज बच्छराज नाहटा
सरदारशहर निवासी
द्वारा
जैन विश्व भारती, लाडनूं
को सप्रेम भेंट –

॥ श्री वीतरागाय नमः ॥

रत्नाकर शतक

द्वितीय भाग

आचार्यरत्न १०८ श्री देशभूषणजी विद्यालंकार द्वारा
व्याख्यात्मक भाषानुवाद

—:—

अनुवादकर्ता का मंगलाचरण

मोक्षाध्वसन्दर्शनतिग्मरश्मिम्
कामाद्रिविध्वंसन-वज्र-घोरम् ।
नमाम्यहं तद्गुणलब्धुकामो-
निरंजनं धाम जिनेन्द्र-संज्ञम् ॥१॥

या रत्नाकरवर्णिना शतपदी शैलाक्षिभूसम्मितैः
श्लोकैर्मंजु निगुम्फिता सुललिता कर्णाटकीभाषया ।
तां लोकोपचिकीर्षया सरलया हिन्द्या सतां सम्मुखं
व्याख्याम्येष हि देशभूषणमुनिर्नत्वा जिनेन्द्रप्रभुम् ॥२॥

रत्नाकरस्याद्भुततत्वकोषः
कर्णाटकीवाक्कलशे निगूढः ।
स चाद्य भाष्यार्थविजृम्भितेन
भव्यात्मलाभाय मयोदघाटि ॥३॥

अवबोधे न वैशिष्ट्यं न्याय-काव्य-निघण्टुषु ।
प्रमादस्खलितं तस्मान्मर्षणीयं सुधीजनैः ॥४॥

सदाचारी श्रावक

धारापूर्वकमाद पेण्गळोळवर् प्रत्येकमेकैक प-
त्नि रागव्रतिकर् मदक्षय निमित्तं काममं तीर्चुवर् ॥
वारस्त्रीबहुलांगनापरबधूचेटी रतक्काटिसर् ।
सारात्मर्जिनदत्तमुख्यरघरे ? रत्नाकराधीश्वरा ! ॥६४॥

हे रत्नाकराधीश्वर !

श्री जिनदत्त आदि सदाचारियो ने धर्मपूर्वक ग्रहण की हुई एक ही स्त्री के सहवास मे सन्तोप प्राप्त करने का व्रत लिया था। उन लोगो ने कामरूपी शत्रु को शान्त करने के लिए एक ही स्त्री के साथ अपनी इच्छा की पूर्ति की। वेश्या, बहुपत्नी, परस्त्री और दासी के साथ सभोग करने मे कभी उत्साहित नही हुए। जिनदत्तादि क्या कभी पापी कहे जायेगे ?

विवेचन—यहाँ पर कवि ने इस श्लोक मे यह बतलाया है कि मनुष्य जन्म प्राप्त करने के बाद मनुष्य के अन्दर धर्म, अर्थ और काम ये तीन पुरुषार्थ मोक्ष मार्ग के साधनभूत न होगे, तब तक गृहस्थाश्रम का सदुपयोग नही होगा क्योकि ससार मे गृहस्थ ससार के बन्धन मे रहते हुए भी परलोक के साधन के लिए अपने गृहस्थ आश्रम को भगवान जिनेन्द्र देव के कहे अनुसार मर्यादापूर्वक रखता है। वह गृहस्थ 'अपने जीवन का, अपने शरीर का, धन का आत्म-कल्याण के साधन मे सदुपयोग करता है। शास्त्रो मे जितने श्रावको का इतिहास देखने मे आता है, उन्होने अपने धर्म पर रह कर मनुष्य पर्याय को फलीभूत बना लिया।

श्रावक धर्म

श्रावक धर्म अर्थात् श्रावक धर्म के कर्तव्य के बारे मे एक कवि ने

बहुत सुन्दर कहा है कि—

त्रैकाल्ये जिनपूजनं प्रतिदिनं संघस्य सन्माननं ।
स्वाध्यायो गुरुसेवनं च विधिना दानं तथावश्यकम् ।।
शक्त्या च व्रतपालनं वरतपो ज्ञानस्य पाठस्तथा ।
सैष श्रावकपुंगवस्य कथितो धर्मो जिनेन्द्रागमे ।।

त्रिकाल अर्थात् प्रात काल, सायकाल और सन्ध्याकाल श्री जिनेन्द्र भगवान की पूजन-अर्चा, नित्य पूजन, सायकाल को आरती, शास्त्र-अभ्यास, गुरु सेवा, विधि के अनुसार दान तथा आवश्यक प्रतिक्रमण आदि और शक्ति के अनुसार व्रत-पालन, उत्तम तप का शक्ति के अनुसार आचरण, भगवान तीर्थकरो द्वारा कहे हुए शास्त्रो मे उत्तम श्रद्धा रखना इस तरह श्रेष्ठ श्रावको का धर्म कहा है । ऐसे ही गृहस्थ श्रावको का गृहस्थपना फलीभूत होता है ।

कर्तव्यनिष्ठ श्रावक

हस्ते दानविधिर्मनो जिनमते वाचः सदा सूनृते ।
प्राणाः सर्वजनोपकारकरणे वित्तानि चैत्योत्सवे ।।
येनैवं विनियोजितानि शतशो विश्वत्रयीमण्डनं ।
धन्यः कोऽपि स विष्टपैकतिलकं काले कलौ श्रावकः ।।

हाथ से दान करने मे मन (हाथ से दान), श्री भगवान जिनेन्द्रदेव के कहे हुए धर्म मे मन लगाना, वाणी मे सत्य, सम्पूर्ण मनुष्यो पर दया-उपकार करने मे रत, भगवान् जिनेन्द्र देव के मन्दिर के उत्सव मे धन का व्यय इस प्रकार हमेशा करने वाला जो श्रावक ससार मे अपने कर्तव्य को समझ कर नित्य नियम से ये भावना रखता है, इस प्रकार सदाचार व्रत रखता है, वह श्रावक तीन लोक मे तिलक रूप श्रावक धर्म मे धन्य

माना जाता है।

मोक्षाभिलाषी श्रावक का धर्म

कर्तव्या देवपूजा शुभगुरुवचनं नित्यमाकर्णनीयं।
दानं देयं सुपात्रे प्रतिदिनममलं पालनीयं च शीलम् ॥
तप्यं शुद्धं स्वशक्त्या तप इह महती भावना भावनीया।
श्राद्धानामेष धर्मो जिनपतिगदितः पूतनिर्वाणमार्गः ॥

नित्य देव-पूजा, शुभकारी गुरु वचन का श्रवण, सत्पात्र को प्रति दिन दान, निर्मल शील का पालन करना, अपनी शक्ति के अनुसार शुद्ध तप व आचरण करना इस प्रकार ससार मे शुभ भावना रखने वाले श्रावक का यह पवित्र मोक्ष मार्ग स्वरूप धर्म जिनेन्द्र भगवान ने कहा है।

पुण्यानुबन्धी श्रावक का लक्षण

सर्वज्ञार्चानुरक्तिर्विपुलतरधिया तीर्थयात्रानुषक्तिः।
पापादाने विरक्तिर्मुनिवरचरणाराधनेऽगाधभक्तिः ॥
दानासक्तिः समग्रागृहविरतिरतिर्धर्मकर्मप्रसक्तिः।
केषांचित् पुण्ययोगाद् भवति यदि परं प्राणिनां प्राप्तिरेषा ॥

श्री सर्वज्ञ वीतराग भगवान के पूजन मे प्रेम, अत्यन्त उदार बुद्धि से तीर्थयात्रा मे श्रद्धा, पाप-कर्मों मे वैराग्य, मुनियो की चरण सेवा मे अगाध भक्ति, दान मे आसक्ति, समस्त मिथ्यात्व को दूर करने मे सद्धर्म भावना, धर्म कार्य मे आसक्ति ऐसे आचरण करने वाले श्रावक पुण्यानुबन्धी पुण्य प्राप्त करके अन्त मे मोक्ष की प्राप्ति का साधन कर लेते है अर्थात् शीघ्र ही ससार-बन्धन से मुक्ति पाते है। श्रावक का यह धर्म आचार्यो ने बतलाया है।

इस प्रकार कवि ने इस श्लोक मे उत्तम श्रावक का धर्म बतलाते हुए उन श्रावकों का वर्णन किया गया है । जिनदत्तादि श्रावक धर्मपूर्वक ग्रहण की हुई एक-एक स्त्री मे सन्तोष करके व्रत पालन करते थे। भगवान जिनेन्द्रदेव के कहे हुए धर्म मे कभी भी शका न करके पुण्य से प्राप्त किये हुए मानव पर्याय को विषय वासना मे रत न होकर धर्म मार्ग मे ज्यादा से ज्यादा लगाते थे।

साराश यह है कि ये गृहस्थ श्रावक विषय भोग के बीच मे रहते हुए भी तालाब मे जैसे पानी से भिन्न कमल रहता है उसी प्रकार रहकर विषय कषाय का बन्ध नही करते थे। ऐसे श्रावक ससार भोगकर अन्त में मोक्ष की प्राप्ति के लिए साधन बना लेते हैं। गृहस्थ अपने श्रावक धर्म को पालते हुए और विषय कषाय को कम करते हुए अष्टमी-चौदश पर्व तिथि के दिन मन्दिर या एकान्त मे जाकर रात्रि को प्रतिमा योग-धारण करते थे। इस समय उनके भाव केवल निष्परिग्रह भावना से आत्म-ध्यान में लीन रहते थे। जितने समय तक विषय-वासना का त्याग करते थे, उतना ही पुण्यानुबन्धी पुण्य के साथ कर्म की निर्जरा कर लेते थे। और मन-वचन-काय के द्वारा स्वस्त्री का त्याग करके अपने आत्मा मे लीन रहते थे। महाव्रत की उपलब्धि करने के लिए अणुव्रतो का निरतिचार पालन करने का प्रयत्न करते थे। ऐसे उत्तम श्रावक ससार मे पवित्र माने जाते थे। उनका प्रभाव केवल मानव पर ही नही, पशु पर नही, परन्तु देवो तक पर पडता था। यह सभी धर्म के श्रद्धान का फल है।

भावार्थ—ब्रह्मचर्य व्रत के आगम में दो भेद किये गये हैं—ब्रह्मचर्य महाव्रत और ब्रह्मचर्य अणुव्रत। ब्रह्मचर्य महाव्रत का पालन तो तभी हो सकता है, जब पर विषयो की प्रवृत्तिमात्र का त्याग कर दिया जाय। पर विषयों की ओर थोड़ी प्रवृत्ति भी अब्रह्म है। जो आत्मज्ञानी हैं, जिन्होने अपनी बाह्य वृत्तियों का त्याग कर दिया है, और आत्मा के भीतर जो रमण करते हैं, उन्हे पर पदार्थों की तुच्छता का आभास हो

जाता है। उनकी आत्मप्रवृत्ति मे किसी भी बाह्य निमित्त से क्षोभ नही होता है। सासारिक विभूतियाँ उन्हे चलायमान नही कर सकती। आत्मा के सिवाय अन्य किसी भी पदार्थ में उनकी प्रवृत्ति नही होती है, जगत के सभी पदार्थ उन्हे तुच्छ प्रतीत होते हैं।

ब्रह्मचर्य महाव्रतधारी की दृष्टि में स्त्री हाड़-मास का पुतला होती है, उसके मन मे कोई भी विकार नही रहता है। आत्मा में अपूर्व ज्योति आ जाती है। पूर्ण ब्रह्मचर्य का धारी समस्त इन्द्रिय और कषायों को जीत लेता है, उसकी इन्द्रिय विषयो मे लालसा नही रहती है, समस्त पर पदार्थों से अनुराग हट जाता है। उसे ज्ञायक आत्मा की प्रतीति हो जाती है।

जो पूर्ण ब्रह्मचर्य का पालन नहीं कर सकते है, उन्हे ब्रह्मचर्याणुव्रत का पालन करना चाहिए। ब्रह्मचर्याणुव्रत का अभिप्राय यह है कि काम विकार को दूर करने के लिए स्त्री या पुरुष को शीलव्रत लेना चाहिए अर्थात् पुरुष को स्वदार संतोष और स्त्री को पतिव्रत ग्रहण करना चाहिये। जो व्यक्ति आजन्म केवल विकार को दूर करने के लिए ही स्वदार का उपयोग करता है, वह पवित्रात्मा जल्द ही निर्वाण प्राप्त करता है; अपनी कर्मराशि को थोड़े ही समय मे नाश कर परमपद को प्राप्त करता है। प्रथमानुयोग में सती सीता और सठ सुदर्शन आदि के ऐसे उदाहरण मिलते है, जिनके ब्रह्मचर्याणुव्रत के प्रभाव से अग्नि शीतल और जल का सरोवर बन गयी थी, बड़ी-से-बड़ी विपत्ति भी टल गयी और व्रत के प्रभाव से सर्वत्र कीर्ति छा गयी। जो व्यक्ति एकदेश ब्रह्मचर्य का निरतिचार पालन करता है, ब्रह्मचर्य को दृढ़ करने वाली भावनाओं का चिन्तन करता है, वह धन्य है।

इस संसार में कचन और कामिनी ये दो ही पदार्थ प्रधानतः आसक्ति के कारण है। जो व्यक्ति इन दोनो को शक्ति के अनुसार छोड़ता है उसमे अपूर्व शक्ति आ जाती है। आत्मा की आच्छादित अनन्त शक्तियाँ उद्‌बुद्ध हो जाती है। जिन लोगों की दुष्प्रवृत्ति रहती है, उनका विवेक

नष्ट हो जाता है, वे निन्द्य विषय भोगो मे आसक्त हो अन्धे हो जाते है, अन्याय करते है तथा स्वच्छंद विहारी हो जीवन-भर पाप-पक में फसे रहते है। इस कामदेव—विषय-वासना—के अनेक नाम है। वे सब सार्थक हैं। यह आत्मा मे गर्व उत्पन्न करता है, इसलिए इसे कदर्प कहते है। विषयों मे नाना प्रकार की अभिलाषाएँ उत्पन्न करने के कारण इसे काम, नाना योनियो मे भ्रमण कराता है तथा प्राणियो को विषयो के लिए लड़ाता रहता है, इसलिए मार और सवर का घातक होने के कारण सवरारि कहते है। ब्रह्मचर्य के बिना समस्त व्रत, तप, जप व्यर्थ है। कायक्लेश सहन करना, उपवास आदि करना ब्रह्मचर्य के अभाव मे निष्फल हैं। स्पर्शन इन्द्रिय के विषयो से विरक्त होने पर ही आत्मस्वरूप की उज्ज्वलता दिखलायी पडती हैं। ब्रह्मचर्य के पालन करने के लिए नृत्य, गान और गरिष्ठ भोजन का त्याग करना परमावश्यक है। मादक पदार्थों का सेवन भी ब्रह्मचर्य मे बाधक है। ब्रह्मचारी को शारीरिक शृंगार करना, इन्द्रियों की लम्पटता को बढ़ाने वाले पदार्थों का सेवन करना बिल्कुल वर्ज्य है। एकदेश ब्रह्मचर्य के धारी मे भी अद्भुत आत्मशक्ति आ जाती है। उसका स्वास्थ्य सदा अच्छा रहता है। रोग उसके ऊपर आक्रमण नही कर पाते है। वह जितेन्द्रिय बन कर अपने चंचल मन को वश में करता है तथा अपना उत्तरोत्तर विकास करता हुआ चला जाता है।

भोग बुरा है

सत्याधिष्ठितधर्ममं तिळिदु जीवं तन्ननी कामव-
प्रत्याख्यान कषायसंभवदे सुत्तित्तेंदु पेण्गूडियुं ॥
रत्यंतोद्भव हेयमं नेनेयुतं पोगल्जयं पेण्गे ता-
नत्यंत प्रियवद्धनागे किडने ? रत्नाकराधीश्वरा! ॥६५॥

हे रत्नाकराधीश्वर !

जीवात्मा ने यथार्थ धर्म को न जान कर "क्रोध, मान, माया, लोभ

जैसे कषाय के प्रादुर्भाव से स्त्री-सम्भोग मे अपने को लिप्त कर रखा है, किन्तु रति-सुख का अनुभव करने पर भी सम्भोग के अन्त मे जो घृणा उत्पन्न होती है उसका स्मरण करते रहने से विषयोपभोग की कामना पर विजय प्राप्त की जा सकती है। स्त्रियो मे अधिक आसक्त होने से क्या मनुष्य नाश को प्राप्त नही होगा ?

विवेचन—औषध के समान गृहस्थ को विषयो का सेवन करना चाहिए। अधिक विषयो को भोगने से व्यक्ति को शारीरिक और मानसिक नाना प्रकार की व्याधियाँ हो जाती है, जिससे उसका जीवन कष्टमय बीतता है। यदि कोई भी व्यक्ति विचार कर देखे तो उसे विषय भोगो की असारता अपने आप अनुभव मे आ जायगी। भोगो को भोगने के पश्चात् एक विचित्र प्रकार की घृणा और अरुचि उत्पन्न होती है, जिससे उनकी सारहीनता प्रत्यक्ष हो जाती है। जो व्यक्ति ससार के भोगो मे अधिक आसक्त रहता है, उसका सब प्रकार से विनाश अवश्यम्भावी है। इन्द्रिय-जय के समान ससार मे कोई भी सुखदायक नही है। विषयो को छोड़ने के लिए तथा ब्रह्मचर्य के पालन के लिए निम्न दस प्रकार के अब्रह्म का त्यागना आवश्यक है। ये आत्मा मे हिंसा भाव उत्पन्न करते हैं, पर-द्रव्यो की ओर लगाते है।

१—विषयाभिलाषा—शृगार रस का श्रवण, मनन करना, सुन्दर गीत सुनना, सुगधित द्रव्यो के सूघने की अभिलाषा करना, रूपवती स्त्री तथा पुरुषो को देखने की लालसा मन मे करना, विषय-अभिलाषा नामक अब्रह्म है। इससे आत्मा मे अत्यन्त आकुलता उत्पन्न होती है। कोई भी व्यक्ति इस अभिलाषा के कारण हेयोपादेय के विवेक से शून्य हो जाता है। उसका विषयी मन विषयो मे घूमता रहता है, अपने और पर के विचारने के लिए उसे अवसर नही मिलता।

२—विकारी बनना—विषयाभिलाषा के उत्पन्न होने पर विकार-युक्त होना तथा उन विकारो को शात करने का प्रयत्न करना। इस दूसरी अवस्था मे विषयेच्छा के तृप्त करने का प्रयत्न किया जाता है।

३—वृष्याहार सेवन – समस्त इन्द्रियों को जीतने का एकमात्र साधन रसनेन्द्रिय को वश में करना है। यदि व्यक्ति अपना आहार-विहार शुद्ध कर ले तो फिर इन्द्रियों को जीतना कुछ भी कठिन नही। भोजन का प्रभाव मन पर अवश्य पडता है। जैसा अनाज मनुष्य खाता है, वैसा ही उसका मन हो जाता है। शुद्ध और सात्विक भोजन करने वाले के मन मे विकार कभी उत्पन्न नही हो सकता। गरिष्ठ और पौष्टिक भोजन जो विलम्ब से पचता है, विकार उत्पन्न करने मे बहुत सहायक होता है। वास्तविक बात यह है कि भोजन का ध्येय शरीर को कायम रखना है। जिससे इस शरीर द्वारा धर्म का अर्जन होता रहे। ब्रह्मचारी की शारीरिक शक्ति का क्षय नही होता, उसका शरीर ऐसा बना रहता है, जिससे अल्प और सादा भोजन से ही शरीर की आवश्यकता पूरी हो जाती है। अत. दुष्पक्व भोजनो तथा रसो की लोलुपता का त्याग करना आवश्यक है।

४—संसक्त द्रव्य सेवन—भोगी पुरुषो द्वारा उपयोग मे लाये हुए वस्त्र, शय्या, आसन आदि पदार्थों का त्याग करना ससक्त द्रव्य सेवन त्याग है। इन पदार्थों से मन मे विकार उत्पन्न होने की सम्भावना रहती है तथा इनके सम्बन्ध मे मन विषयो की ओर जा सकता है।

५—इद्रियावलोकन—रागभाव से अपनी तथा पर की इद्रियो को देखने का त्याग करना भी आवश्यक है।

६—सत्कार—रागी व्यक्तियो का सत्कार करना तथा उनके सम्पर्क मे रहना महान् अनर्थ की जड़ है। इनके सत्कार से मन मे राग-बुद्धि उत्पन्न हुए बिना नही रह सकती है। इनका प्रभाव मन पर अवश्य पडता है, अत' इनसे सदा दूर रहना चाहिए।

७—शारीरिक संस्कार—शरीर को सजाने का त्याग करना आवश्यक है। शरीर के सजाने से राग-भाव उत्पन्न हुए विना नही रह सकता है। रागभाव ही विकारो की उत्पत्ति करता है, जिससे यह आत्मा अपने स्वरूप को भूल जाता है।

८—अतीत स्मरण—भोगे हुए भोगो का स्मरण नही करना। भोगो के स्मरण से मन मे विकार उत्पन्न होते है।

९—अनागताभिलाषा—आगामी काल के लिए भोगो की अभिलाषा नही करना तथा मन मे आगे के भोगो के लिए विचार न करना।

१०—इष्ट विषय सेवन—अनियंत्रित आचरण का त्याग करना।

विषय का त्याग तरुण अवस्था में करना योग्य है

मोलेयु मुद्दमोगं बेडंगेसेये पेण्णंतिर्दळितिर्दळें।
दोलवि भाविसि काण्बुदे नरकमब्धप्रांतमग्नाद्रियोळ्॥
सलिलं तन्नुडे मुट्टितोर्पनदे पल्यंकासनं स्फाटिको-
ज्ज्वनेंदागळेनिम्म कंदोडेसुखं रत्नाकराधीश्वरा!॥६६॥

हे रत्नाकराधीश्वर!

स्तन, चमकते हुए सुन्दर कमल के समान मुख का सदा स्मरण करने से, अमुक स्त्री ऐसी थी, वैसी थी, इत्यादि कामुकतापूर्ण बातें करने से निश्चय ही नरक होगा। इसके विपरीत, "पद्मासनवाला, स्फटिकमणि के समान चमकने वाला स्वामी समुद्र के निकट डूबे हुए पर्वत में रहकर अपनी कमर पर हाथ रख कर पानी की ओर सकेत करता है," ऐसा ध्यान करने वाला सुखी होगा।

यहाँ वतलाया है कि विषय-सुख का त्याग किये विना आत्म सिद्धि प्राप्त नही हो सकती। कहा भी है कि—

अभुक्त्वापि परित्यागात् स्वोच्छिष्टं विश्वमासितम्।
येन चित्रं नमस्तस्मै कौमारब्रह्मचारिणे॥

जिनका विवाह होना निश्चित हो गया, तो भी विवाह न करके जो वाल्यावस्था से ही ब्रह्मचारी वन गये उनके लिए हमारा नमस्कार है। केवल ब्रह्मचारी ही नही वने किन्तु वशपरपरागत लक्ष्मी तथा राज्य

संपदा को पाकर भी उसे बिना भोगे जिन्होने छोड दिया और दीक्षा धारण कर ली। किसी चीज को भोगने का अधिकार पाकर या भोगने के लिए सामने आ जाने पर यद्यपि न भोग कर ही छोड़ दिया तो भी वह चीज उच्छिष्ट या जूठन मान ली जाती है। क्योकि, कोई चीज चाहे भोग ले पर बाकी रह जाय और न भोग कर ही छोड दिया जाय पर उसे भोगने से बाकी रही हुई तो कहना ही पड़ेगा। बस, बाकी रहे हुए का नाम उच्छिष्ट है। उत् नाम बाकी, शिष्ट नाम छूट गया। इन्ही दोनों शब्दो के मिलाने से उच्छिष्ट बन जाता है। इसीलिए जो चीज न भोग कर भी छोड़ दी गई हो वह उच्छिष्ट हो गई समझना चाहिए। जिसने उसे पाकर छोड़ दिया, उसके लिए वह उपभुक्त भी हो ही चुकी। इसलिए उन ब्रह्मचारियो ने चाहे जग की विभूति को न भोग कर ही छोड़ दिया, पर वह विभूति, वह जग उनका उपभुक्त हो चुका। जग की रीति की तरफ देखें तो जो भोग लिया हो उसे उपभुक्त कहते हैं और जो भोगते-भोगते बाकी रह जाय उसे उच्छिष्ट कहते है। पर उन्होने भोगा ही नही तो भी जग भर उपभुक्त हो गया और छूट गया इसलिए उच्छिष्ट भी हो गया, यह आश्चर्य की सी बात है। और सच्चा आश्चर्य यह है कि बिना भोगे हुए पाई हुई सम्पदा को तृणवत् समझ कर उन्होने त्याग कैसे किया? भोग सम्पदा न मिलते हुए भी जीव जहाँ कि शतशः मनोराज्य बनाता रहता है और विषयो से लालसा छूट नही पाती, यों करूँगा तब ये सुख मिलेंगे, ऐसा उद्योग करूंगा तब ऐसी धन-दौलत मिलेगी; ऐसी मानसिक भावना सदा ही इस जीव के अन्तरंग में लहलहाती रहती है, और चाहे मिले रत्ती भर भी नही, वहाँ पाकर भी अतुल सम्पत्ति को छोड़ जाना और आत्मा के समाधि सुख मे जाकर रत होना कितने आश्चर्य की बात है? उनके इस त्याग पर से यही कहना पड़ता है कि वे परम विरक्त हो चुके थे। इसीलिए उन्होने उस सारी सपदा को तिनके की तरह तुच्छ मान कर छोड दिया और असली आत्म-सुख के रसिया बने। ऐसे सर्वोत्कृष्ट साधुओं को सिर झुकाये बिना

नही रहा जाता। उनको बार-बार हमारा नमस्कार हो।

युवावस्था के मद से मतवाले होकर जो विषय भोगो मे सुख मानते है, कामुकतापूर्ण बातें कह कर जो अपना मन बहलाते है, विकथाएँ करने मे जिन्हे आनन्द आता है, सयम से जो बिल्कुल दूर है ऐसे प्राणियो को जीवन भर दु ख उठाना पडता है तथा मरने के पश्चात् नरक मिलता है। जिनका ध्यान अखण्ड आत्मा की ओर रहता है, ससार के विषय उनके ऊपर अपना प्रभाव नही डालते है। इस दुर्लभ मनुष्य शरीर को प्राप्त कर कल्याण-मार्ग मे न लगाना बडी भारी मूर्खता है। आत्मा में अनन्त वीर्य-शक्ति वर्तमान है, इसका प्रादुर्भाव पुरुषार्थ के द्वारा किया जा सकता है। यह शक्ति सर्वथा आच्छादित नही है, केवल सामान्य हल्का पर्दा पडा है, इसे हटाने मे कोई कठिनाई नही। यह आत्मा स्वभाव से ब्रह्मस्वरूप है, राग भाव इसका अपना गुण नही है, यह पर निमित्त से उत्पन्न हुआ है। श्री आचार्य कुन्दकुन्द ने समयसार मे जो शुद्धात्मा का सामान्य और विशेष रूप से वर्णन किया है, उसका निरन्तर चिन्तन और स्मरण करने से सासारिक भोग-लालसा दूर हुए बिना नही रह सकती। आचार्य कहते हैं—

उदयविवागो विविहो कम्माणं वण्णिओ जिणवरेंहि।
ण दु ते मज्झ सहावा जाणगभावो दु अहमिक्को॥
पुग्गलकम्मं रागो तस्स विवागोदओ हवदि एसो।
ण दु एस मज्झभावो जाणगभावो हु अहमिक्को॥

जो कर्म के उदय के रस से उत्पन्न हुए अनेक प्रकार के भाव हैं, वे आत्मा के स्वभाव नही है, आत्मा प्रत्यक्ष अनुभवगोचर टंकोत्कीर्ण एक ज्ञायक स्वभाव है। इस प्रकार समस्त कर्मजन्य भावो को पर समझना तथा अपने को ज्ञाता, दृष्टा जानना सामान्य रूप से आत्मा की प्रतीति करना है। इस प्रकार जो अपना अनुभव करता है उसकी राग-

रूप परिणति कभी होती नही है, उसकी दृष्टि बाह्य पदार्थों की ओर जाती ही नही है।

निश्चय से राग पुद्गल कर्म है, इस पुद्गल कर्म के उदय के विपाक से उत्पन्न प्रत्यक्ष अनुभवगोचर राग-रूप भाव यह आत्मा का स्वभाव नही है, आत्मा टंकोत्कीर्ण ज्ञायक स्वभाव रूप है। यही ज्ञायक स्वभाव मेरा है, ब्रह्मचर्य मेरा धर्म है, विषयो की प्रवृत्ति से मेरा कोई सम्बन्ध नही। यह प्रवृत्ति पर से उत्पन्न है, अतः पर का ही धर्म है। आत्मा सामान्य और विशेष दोनो ही दृष्टियो से पर पदार्थों से भिन्न टंकोत्कीर्ण ज्ञायक स्वभाव रूप है। जो इस आत्मा को अच्छी तरह जान लेता है, वह पर भाव को त्याग कर अपने स्वभाव मे प्रवृत्त हो जाता है। कर्म के उदय से उत्पन्न राग भाव, जिसके कारण इस जीव की विषयों में प्रवृत्ति होती है, त्याज्य है।

आचार्यो ने सम्यग्दर्शन को इसलिए आवश्यक बताया है कि इसके बिना जीव अपने स्वरूप को नही पहचानता है। संसार के धन, सम्पत्ति, स्त्री, पुत्र आदि पदार्थों से सम्यग्दृष्टि को मोह नही रहता है, परद्रव्यों से मोह भाव उसे उत्पन्न नही होता। यद्यपि चारित्रमोहनीय का उदय उसके वर्तमान है, जिससे परिणामो मे कभी-कभी मलिनता उत्पन्न हो जाती है, पर यह स्थिर नही रहती। यह दूसरे क्षण अपने आत्म-स्वरूप मे अवस्थित हो जाता है तथा शुद्धात्मा का अनुभव करने लगता है। सम्यग्दृष्टि का सामान्य ज्ञान भी विवेक के रूप मे परिणत हो जाता है, जिससे विषय कषायजन्य भावो को वह पर समझता है। उसकी दृष्टि मे स्त्री मे रागजन्य आकर्षण नही रहता, असयम-इन्द्रियो की विषयो मे उद्यम-प्रवृत्ति त्याज्य होती है। कामिनी का मोहक रूप उसकी दृष्टि से ओझल हो जाता है, केवल उसका ससार मे भ्रमण कराने वाला वीभत्स रूप ही दिखलायी पड़ता है। यह विषय-सुखो को त्याज्य समझ कर आनन्द का अनुभव करता है।

अनुभव भी बतलाता है कि जब तक मनुष्य की दृष्टि मे राग-भाव

रहेगा, विषयो में प्रवृत्ति अवश्य होगी। विषय-प्रवृत्ति संसारी जीव का सहज विकार है, इसे दूर करने के लिए राग-प्रवृत्ति का छोड़ना आवश्यक है। मनुष्य रागवश ही तो पदार्थो मे इष्टानिष्ट की कल्पना करता है, राग के दूर होते ही संसार के पदार्थो में ममत्व बुद्धि दूर हो जाती है।

मोह की महिमा

पेररं पेळ्दोडे नोवराननगे पेळ्वें कामिनीसूत्र दो-
ज्जरसेय्यं लतेयेंदु मांसकुचमं हेमाब्जमेंदेदु ने-॥
त्तरनुंडा तुटिय सुधारुचियेनुत्तां बिळ्दुदुं सालदन्यर-
नोय्दे कवियो ? बलं कपियोनां ? रत्नाकराधीश्वरा !

॥ ६७ ॥

हे रत्नाकराधीश्वर !

यदि दूसरे को उपदेश दिया जाय तो सम्भव है वह दुःख मान ले। इसलिए मैं अपने लिए कहता हूँ, कामुक स्त्रियो के मल-मूत्र के प्रवाह से मिले हुए उनके शरीर को लता से, मांस से भरे हुए स्तन को सोने के कलश से तथा खून से भरे हुए ओष्ठो को अमृत-तुल्य मिठास से उपमा देते हुए मैं वासना मे पड़ा रहा। फिर भी जब इच्छा की पूर्ति न हुई तो दूसरों को भी घसीट ले गया। निश्चय ही मेरा यह पशुवत् व्यवहार है।

इस संसार में मोह की महिमा महान है, मोह के कारण जीव पर पदार्थो को अपना समझता है। जब शरीर भी इस जीव का अपना नहीं है, पर है तब अन्य पदार्थो की बात ही क्या ? अन्य पदार्थ धन-धान्य स्त्री, पुत्र, कुटुम्ब आदि तो इससे बिल्कुल भिन्न है। मोह के प्रबल उदय के कारण ही इस जीव को स्त्री के अंगोपागो मे सुन्दरता एवं सुख प्रतीत होता है। यदि स्त्री के शरीर को आच्छादित करने वाले चमडे के पर्दे को हटा दिया जाय, तो स्त्री का शरीरअत्यन्त घृणित प्रतीत होगा, इसमे

थोड़ा भी आकर्षण नही दिखलायी पड़ेगा। वास्तविक रूप के दर्शन होने पर एक क्षण भी वहाँ ठहरने का मन नही होगा। मोह के प्रबल वेग के कारण ही मनुष्य के मन मे विकार और वासनाओ की जाग्रति होती है, इसी से वह हाड-मास से निर्मित घृणित स्त्री के शरीर से स्नेह करता है।

आचार्यो ने मनुष्य की प्रवृत्तियो का विश्लेषण करते हुए बताया है कि प्रधानत मनुष्य मे दो प्रकार की प्रवृत्तियाँ पायी जाती है—स्वाभाविक और वैभाविक। स्वाभाविक प्रवृत्तियो मे प्रत्येक व्यक्ति के भीतर ज्ञान की मात्रा रहती है तथा वह व्रत, समिति, अनुप्रेक्षा, परीषहजय और चारित्र की ओर बढता है। अनात्मा की ओर ले जाने वाले क्रोध, मान, माया और लोभ रूप कषाय तथा प्रमाद, जिनके कारण इस जीव की वैभाविक प्रवृत्ति होती है, छोड देता है। शरीर को केवल धर्म-साधन मे सहायक समझ कर उसको पुष्ट करने वाली प्रवृत्तियो से वह दूर हट जाता है। वह ससार के यथार्थ स्वरूप को सोचता है कि इसमे कितना दुख है, कोई किसी का नही। जीव अकेला ही अपने पुण्य-पाप के उदय से उत्पन्न सुख दुख को भोगने वाला है। इसके कर्मो मे किसी का साझा नही है, और न कोई किसी का सहायक ही है। भ्रमवश भले ही कोई किसी को अपना सहायक समझता रहे, पर वास्तव मे इस जीव को समय आने पर, अन्य पदार्थों की तो बात ही क्या, यह शरीर भी सहायता नही कर सकता है। जब मृत्यु आती है तो कोई नही बचा सकता है। शारीरिक और मानसिक विपत्तियो के आने पर इस जीव को कोई भी सहायता नही पहुँचा सकता है। इस प्रकार ससार की सहायता और असारता का चिन्तन कर स्वाभाविक प्रवृत्ति वाली आत्मा और शरीर के भिन्नत्व का अनुभव करता है, सासारिक कष्टो को अपनी आत्मा से भिन्न समझ कर आत्म-स्वरूप मे स्थित होता है। यह रत्नत्रय को प्राप्त कर लेता है, इसकी प्रत्येक क्रिया रत्नत्रय को पुष्ट करने वाली होती है।

वैभाविक प्रवृत्ति वाला मनुष्य शरीर को ही आत्मा समझ लेता है, जिससे उसका प्रत्येक व्यवहार शरीराश्रित होने के कारण आत्मा के

स्वभाव से विपरीत पडता है। जो व्यक्ति शरीर को अपना समझता है, उसे प्रत्येक क्षण दु ख का अनुभव होता है। दुनिया के भौतिक पदार्थों का सम्वन्ध शरीर के साथ है, आत्मा के साथ नही। वासना और कषायें उसके ही मन को आलोडित अधिक करती है, जो शरीर को ही आत्मा मानते हैं। खाना-पीना और आनन्द से रहना, यही जीवन का लक्ष्य नही, इतना ध्येय मानना तो वहुत ही निकृष्ट है। अत प्रत्येक व्यक्ति को सयमी होना चाहिए। इन्द्रियो को जीतना तथा प्रत्येक कार्य मे अहिंसक बनना यह मानवता के लिए आवश्यक गुण है। ऐश्वर्य पाकर मदोन्मत्त हो जाना तथा स्वार्थ के सकुचित दायरे मे बँध कर अपने को ही देखना, दूसरों को तुच्छ समझना, धर्म-कर्म का कुछ भी ख्याल नही करना, मानवता नही पशुता है। कुशील की प्रवृत्ति पशु-प्रवृत्ति है, मनुष्य का स्वाभाविक गुश शील है अत उसे शील का सर्वदा आचरण करना चाहिए। शील ही भीतर की छिपी हुई शक्तियो का विकास करता है, यही मनुष्य को देवता बनाता है। अत इस गुण की अवहेलना करना नितान्त अनुचित है।

जो व्यक्ति शील व्रत का पालन करते है, उनकी पाशविक प्रवृत्तियाँ छूट जाती है तथा वे संसार, शरीर और आत्मा की वास्तविक स्थिति समझ जाते है। सम्यग्ज्ञान का उदय उनकी आत्मा मे हो जाता है। यद्यपि सम्यग्दर्शन के उत्पन्न हो जाने से ही आत्मिक विश्वास उन्हे हो जाता है, फिर भी कदाचित् उत्पन्न होने वाला क्षणिक मोह जब उन्हे विचलित करता है तब वे सद्विवेक द्वारा अपने मन को स्थिर करते हैं। ब्रह्मचर्य या शील एक ऐसा ही गुण है जिससे प्रत्येक व्यक्ति अपने को समझ सकता है तथा अपना उद्धार कर सकता है।

पुण्य पुरुषों की कथा

गुरुमातापितरं पतिव्रतेयरं सम्यक्त्वसंपन्नरं।
पिरिदुं वण्णिसि पेळ्गे तीर्थंककथाभ्रृंगारमं पेळ्गेमेण्॥
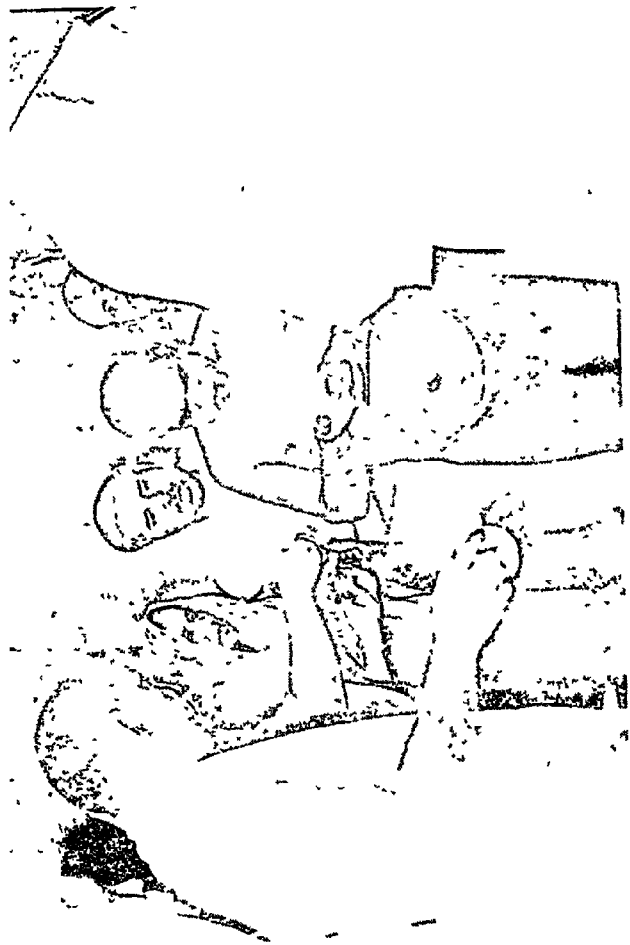
धर्मनिष्ठ दानवीर साहू शान्ति प्रसाद जी आचार्य देशभूषण जी महाराज को आहार देते हुए।

दुरितस्त्रीयर नात्मबाह्यनरदें पेळ्वर्दिनं सज्जादं-
तिरेयंधंगेतमि स्तेयं नुडिवरें ? रत्नाकराधीश्वरा! ॥६८॥

हे रत्नाकराधीश्वर !

गुरुजन, माता-पिता, पतिव्रता और सम्यग्दृष्टि को ही अधिक-से-अधिक उपमा देकर विशेष रूप से वर्णन करना उचित है। तीर्थंकर की कथा मे आने वाले सत्शृगार का भी वर्णन किया जा सकता है। विषयी और आत्म-तत्त्व नही जानने वालो का वर्णन करके क्या लाभ होगा ? स्वर्ग के समान यदि उज्ज्वल दिन हो तो अन्धे उसे रात ही कहते हैं। अज्ञानियो को उचित है कि वे पुण्य पुरुषो की कथा को छोड़ कर पापियो की कथा कभी न कहे।

मनुष्य की भावनाओ के निर्माण मे वचनो का बडा हाथ रहता है। कोई भी व्यक्ति जिस प्रकार की बातचीत करता है, उसके मन मे भी वैसी ही पवित्र या अपवित्र भावनाएँ उत्पन्न होती रहती हैं। गन्दे विचार वाले व्यक्ति के मन मे पवित्र भावनाओ का उत्पन्न होना सम्भव नही. अतएव प्रत्येक व्यक्ति को सदा गुणवान महान पुरुषो के चरित्रो का ही वर्णन करना आवश्यक है। त्रेसठ शलाका पुरुषो के चरित्र का वर्णन करने से आत्मा मे महान गुण उत्पन्न होते हैं। पुण्य पुरुषो के चरित्र का मनन, चिन्तन और अध्ययन करने से प्रत्येक व्यक्ति को अपने उद्धार मे बडी भारी सहायता मिलती है, क्योकि सामान्य व्यक्ति की प्रवृत्ति उदाहरण सामने रखने पर ही सन्मार्ग की ओर हो सकती है। शास्त्रकारो ने विकथाओ—स्त्री कथा, राजकथा, भोजन कथा और राष्ट्रकथा की चर्चा का इसलिए निषेध किया है कि इनकी चर्चा कुमार्ग की प्रेरणा देती है। पुण्य पुरुषो के जीवन-चरित्र से व्यक्ति को जीवन-निर्माण मे बडी भारी सहायता मिलती है। इनके जीवन मे कैसी-कैसी कठिनाइयाँ उपस्थित हुईं तथा अनेक संकटों के आने पर भी ये धार्मिक मार्ग से विचलित नहीं

हुए, जीवन के अन्तिम क्षण तक भी अपने कर्त्तव्य-कार्य मे रत रहे, उन्हे सासारिक प्रलोभन अपनी ओर आकृष्ट नही कर सके, आदि बातें महान पुरुषो के जीवन से सीखी जा सकती है। इनका जीवन अनुकरणीय होता है।

तीर्थंकर, चक्रवर्ती, नारायण, प्रतिनारायण आदि पुण्यात्माओ के चरित्र-वर्णन के प्रसग मे यदि शृंगार का वर्णन भी आ जाता है तो भी वह शृगार व्यक्ति को त्याग की ओर ही ले जाने वाला होता है, क्योंकि महापुरुषो का अपने जीवन मे शृगार की ओर आकर्षण ही नही रहता है, उनका शृगार भी विराग का प्रतिरूप रहता है। वह हृदय मे विराग उत्पन्न करता है। शृगार केवल वस्तु के स्वरूप का निरूपण करने के लिए निमित्तमात्र से आता है तथा इस शृंगार द्वारा भी भोगों का वीभत्स रूप ही सामने लाया जाता है। महापुरुषो ने अपने अनुभव द्वारा इस वात को अच्छी तरह समझ लिया था कि मानव-जीवन की सार्थकता ससार के मनमोहक पदार्थों के आकर्षण को त्यागने मे ही है। इन पदार्थों का आत्मा से कोई सम्वन्ध नही है, आत्मा इनसे बिल्कुल भिन्न स्वतन्त्र पदार्थ है। इसका उत्थान करना तथा इसकी आच्छादित शक्तियो का उद्घाटन करना ही इस मानव-जीवन का ध्येय है। अनादि-काल से ससार मे यह प्राणी अज्ञान और मोह के कारण भ्रमण कर रहा है।

इद्रिय-भोग असयमी जीव को प्रिय मालूम होते हैं, पर सयमी व्यक्ति को उनमे रस नही मिलता, आनन्द नही आता, वे इनको देखकर उदासीन वृत्ति धारण कर लेते हैं। उनकी अन्तरात्मा सयम के महत्त्व को अच्छी तरह जान लेती है, अत इद्रियो पर वह नियत्रण करते है। महापुरुषो के जीवन की सबसे बड़ी महत्ता जो उनको आगे बढाती है, वह है—विवेक और इद्रिय नियत्रण की। आत्मिक दृढ विश्वास-सम्यग्दर्शन तो पूर्ण रूप से इनमे वर्तमान रहता है, जिससे इन्हे माया और मिथ्यात्व भुलावा नही दे सकते है। इन दोनों के कारण ही इंद्रियो के विषय रंगीन

और प्रिय लगते है, जिससे मनुष्य राग-रंग, शृंगार, गीत-नृत्य, आमोद-प्रमोद आदि मे बराबर भाग लेता रहता है। पर मिथ्यात्व और माया के निकल जाने पर कषायों का उपशम हो जाता है, असद्वृत्तियाँ सद्-वृत्तियो के रूप मे परिणत हो जाती है, जिससे प्रत्येक व्यक्ति को अपना पथ सूझने लगता है। पुण्य पुरुषो की कथा मे पुण्य कार्यो का वर्णन ऐसा रहता है, जिसमे पापमय कार्यो से मनुष्य को विरक्ति अवश्य हो जाती है। तीर्थकर या मोक्षगामी पुरुषो के चरित्र से कर्मशत्रुओ के साथ लड़ने की प्रेरणा प्राप्त होती है तथा पुण्य और पाप दोनो ही को पुद्गल का विपाक समझ कर स्वात्मानुभव करने की शक्ति जाग्रत होती है। अतः पुण्यात्माओं के चरित्र को कहना और सुनना श्रेयस्कर है।

पुण्यात्माओं का चरित्र पढने से पुण्य का बन्ध होता है और अशुभ कर्म टल जाता है। महावीर भगवान् जैसे वीर पुरुषों को जन्म देने वाली उन स्त्रियों की कथा बन्ध करने वाली नही है। जैसे कहा भी है कि—

साध्वी शीलवती दया वसुमती दाक्षिण्य लज्जावती।
तन्वी पापपराङ्मुखी स्मितमति मुग्धा प्रियालापिनी॥
देवे सद्गुरुबंधुसज्जनरता यस्यास्ति भार्या गृहे।
तस्यार्थागमकाममोक्षफलदाः कुर्वन्ति पुण्याप्रिया॥

हे प्राणियो! भगवान महावीर जैसे सुयोग्य पुत्र को जन्म देने वाली माता के समान स्त्री रत्न का निर्माण करना भी परमावश्यक है, क्योंकि वेदो तथा शास्त्रो मे भी ऐसे स्त्री-रत्न की ही प्रशसा की गई है, अन्य की नही।

स्त्रियो के अन्दर स्वाभाविक शील, दया, लक्ष्मी के समान घर को सुशोभित करने वाली, लज्जावती, कोमलागी यानी दुबली-पतली, पाप से डरने वाली, प्रसन्न मुखी, मधुर भाषिणी देवी, गुरु शास्त्र माता-पिता

एव धर्मात्मा सत्पुरुषो की सेवा मे रत रहने वाली परोपकारी, सभी के साथ प्रेम प्रकट करने वाली, अनेक गुणो से सुशोभित स्त्रियो को ही रत्न की उपमा दी गई है। ऐसी स्त्री-रत्न ही श्रेष्ठ मानव बनने योग्य पुत्र-रत्न को जन्म देने वाली सुयोग्य माता कहलाती है। पर अयोग्य हजारो पुत्रो को जन्म देकर आजकल की मातायें यथार्थ माता नही हो सकती। जैसे कि द्रोपदी, सीता, अनन्तमती, प्रभावती, रेवती रानी, अहिल्या, राजमती आदि और तीर्थंकरो को जन्म देने वाली तीर्थंकरों की माता, महान बलशाली भीम, अर्जुन, नकुल, सहदेव जैसे महान पुरुषो को जन्म देने वाली मातायें ऐसी पुण्यशाली माताओ के इतिहास का कथन करने से क्या पाप का बन्ध हो सकता है अर्थात् नही हो सकता है। इसी प्रकार और भी महापुरुषो मे त्रेसठ शलाका पुरुष हो गये है, उनकी कथा सुनने से अशुभ कर्मो का नाश हो करके पुण्य बन्ध होता है। और संसार के पाप मल को दूर करने वाले वैराग्य की प्राप्ति होती है, ससार से अरुचि होती है, आत्मा जाग्रत होती है। इसलिए हमेशा ऐसी महान स्त्रियो की कथा सुननी चाहिए। पहले जमाने मे एक पुत्र को जन्म देकर सन्तोप रहता था क्योकि वह एक पुत्र भी सिंह के समान होता था। कहा भी है कि—

एकेनापि सुपुत्रेण सिंही स्वपिति निर्भयम् ।
सहैव दशभिः पुत्रैर्भारं वहति गर्दभी ।।

एक ही सुयोग्य पुत्र पैदा होने से जगल मे सिहनी निर्भय होकर सोती है, परन्तु गधी दस कुपुत्रो को जन्म देने पर भी उनके साथ सदा बोझ ही ढोती रहती है।

किन्तु आजकल की हमारी माताओ और बहिनों के अन्दर कुसंस्कारों का प्रभाव है, अत योग्य पुत्र और पुत्रियो को जन्म देने वाली माताओं का इस भारत मे अभाव सा हो गया है। हमारी मातायें पुत्र और पुत्रियो को जन्म देती हैं और बड़ी खुशियाँ मनाती है पर प्रारम्भ में

जितना ही हर्ष मानती है, उतना ही आगे चल कर पुत्र या पुत्रियो के कारण उनको विशेष चिन्ता का भार उठाना पड़ता है। इसका मूल कारण केवल कुसस्कार ही है।

प्राचीन काल की हमारी मातायें सुसस्कार, शील, लज्जा आदि गुणो से युक्त होती थी। उनके हृदय मे गुणी गुरुओ के सस्कार रहते थे। ऐसी माताओ की हृदय-भूमि शुद्ध, सुसंस्कृत होती थी। अतः वे सिंहनी के समान ही एक या दो पुत्र-पुत्रियो को जन्म देकर हमेशा संसार मे सुख से अपने धर्म-ध्यान मे लीन रहकर स्व पर के कल्याण मे लगी रहती थी और दोनो लोक की सुख-सामग्री को प्राप्त कर लेती थी।

यदि बच्चे की माता अज्ञानी, कुशील, अधर्मी, मूर्ख होगी तो उसकी क्रियाओ का बहुत बुरा प्रभाव बालक पर अवश्य पड़ेगा। यद्यपि मनुष्य के पूर्वोपार्जित कर्म का उदय जीव को इस जन्म में फल देता है। अर्थात् पूर्व जन्म मे जैसा शुभाशुभ कर्म सचय किया है वैसा ही फल भोगना पड़ता है, तथा बाह्य निमित्त कारण भी सहायक है। बाह्य सस्कार का भी प्रभाव पड़ता है। माता-पिता का जैसा आचरण होगा वैसे ही अच्छे या बुरे सस्कार बच्चो पर पड़ेंगे।

कुछ विद्वानो का तो यहाँ तक कथन है कि गर्भ मे ही माता के संस्कार बालक पर पड़ जाते हैं। अभिमन्यु की कथा इस सम्बन्ध मे लोक मे प्रसिद्ध ही है। जब अभिमन्यु गर्भ मे था, तब सुभद्रा को अर्जुन वीरता की बातें सुनाया करते थे। एक दिन अर्जुन चक्रव्यूह मे घुसने की विधि बता रहे थे। सुभद्रा गौर से सुनती रही। किन्तु जब चक्रव्यूह से निकलने की विधि सुनाने लगे तो सुभद्रा को नीद आ गई और सुन नही पाई। इसका परिणाम यह हुआ कि गर्भस्थ अभिमन्यु बालक पर उसके सस्कार पड़ गये और जब कौरवो ने चक्रव्यूह की रचना की, अर्जुन वहाँ थे नही, पाण्डवों मे से चक्रव्यूह में घुसने की विधि और कोई जानता नही था, तब अभिमन्यु ने इसका बीड़ा उठाया और बोला—मैं व्यूह मे

घुसना तो जानता हूँ किन्तु उसमे से निकलना नही आता। और वास्तव मे वह अकेला ही घुस गया किन्तु निकल नही सका। यह था गर्भ के सस्कारो का प्रभाव।

इसी प्रकार दक्षिण मे मन्दालसा नामक एक रानी थी। वह बड़ी धार्मिक थी। उसकी आकाक्षा यह रहती थी कि मेरे पुत्र मुनि बनकर आत्म-कल्याण करे। अत जब पुत्र पैदा होता था तो वह सुलाने के लिए लोरियाँ सुनाया करती थी—'शुद्धोऽसि बुद्धोऽसि निरजनोऽसि संसार माया परिवर्जितोऽसि' इन लोरियो का प्रभाव बालक पर यह पड़ता था कि बडा होने पर वह मुनि बनकर जगल को चला जाता था। इस प्रकार उसके छः पुत्र मुनि बन गये।

वास्तव मे माता स्वय शिक्षित और सस्कारशील हो तो वह बच्चो मे सुन्दर सस्कार भर सकती है। आज आवश्यकता इस बात की है कि बालको मे सुसस्कार हो, सुरुचि हो और सुस्वभाव हो। किन्तु यह माताओ द्वारा ही हो सकता है। माताये अनुभव करे कि पुत्र पैदा करके वे अपने मातृत्व का ऋण चुकाती है किन्तु उन पुत्रो मे सुसस्कार देकर अपने परिवार, जाति और देश का ऋण चुकाती है।

आज की प्रमुख समस्या सस्कारो की है। अनाचार, दुराचार-भ्रष्टाचार सभी सस्कारहीनता के परिणाम है, विश्व की अशान्ति के मूल मे यही सस्कारहीनता है। सुसस्कार न होने के कारण ही बर्बरता, शोपण, अत्याचार और एकाधिपत्य की भावना पनपती है, उससे विश्व युद्ध भड़कता है। यदि व्यक्तियो में अच्छे सस्कार जन्म से ही भरे जायँ तो ये समस्य ये आसानी से सुलझ सकती है और सस्कार भरने का काम केवल माताये ही कर सकती है।

सुकविता कल्पवृक्ष के समान है

कविता शक्तिये कल्पवल्लियदना सद्धर्ममेदेंब मे—
रुविननोळ्वत्ति मनोविशुद्धि बलवीर्यं बुद्धिसाफल्यमा- ॥

कवियु' सवरु मुण्बरा फल मनित्तल्माण्दु मिथ्यात्वमा–
रवदोळ्वत्ति बळल्वरेयकटा ! रत्नाकराधीश्वरा ॥६६॥

हे रत्नाकराधीश्वर !

कविता करने की शक्ति कल्पलता के समान है। जो कवि कविता रूपी कल्पलता को सद्धर्म रूपी मेरु पर्वत की ओर प्रेरित करके मन की निर्मलता, शारीरिक शक्ति, बौद्धिक शक्ति तथा बुद्धि सम्बन्धी अन्य सफलताओं को प्राप्त कर लेता है, उसकी लोक प्रसिद्धि हो जाती है। ऐसा न कर जो कवि अपनी शक्ति को मिथ्या जगत तथा तत् सम्बन्धी वस्तुओ के वर्णन में लगाते हैं वे दु ख को ही प्राप्त होते है।

कवि ने ऊपर के श्लोक मे विवेचन किया है कि सुकविता कल्पवृक्ष के समान है क्योकि ससार में प्राय' पुण्य उत्पन्न करने वाले महान पुण्य पुरुषो की जितनी ही कविता है ये सभी पाप को नाश करने वाली हैं। जितने महान पुरुष तीर्थंकर आदि हो गये है उनकी स्तुति करने से अच्छे अच्छे छन्दो में रचना करके गाने में मन की निर्मलता होती है। और सुनने वाले के मन मे निर्मलता आती है। और इससे कर्म की निर्जरा होती है। देखो रावण जिस समय अपनी वहन सूर्पणखा की शादी करके लौट रहा था, उस समय आते हुए कैलाश पर्वत पर विमान आ कर रुक गया तो रावण ने विचार किया कि यहाँ विमान क्यों रुका। तव नीचे उतरकर देखता है कि बाली मुनि ध्यान कर रहे है। तब उस समय उसके मन मे विचार आया कि इसने मेरी आज्ञा का उल्लघन किया था। इसको दण्ड देना चाहिये। इसलिए इसको कैलाश पर्वत सहित उठा कर समुद्र मे फेंक देना चाहिये। इस तरह से विचार कर जब रावण ने अपनी विद्या के बल से पहाड़ के नीचे घुस कर जोर लगाया और उठाने लगा तब कैलाश पर्वत हिलने लगा। तब बाली मुनि ने धर्म की रक्षा करने के निमित्त, जैन धर्म का महत्व बताने के निमित्त सोचा कि मेरा नुकसान हो जाये तो कोई हर्ज नही परन्तु भरत चक्रवर्ती ने

मन्दिरो का निर्माण कराया है वे नाश हो जायेंगे। ऐसा सोच करके उन्होने अपनी एक अंगुली को दबाया, पर्वत दबने लगा। इससे रावण पर असर हुआ और रावण रोने लगा। तब मन्दोदरी मुनिराज के पास आयी और क्षमा-याचना करने लगी और पति-दान मागने लगी, ऐसा सुनकर मुनिराज ने अपनी अगुली को उठा लिया। रावण ऊपर आया और भक्ति के साथ मुनि को नमस्कार किया और स्तुति की। यह स्तुति अन्त करण भावपूर्वक करने से उसी समय रावण को तीर्थंकर प्रकृति का बन्ध हो गया। ऐसी भगवान की स्तुति करने से कर्म की निर्जरा हो करके पुण्य का बन्ध हो जाता है। किन्तु अश्लील कविता पाप का बन्ध करने वाली है।

ज्ञान की बड़ी भारी महत्ता है। ज्ञान के समान संसार मे कोई भी सुखदायक नही है। ज्ञान के बल से ही मनुष्य निर्वाण पद को प्राप्त करता है। ज्ञान के कारण ही जीव करोड़ो जन्मो से अर्जित कर्मों को क्षण भर मे त्रिगुप्तियो के द्वारा नष्ट कर देता है। तीर्थंकर भगवान की दिव्यध्वनि खिरती है, यही ज्ञान साधारण पुरुषो को श्रुत रूप में मिलता है। यो तो आत्मा मे ही सम्पूर्ण ज्ञान-केवलज्ञान की शक्ति वर्तमान है। कोई भी आत्मा अपनी असत्प्रवृत्तियों का त्याग कर, मन, वचन और काय को वश मे कर एव अपने स्वरूप मे विचरण करने पर घातिया कर्मो के नाश द्वारा केवलज्ञान को प्राप्त कर सकता है। परन्तु जब तक ज्ञानावरणीय कर्म का उदय है, तब तक यह ज्ञान उत्पन्न नहीं होता है। वैसे तो जीव मे मतिज्ञान, श्रुतज्ञान, अवधिज्ञान, मन.पर्यय-ज्ञान, केवलज्ञान तथा कुमतिज्ञान, कुश्रुतज्ञान और कुअवधिज्ञान इन आठ ज्ञानो में से कोई दो, तीन, चार या एक ज्ञान अवश्य रहता है। इन आठ ज्ञानो में पहले के पाँच ज्ञान सम्यक् और उत्तरवर्ती तीन ज्ञान अज्ञान माने जाते हैं। किसी भी जीव मे यदि एक ज्ञान होता है तो केवलज्ञान, दो ज्ञान होते है तो मति और श्रुतज्ञान, तीन ज्ञान होते हैं तो मति, श्रुत और अवधि ज्ञान या मति, श्रुत और मन पर्ययज्ञान एवं

चार होते है तो मति, श्रुत, अवधि और मन-पर्ययज्ञान । पाँच ज्ञान एक जीव में एक साथ नही हो सकते है, क्योंकि केवलज्ञान कर्मों के क्षय से उत्पन्न होता है तथा शेष चार सम्यग्ज्ञान क्षयोपशम से उत्पन्न होते है ।

कर्मों के क्षयोपशम से जो ज्ञान उत्पन्न होते है, उनमे तारतम्यता देखी जाती है । सवका ज्ञान एक समान नही हो सकता है । जिस व्यक्ति का जितना क्षयोपशम होगा, उसका ज्ञान भी उतना ही होगा, इसी कारण विश्व के मानवो के ज्ञान मे हीनाधिकता देखी जाती है । एक व्यक्ति का जितना ज्ञान है, दूसरे का उससे ज्यादा या कम रहता है । अत' कर्मो के क्षयोपशम से उत्पन्न ज्ञान में स्थिरता और एकरूपता नही रहती है । इस समय पचमकाल में केवली कोई हो नही सकता है । मन.पर्यय और अवधिज्ञान के धारियो का मिलना भी दुष्कर है । पूर्ण श्रुतज्ञान भी अव इस पंचमकाल में किसी को नही है, अत ऐसी अवस्था में ज्ञानार्जन का प्रधान साधन उपलब्ध श्रुत—शास्त्र ही है । शास्त्रो के अध्ययन द्वारा ही कोई भी व्यक्ति अपने ज्ञान में कुछ तारतम्यता ला सकता है । लिपिबद्ध शास्त्र गद्य और पद्य दोनो मे मिलते है ।

गद्य से विषय का ज्ञान तो हो जाता है, पर गद्य का ढंग शुष्क ज्ञान निरूपण की प्रणाली है । सरस निरूपण गद्य मे नही होता । यद्यपि कुछ काव्यात्मक गद्य लिखे जाते हैं, पर इनकी सख्या नगण्य है । पद्य का प्रचार भारत मे प्राचीन काल से है । यह कहना अत्युक्ति न होगा कि भारत मे ही नही, ससार के समस्त देशो मे गद्य की अपेक्षा पद्य का प्रचार प्राचीन काल से है । पर सभी प्रकार के पद्य काव्य नही हो सकते हैं, आत्मज्ञान के निरूपण करने की प्रणाली अथवा ज्योतिष, गणित आदि के विषय को प्रतिपादन करने वाली प्रणाली काव्य नही है । काव्य के अन्तर्गत वे ही पद्य आयेगे जो सरस ढग से विषय का निरूपण करते हों । जिनमें विषय को इतने सरल और सक्षिप्त ढग से वतलाया गया हो, जिससे पाठक या श्रोता आनन्दमग्न होकर विषय

को हृदयंगम कर सकें। कविता में ऐसी अद्भुत शक्ति होती है, जिससे वह प्रत्येक व्यक्ति के हृदय पर अपना अमिट प्रभाव बिना डाले नही छोडती। यह किसी भी व्यक्ति का चारित्रिक, आत्मिक और बौद्धिक विकास करने मे पूर्णतया समर्थ रहती है। अत कवियो का आवश्यक कर्त्तव्य है कि वे ऐसे काव्यो का निर्माण करे, जिनसे पाठक और श्रोता मिथ्यात्व, मोह, राग, द्वेष का त्याग कर सकें। वास्तव मे जिन काव्यों के अध्ययन से मुमुक्षु अपने निजानन्द रस में लीन हो सकें, वे आत्मानन्द को समझ सकें, वे ही सच्चे और अच्छे काव्य है।

स्वार्थपूर्ति के लिए जीव अन्य जनो की स्तुति करता है—

वडलं रक्षिसलन्यरं नुतिसिदा कुंडाटमं सर्वरोळ्।
फिडेबीळदाडिद लंपट भ्रमणदा बंडाटमं सर्वरोळ्॥
नुडिदेकुवंवरय्य पुण्यकथेयो ? अध्यात्ममो ? कोळ्गे स-
मेंडुवं पालगडलेंदु कंडरकटा ! रत्नाकराधीश्वरा ॥७०॥

हे रत्नाकराधीश्वर !

स्वार्थपूर्ति के लिए दूसरो से की गई स्तुति तथा मोहवश ज्ञान के नष्ट हो जाने से स्त्रियों में आसक्ति की भ्रान्तिकारक और लज्जापूर्ण बाते साथियो मे कहने और सुनने से लोग क्यो आनन्दित होते है ? क्या यह कोई पुण्यकारक वस्तु है ? क्या इसमें कोई आत्म-तत्व का विचार है ? वर्षा ऋतु मे गन्दी जमीन में मन्द रूप से पडे हुए कीचड के जल को देखकर क्षीरसागर की कल्पना करना क्या भ्रान्ति नही है ?

कवि ने इस श्लोक मे बताया है कि अज्ञानी मानव प्राणी अपने स्वार्थ अर्थात् उदर पोषण के लिए अनेक लोगो की सेवा करता है, स्तुति करता है और उनके द्वारा होने वाले अनेक अपमान सहन कर लेता है। कभी-कभी उनके द्वारा अत्यन्त निन्दित वचन सहन कर लेता है। इतना होते हुए भी श्रीमन्त की स्तुति, राजा की स्तुति करके अपना पेट पालता है। किसी नीतिकार ने कहा भी है कि—

उदरनिमित्तं भवकृतवेषम्
कदरनिमित्तं दुर्जनसंगम् ।
मरणनिमित्तं गुणविपरीतम् ।
ज्ञाननिमित्तं गुरुउपदेशम् ।।

उदर के लिए ससारी प्राणी अनेक लोगो की सेवा सुश्रूपा करता है। जैसे कुत्ते को रोटी डालने पर पूंछ हिला कर उनके चरण चाटता है उसी प्रकार मनुष्य अपने उदर पोषण के लिए अनेक उच्च नीच पुरुषो की सेवा करता है तथा उनके द्वारा होने वाले अपमान को सहन करता है। अनेक प्रकार के वेष धारण करता है। अपने स्वार्थ के लिए दूसरो के प्रति ईर्षा, उनकी बुराई और लड़ाई के काम करता है, करके पाप का बन्ध कर लेता है। जब वह गुणी पुरुषो के विपरीत हो जाता है, तब वह मरण के निमित्त जुटाता है। जब उसको सद् गुरु का समागम *मिलता है तब उसको सच्चा उपदेश और ज्ञान मिलता है। तब* इस जीव को कल्याण का मार्ग मिलता है। अनादिकाल से इस जीव ने अनेक उपदेश सुने और वे ससार के कारण बन गये। यदि इस जीव को ससार से पार होना है तो यह भगवान की भक्ति, भगवान का गुण गान, अच्छी-अच्छी कविताओ की रचना करे इससे पुण्य का लाभ होता है।

अज्ञानी मानव का मन स्वभावत: विषय-भोगो के वार्तालाप मे रस लेता है। वह शृ गार और विषयासक्ति की वातो से अघाता नही है। आत्म तत्व का विचार उसके मन मे आता ही नही, उसका मन उस विषयी कुत्ते के समान हो जाता है जो डण्डे खाने पर भी रोटी लेने के लालच मे घर-घर मारा-मारा फिरता है। यद्यपि वह जानता है कि मुझे रोटी के स्थान पर डण्डे ही मिलेंगे तथा मेरा यह कार्य भी निन्दनीय और घृणित है, फिर भी वह लाचार हो मोह के कारण घर-घर भटकता रहता है। ठीक यही वात विषयी जीवो की भी होती है, वे

भी विषय-चर्चाओ मे अपने समय को खो देते है। आत्म-चिन्तन तथा अपने स्वरूप के चिन्तन की ओर उनका ध्यान नही रहता।

मोह के कारण जो व्यक्ति दिन-रात स्त्रियो की चर्चाएँ या उनके अंगोपागो के सौन्दर्य की चर्चाएँ किया करते है, तथा इन चर्चाओ को ही अपना कर्त्तव्य समझ लेते है वे वडे गलत रास्ते के राहगीर वनते हैं। इन विपयो से आज तक किसी को भी तृप्ति नही हो पायी है, ये तो तृष्णा और दाह को ही उत्पन्न करते है। इनमे आनन्द के स्थान में आकुलता, सरसता के स्थान मे नीरसता, सतोष के स्थान मे तृष्णा उत्तरोत्तर वढती चली जाती है। वृद्ध हो जाने तक भोगो की दुर्दमनीय लालसा कम नही होती है, वल्कि असमर्थता पाकर यह लालसा और बढ़ जाती है। कारण स्पष्ट है कि मोह के उदय होने पर ही भोग विलास प्रिय लगते है। मोह ने इस जीव को पागल बना दिया है, जिससे इसे अनिष्टकारक, आत्मा की बुराई करने वाली चीजें अच्छी प्रतीत होती है। भ्रान्तिवश इसे बुराई ही अच्छाई मालूम पड़ती है। लज्जापूर्ण, कुत्सित, निन्द्य, अश्लील वचन भी कहते इसे लज्जा नही आती। परन्तु मोह के दूर होते ही, इस जीव को शरीर और भोगों से घृणा हो जाती है। उसके मन मे वैराग्य की भावनाएँ उत्पन्न हो जाती है। ससार और शरीर इन दोनो की वास्तविकता दिखलायी पड़ने लगती है। शरीर और आत्मा को भिन्न-भिन्न देखने लगता है। मोहोदय के कारण जो जीव ससार के झूठे रीति-रिवाजों को सच्चा समझता रहता है तथा वास्तविक ज्ञान कराने वाले से लडता है, मोहोदय के दूर होते ही उसकी यह निन्दित क्रिया वन्द हो जाती है।

मोह के दूर होते ही संसार के खेल सामने प्रत्यक्षगोचर हो जाते है। मोह के रहने से ही स्त्री प्रिय लगती है, पुत्र प्यारा अनुभव होता है। माता अच्छी दिखलायी पड़ती है, वन्धु स्नेहशील प्रतीत होता है, परन्तु मोह के क्षय या क्षयोपशम होते ही ये सारे रागभाव दूर हो जाते है। हृदय मे वैराग्य भाव जाग्रत हो जाता है। इन्द्रियो के प्रिय लगने

वाले पदार्थ अब अत्यन्त अप्रिय मालूम होते है। कर्त्तव्य मार्ग का उसे अपने आप भान हो जाता है। कविवर भूधरदास जी ने बताया है कि मोहोदय के रहने पर ही जीव को अकर्त्तव्य मार्ग सूझता है, मोह के क्षय होते ही उसे कर्त्तव्य मार्ग दिखलायी पड़ने लगता है।

देव गुरु सांचे मान सांचो धर्म हिये आन,
सांचो हि पुरान सुनि सांचे पन्थ आव रे।
जीवन की दया पाल, झूंठ तज चोरी टाल,
देखना विरानी वाल तिसना घटावरे।
अपनी बड़ाई पर निन्दा मत करे भाई,
यही चतुराई मद्य मांस को वचाव रे।
साध षट्कर्म धीर संगति में वैठ वीर,
जो है धर्म साधन को चित चाव रे॥

अरे जीव मोहान्धकार को नष्ट कर, सच्चे देव, शास्त्र और गुरु को ही मन मे धारण कर, सत्य बोल और सन्मार्ग पर चल, प्राणियो के प्रति क्षमाभाव धारण कर, चोरी का त्याग कर, दूसरो की स्त्रियो पर नजर मत डाल, ममता और अहकार की कमी कर, अपनी प्रशसा और अन्य की निन्दा का त्याग कर, मद्य, मास, और अभक्ष्य के भक्षण का त्याग कर, गृहस्थ के दैनिक षट् कर्मों का पालन कर एव साधुओ की संगति मे रह कर धर्म साधन की ओर अपना मन लगा। इसी मे तेरा कल्याण है।

वीणा किन्नरि वेणुताळ मुरजाळापदि संसिद्धिगी—
र्वाणप्राकृत वाक्यसिद्धि सुकवित्वं सुस्वरं रत्कुलं।
त्राणं श्रीचेलुवक्केयादोडमदेना लीलेगं निम्म क—
ल्याणाराधनेयक्के चित्तविसदं रत्नाकराधीश्वरा! ॥७१॥

हे रत्नाकराधीश्वर !

वीणा, किन्नरी के वाद्य, तुरतुरा, ताल, गायन, सस्कृत और प्राकृत का ज्ञान. सरस कविता करने की शक्ति, श्रेष्ठ राग, उत्तम कुल, बल, ऐश्वर्य, सौन्दर्य और रूप की प्राप्ति का फल कुछ भी नही है अत. इनका सदुपयोग मगलमय अथवा पचकल्याण की भावना भाने मे करना चाहिए। अर्थात् इन रागमय पदार्थों का उपयोग आत्मानन्द के विकास मे करना ही कल्याण है।

कल्याग के मूल दो ही मार्ग है—आचार और विचार की शुद्धि। इन दोनों का प्राय तादात्म्य सम्बन्ध है, आचार की शुद्धता से विचारो में शुद्धता आती है और विचारो की शुद्धता से आचार मे। जो व्यक्ति इन दोनो का सम्बन्ध नही समझते है, वे गलत मार्ग पर है। वीणा वादन, मधुर गायन तथा नाना प्रकार के अन्य मनोरजन के साधनो से हमारे विचार अशुद्ध होते है, रागभाव आत्मा मे उत्पन्न होते है। इस कारण जीव स्वय अपनी हिंसा करता है, क्योंकि राग उत्पन्न करने से आत्म परिणामो का घात होता है। असत्य भाषण, चोरी, व्यभिचार, अत्याचार, अनाचार, परिग्रह सचय सभी आत्मा के घातक होने से हिंसा के साधन है। जिन व्यक्तियो ने अपने जीवन का ध्येय केवल आमोद प्रमोद करना ही मान लिया है, उनके विचार अत्यन्त निम्न कोटि के हैं। क्योंकि यह जीव अनादि काल से विषय कषायो में सलग्न चला आ रहा है, इसने चौरासी लाख योनियो मे भ्रमण किया, नाना प्रकार के ऐश्वर्य भी इसे मिले, पर ससार के भोगो से तृप्ति नही हुई। अब इस श्रेष्ठ मानव जन्म को भी अपने ही स्वार्थ में लिप्त रख कर यो ही बिता देना बडी भारी मूर्खता है।

नरभव की सार्थकता राग रगो को पाकर भी इनसे अनासक्त रहने मे है। यदि कोई भी व्यक्ति ससार के कर्मो को फलाकाक्षा से अलग रह कर अनासक्त भाव से कर्तव्य समझ कर करता है, तो वह कल्याण का मार्ग पा ही लेता है। श्रद्धापूर्वक अपनी शक्ति और योग्यता के

अनुसार निवृत्ति मार्ग की ओर जाना, ससार के चमकीले भड़कीले पर-पदार्थों से पृथक् रहने की चेष्टा करना ही कल्याणकारक है । अत जिन व्यक्तियो के विचार शुद्ध है, जिनके विचारो में किसी भी प्रकार की कलुषता नही, जिनकी प्रवृत्ति राग द्वेष से परे रहती है, वे अपने आचरण को उन्नत बना ही लेते है । वास्तविक बात यह है कि उनकी दृष्टि विशाल हो जाती है, स्वार्थ की सकुचित सीमा टूट जाती है, जिससे पर पदार्थो के प्रति व्यग्रता उनको नही होती है, क्योकि पर पदार्थ आकुलता या दु ख-सुख के कारण नही, यह तो केवल व्यक्ति की दृष्टि का दोष है ।

विषयो की आधीनता आत्मा के लिए कभी भी कल्याणकारी नही हो सकती । पचेन्द्रियो के मोहक विषय आत्मा को पराधीन करने वाले है । जिस व्यक्ति ने अपनी कमजोरी के कारण अपने को इन विषयो के सुपुर्द कर दिया है, वह आज नही तो कल, कभी न कभी इनकी हेयता को समझे बिना नही रह सकता । अनियन्त्रित विषय सेवन से शान्ति, कान्ति, स्मृति, मेधा, ज्ञान आदि गुण नष्ट हो जाते है । विषयो का वेग सर्व प्रथम व्यक्ति के स्वास्थ्य को नष्ट करता है, क्योकि विषयी जीव आचार और विचार दोनो की पवित्रता से च्युत हो जाता है । इसलिए वह मनमाने अभक्ष्य पदार्थो का भक्षण करता है, दुर्दमनीय इन्द्रियो की प्रवृत्ति को विषयों से हटाता नही, बल्कि विषयो मे लगाता रहता है । इस कारण उसका शरीर खोखला हो जाता है, दिन रात रोग उसे घेरे रहते हैं । एक क्षण को भी उसे शान्ति नही मिलती । सुख के बदले उसे दु ख ही उठाना पडता है ।

स्मृति और मेधा शक्तियाँ भी विषयी जीव की नष्ट हो जाती है । उसकी बुद्धि कुठित हो जाती है, विवेक या सद्विचार उत्पन्न नही होते । दिन रात मन विषयों की ओर दौड़ता रहता है, शरीर अशक्त रहता है जिससे वह विषयो को भोग नही सकता, पर मानसिक व्यभि-चार निरन्तर करता रहता है । वह मानसिक दृष्टि से इतना कमजोर

हो जाता है कि वार-वार विषयों के त्यागने का सकल्प करने पर भी नही छोड़ पाता है। उसके संकल्प कच्चे धागे से भी कमजोर होते है। स्मरण शक्ति भी उसकी लुप्त हो जाती है, वह अपनी की हुई समस्त प्रतिज्ञाओ को भूल जाता है। कान्ति, ओज आदि भी शरीर मे नही रहते, वह रस निकाले हुए नीबू के समान प्रतीत होता है। आचार और विचार दोनो से वचित होकर विषयी जीव अपनी समस्त शान्ति को खो बैठता है। अत. प्रत्येक व्यक्ति को आवश्यक है कि वह रागमय पदार्थों को अनासक्त भाव से छोडकर आत्मानन्द मे विचरण करे।

विपयो को न भोगकर छोड़ने वाले की भावना और उसका फल—

अकिंचनोऽहमित्यास्व त्रैलोक्याधिपतिर्भवेः ।
योगिगम्यं तव प्रोक्तं रहस्यं परमात्मनः ॥ ११० ॥

पर पदार्थ कभी अपना नही बन सकता है। पर पदार्थ इकट्ठे करने की भावना कितनी ही की जाय और कितने ही उपाय किये जायँ, पर वे अपने निज स्वरूप मे आकर मिल नही सकते है। आत्मा आत्मा ही रहेगा और पर पर ही रहेगे। यह वस्तु स्वभाव की स्वाभाविक गति है। आत्मा अमूर्तिक और चेतन है। दूसरे सर्व पदार्थ मूर्तिमान है और जड है। इस प्रकार जीव और बाकी कुल पदार्थ अपने-अपने निराले स्वभावो को रखने वाले माने गये हैं तो उनका एक दूसरे मे मिल जाना या एक दूसरे की एक दूसरे से भलाई-बुराई होना असम्भव बात है। जड-चेतन का, मूर्तिमान-अमूर्तिक का मेल होना ही कठिन है तो एक दूसरे की वे भलाई-बुराई क्या करेंगे ? दूसरी बात यह है कि आत्मा में वह आनन्द भरा हुआ है कि जो जड़ पदार्थो मे असम्भव है। शरीर से चेतना निकल जाने पर वह शरीर तुच्छ और फीका भासने लगता है। इसका कारण यही है कि शरीर जड़ है, उसमे आनन्द या सुख की मात्रा क्या रह सकती है ? शरीर मे रहते हुए भी जो सुखानुभव होता है वह चेतन का ही चिह्न है, न कि जड शरीर का। क्योंकि आनन्द या सुख

ज्ञान के विना नही होता । यह ज्ञान का ही कार्य है, ज्ञान का रूपान्तर है । तो फिर जड में वह कैसे मिल सकता है ? इसीलिए सुख की लालसा से जड़ विषयो का सेवन करना, उनसे सुख चाहना पूरी-पूरी भूल है । तव केवल आत्मा का स्वभाव जानने के लिए उसी का ध्यान करो, चिन्तन करो तो सम्भव है कि कभी आत्मा का पूरा ज्ञान हो जाने से पूरा निश्चल सुख प्राप्त हो जाय । जवकि अज्ञान अवस्था में भी थोड़ा सा ज्ञान शेष रहने के कारण जीवो को कुछ सुख अनुभव गोचर होता दीखता है तो पूर्ण ज्ञानी वनने पर पूरा सुख क्यो न मिलेगा ? जवकि चेतना ही आनन्द-दायक है तो जड़ पदार्थो मे फँसने से आनन्द कैसे मिल सकता है ? क्योकि जड़ पदार्थों मे फंसने से ज्ञान नष्ट, या हीन अवस्था को प्राप्त होता है जिससे आनन्द की मात्रा घट जाना सम्भव है । जड़ पदार्थो मे फसने वाला जीव आत्म ज्ञान से तो वचित होता ही है, इधर जड पदार्थो से कुछ मिलने वाला नही है, इसलिए दोनो तरफ के काम से जाता है । उसे न इधर का सुख, न उधर का सुख मिलता है । यदि वही जीव सव तज कर अकेले आपको भेजने लगे तो तीनो जग का ज्ञान प्राप्त कर सकता है । फिर उससे वचा ही क्या रहा ? इसीलिए मानना चाहिए कि वह तीनो लोक का स्वामी वन चुका ।

जव यह जीव सव झगडे छोडकर आत्मज्ञान को प्राप्त करके सारे असार संसार मे से अपने चिदानन्द को सारभूत समझने लगा और उस श्रेष्ठ आनन्द का अनुभव करने लगा तो इससे वडा और तीन लोक का स्वामी कौन होगा ? कोई नही । उस समय यही तीन लोक का स्वामी वन जायगा । क्योकि, जो जिसका स्वामी होता है वह उसके सार सुख को भोगता है । जीव जव कि तीनो लोक के एक मात्र सार सुख आत्मा-नन्द को भोगने लगा तो वह तीनो ही लोक का स्वामी हो चुका । इसीलिए यह कहा है कि—

तू ऐसी भावना कर कि मैं अकिंचन हूँ—सभी जड पदार्थों से मेरा ज्ञानमय स्वरूप निराला है । ऐसी भावना करते-करते जब तू अहं

अर्थात् आत्मस्वरूप को अभिन्न अपना स्वरूप समझ जायगा तब तू तीनो लोक का पूर्ण स्वामी बन जायगा। इसलिए तू सब झंझटों से अपने को निराला समझ कर अपने स्वरूप मे ठहरने का प्रयत्न कर। ऐसे स्वरूप की प्राप्ति योगियो को ही हो सकती है। एकाकी आत्मा का ध्यान करने से त्रैलोक्यपति कैसे बन जाता है यह बात भी योगियो को ही पूरी समझ मे आई है अथवा यों कहिये कि, एकाकीपने की भावना से प्राप्त होने वाला सुख योगियो को ही मिल सकता है, केवल कहने सुनने से वह प्राप्त नही होता। एकाकी आत्मा को मानकर उसका चिंतन ध्यान करने से तू भी योगी हो सकता है। योगी बनने से तुझे भी उस परमात्मा के पद की प्राप्ति होगी और तभी उस पद का पूरा आनन्द तुझे अनुभवगोचर होगा। यह योगिगम्य परमात्मपद की प्राप्ति का रहस्य तुझे कहा।

पर वस्तु सम्बन्धी अहंकार का त्याग

एतक्काडुवरय्य हम्मनकटा ! तम्मल्लि विद्याकळा-
व्रातं तळतदना कवित्वमुसिगुं सुज्ञानमं तत्परं-
ज्योतिर्व्यक्तिययुक्तिये नुडिगुमिन्नंतल्लदल्ललिल य-
द्वातद्वा बहुभायि फलवदें ? रत्नाकराधीश्वरा !॥७२॥

हे रत्नाकराधीश्वर !

मनुष्य अहकार की बात क्यों करता है ? उसमे विद्या शिल्पादि का भरा हुआ गुणसमूह उसकी रचना से प्रकट होता ही है। भगवान के तेज तथा चमत्कारमय स्वरूप का ही स्थान स्थान पर वर्णन होना चाहिए। ऐसा न कर, बेकार की गटपट बाते करने से कुछ लाभ नही होगा।

सम्यग्दृष्टि जीव के लिए ससार मे आत्मविश्वास के समान कोई भी उपकारी नहीं है। जिसे अपने आत्मा की शक्ति का दृढ विश्वास

नहीं, वह कोई भो कार्य सफलतापूर्वक नही कर सकता है। आत्मविश्वास उत्पन्न करने मे प्रधान कारण आत्म निर्मलता है। जब तक आत्मा में निर्मल भाव उत्पन्न नही होते हैं, यह नाना संकटो का पात्र बना रहता है। अतः प्रत्येक व्यक्ति को इस प्रकार का पुरुषार्थ करने की आवश्यकता है जिससे आत्मा निर्मल बनायी जा सके। आत्मा निर्मल बनता है, बाधक कषाय परिणामो को दूर करने पर। जब तक आत्मा में कषाय परिणति लगी रहती है, आत्मा स्वच्छ या निर्मल नही होती।

आत्मा को निर्मल करने के लिए अन्तरग और बहिरंग दोनो ही प्रकार की शुद्धियो की आवश्यकता है। अन्तरग शुद्धि तभी हो सकती है, जब कालुष्य उत्पन्न करने वाले कषाय आत्मा से हट जायें। क्रोध, मान, माया और लोभ रूप ये चारों ही कषायें आत्मा के लिए मलिनता के कारण हैं। साधारणतः इन कषायो की उत्पत्ति निमित्त कारणों के मिलने पर ही होती है। क्रोध का निमित्त मिलने पर ही क्रोध उत्पन्न होता है। यदि कोई व्यक्ति विपरीत कार्य करता दिखलायी देता है तो क्रोध उभर आता है। घमण्ड करने के पदार्थों को प्राप्त कर अहंकार उत्पन्न होता है। इसी प्रकार बाह्य निमित्त को पाकर माया और लोभ कषाय की भी उत्पत्ति होती है।

यदि कषायों की भीतरी तह में प्रवेश किया जाय तो अवगत होगा कि बाह्य निमित्तों के बिना भी कषायें अन्तरग मे उत्पन्न होती रहती हैं। मन मे चंचलता प्रधान रूप से अन्तरग कषायो की तीव्रता के कारण ही होती है, यदि अन्तरंग में कषायो की कमी हो जाय तो मन में स्थिरता आ जाती है। क्योंकि कषायों का निरोध होने से मन, वचन और कार्य योग का निरोध किया जा सकता है। कषायों के निकलते ही योग की चचलता रुक जाती है। कषायो के रहने पर कोई निर्जन वन मे रहे, चाहे गगनचुम्बी प्रासाद मे, सब समान हैं। इनके सद्भाव या अभाव से ही आत्म-कल्याण या जगकल्याण किया जा सकता है। क्रोधी जीव ने आज तक किसका कल्याण किया है? जिसने अपनी आत्मा मे

क्षमाभाव को उत्पन्न कर लिया, सहनशीलता अपने भीतर उतार ली है, अपना या ससार का भला कर सकता है। क्रोध से काम बिगड़ ही सकता है, बनता नही। इसी प्रकार मान, माया और लोभ के बारे मे भी है। जिस प्रकार कपड़े को पक्का नीला रगवा देने पर उस पर दूसरा रग नही चढता, उसी प्रकार कषायो द्वारा आत्मा के अनुरजित होने पर आत्मा मे निर्मलता नही आती, शुद्धात्मानुभूति नही होती। कषाये आत्मा के ज्ञान, दर्शन, नम्रता आदि गुणो को विकृत कर देती है।

यो तो मानव अनादि काल से कषायो के आधीन है, पर अहकार द्वारा यह अन्य की अवहेलना और अपना उत्कर्ष साधने मे सदा मस्त रहता है। प्रतिष्ठा-लिप्सा या कीर्ति-कामना मनुष्य मे इतनी अधिक है जिसके कारण अपनी आत्म-प्रशसा यह स्वय करता है और दूसरो की निन्दा भी। यह निन्दा और स्तुति की लालसा जीवन को बड़ा बनाने के बदले तुच्छ या छोटा बनाती है। अहकार मनुष्य की आत्मा मे कठोरता उत्पन्न करता है, उसके विनय गुण को नष्ट कर देता है। अभिमान या अहकार किसी भी व्यक्ति को नही करना चाहिए, क्योकि जिन विद्या, बुद्धि, बल, धन, जाति आदि का अभिमान करता है, वे स्थिर रहने वाली नही। ससार मे जब स्वर्ग लोक का महर्द्धिधारी देव भी मर कर एक समय मे एकेन्द्रिय हो सकता है, शूकर-कूकर मे जन्म ले सकता है तब अभिमान किस बात पर किया जाय ? जिनके आगे सहस्रो स्त्री पुरुष सेवा मे हाथ जोडे खड़े रहते थे, पुण्य क्षीण होने पर उनको कोई पानी पिलाने वाला भी नही रहता। अत इस चचल लक्ष्मी और अन्य ससारी वस्तुओं का, जो कि सदा क्षणिक है, अभिमान करना व्यर्थ है। अभिमान लौकिक दृष्टि से भी इस जीव के लिए हानिकर है, क्योकि अभिमान करने से मित्र भी शत्रु हो जाते है तथा अनेक कार्य जो केवल नम्रता और मीठे वचनो से अच्छी तरह सम्पन्न किये जा सकते है, बिगड़ जाते हैं अतः अहंकार सर्वथा त्याज्य है।

मान करने से हानि—

चक्रं विहाय निजदक्षिणबाहुसंस्थं,
यत् प्राव्रजन्ननु तदैव स तेन मुक्तेः ।
क्लेशं तमाप किल बाहुबली चिराय,
मानो मनागपि हतिं महतीं करोति

बाहुबली अपने सीधे हाथ की तरफ आकर ठहरने वाले चक्र को छोड़ कर व सर्व परिग्रह को छोडकर जैसे ही सन्यासी बने वैसे ही तत्क्षण मुक्त हो सकते थे। उनके उस तप की इतनी शक्ति सभव थी। परन्तु उन्हे भाई भरत चक्री के तरफ का थोडा सा मान लगा रहा। उस थोड़े से मान को निकाल न सके। इसीलिए चिरकाल पर्यन्त उन्होने तपश्चर्या का घोर दु.ख सहा। थोडा सा मान भी बडी भारी हानि करता है।

व्यर्थ मान करने पर आश्चर्य—

सत्यं वाचि मतौ श्रुतं हृदि दया शौर्यं भुजे विक्रमो,
लक्ष्मीर्दानमनूनमर्थिनिचये मार्गो गतिर्निर्वृते ॥
येषां प्रागजनीह तेपि निरहंकाराः श्रुतेर्गोचरा-
श्चित्रं संप्रति लेशतोपि न गुणास्तेषां तथाप्युद्धताः ॥

जिनका वचन सदा सत्य निकलता था, जिनका अतुल ज्ञान शास्त्र से परिपूर्ण था, हृदय मे सदा दया व शूरता वास करती थी, भुजाओ में जिनके अतुल पराक्रम था, लक्ष्मी का सदा वास था और जो याचको को परिपूर्ण तृप्ति हुए तक दान देते थे तथा कल्याण के या धर्म के मार्ग मे प्रवृत्त रहते थे। इतने गुण जिनमे वास करते थे, ऐसे पूर्व काल मे बहुत पुरुष हो गये। परन्तु उन्हे अहकार का लेश भी नही था। ऐसा

शास्त्र-पुराणो में सुनते है। किन्तु आज जिन मनुष्यो मे उनके शतांश भी गुण नही है तो भी वे उद्धत हो जाते है, यह बड़ा आश्चर्य है।

गर्व किससे करे ? एक से एक बड़ा है। देखो:—

वसति भुवि समस्तं सापि संधारितान्यै-
रुदरमुपनिविष्टा सा च ते चापरस्य ।
तदपि किल परेषां ज्ञानकोणे निलीनं ।
वहति कथमिहान्यो गर्वमात्माधिकेषु ॥

जिस पृथ्वी पर समस्त जग का वास है वह भी दूसरो ने झेल रक्खी है। किन्तु सम्पूर्ण लोक की भूमि को झेलने वाले पवनो को तो किसी ने उठा नही रक्खा है, इसलिए वे तो सबसे बडे मानने चाहिए ? परन्तु नही, उनसे भी बडा जगद्व्यापी कोई पदार्थ है। वह कौन ? आकाश। वह इतना बडा है कि उसके भीतर वह जग भर की पृथ्वी तथा उस पृथ्वी के आश्रयभूत पवनो के वेढ़े, ये सभी समा रहे है। अच्छा, इस आकाश को ही सबसे बडा मान लेना चाहिए ? नही, ये सब चीजें तथा सम्पूर्ण आकाश जिसके भीतर तो क्या, किन्तु जिसके एक कोने मे समा रहा है ऐसा भी एक पदार्थ है। वह कौन ? सर्वज्ञ। सर्वज्ञ के ज्ञान मे ये चीजे तो क्या किन्तु और भी जो कुछ हो वह भी आ सकता है। अब कहिये, क्षुद्र प्राणी यदि अपने से श्रेष्ठो के साथ गर्व करे तो क्या देखकर ? जग मे एक से एक बड़ी चीजें पड़ी हैं।

शास्त्र पठन का उपयोग

तर्कं बंदडे दृष्टदि श्रुतदिनिट्टूहानुमानंगळि ।
वेर्कॅयुदात्मननेल्लरुं नेरॅयॆ कडंतागॆ यास्थान पा- ॥
लकोंडाडे कुवादियुं तिळियॆ पेळल्वल्लने बोधमा ।
लार्क शुष्कविवादि तानधिकने रत्नाकराधीश्वरा ॥७३॥

हे रत्नाकराधीश्वर !

तर्कशास्त्र का ज्ञान हो तो प्रत्यक्ष प्रमाण, तर्क प्रमाण और अनुमान प्रमाण से आत्मा को स्थापित करके तथा समूचे जगत पर उसका प्रभाव डाल कर, सबसे देखे जाने योग्य, राजाओ से प्रशसा करने योग्य तथा दृष्ट आदि के जानने योग्य जो ज्ञान परम्परा समझाकर दी जाती है उसी से प्रकाश की प्राप्ति होती है। इसके विपरीत नि.सार विषयो पर वाद-विवाद करने वाला कदापि श्रेष्ठ नही है। आत्मा को अन्य वस्तुओ से पृथक् मान कर सज्जन लोग आनन्दित होते है, इस कथन को समझने वाले ही ज्ञान-सूर्य कहलाते है, मिथ्यावादी श्रेष्ठ नही है।

कवि ने इस श्लोक में यह बतलाया है कि अनेक प्रकार के तर्क शास्त्र गणित व्याकरण आदि पढने के बाद इस जीव को प्रत्यक्ष प्रमाण, तर्क प्रमाण से आत्मा को स्थापित करके तथा सम्पूर्ण जगत मे उसका प्रभाव डाल कर सबमे देखने योग्य राजाओ से प्रशसा करने योग्य तथा दृष्टवादी से जानने योग्य ज्ञान परम्परा समझा कर दी जाती है इसी से आत्मा मे प्रकाशित होती है। इस प्रकार ज्ञान के समान और कोई चीज नही है।

ज्ञान की महिमा

रूप-यौवन-सम्पन्ना विशाल-कुल-सम्भवाः।
विद्या हीना न शोभन्ते, निर्गन्धा इव किंशुकाः॥

जिस व्यक्ति का रूप भी सुन्दर हो, यौवन को प्राप्त भी हो रहा हो और उसका कुल भी उच्च हो, धन-धान्यादि से कोठार-भण्डार भरे हुए हो किन्तु विद्या रहित होने से उसकी कोई शोभा नही जैसे कि खुशबू रहित ढाक के फूल की।

अनेक संशयोच्छेदी, परोक्षार्थस्य दर्शकम्।
सर्वस्य लोचनं शास्त्रं, यस्य नास्त्यन्ध एव सः॥

एक नही, अनेकों सशयों के मिटाने वाली, परोक्ष अर्थ के दिखलाने वाली, सर्व नेत्रो की नेत्र एक विद्या ही है। जिस व्यक्ति के पास विद्या नेत्र नही वह अन्ध तुल्य ही है।

केयूरा न विभूषयंति, पुरुषं हारा न चन्द्रोज्ज्वला।
न स्नानं न विलेपनं न कुसुमं नालंकृता मूर्द्धजाः॥
वाण्येका समलं करोति पुरुषं या संस्कृता धार्यते।
क्षीयन्ते खलु भूषणानि सततं, वाग्भूषणं भूषणं॥

जो मूर्ख व्यक्ति है वे हाथो मे बाजूबन्ध बाध के, गले मे चन्द्र समान उज्ज्वल मोतियो का हार पहन करके स्नान मजनादि करके चन्दनादि सुगन्धित पदार्थों का लेप करके, फूलो से शरीर को सजा कर, तिलक लगा कर, वालो को कघादिक से ठीक करके (सवार कर) मन में फूले नही समाते किन्तु उन विद्या विहीन मूर्खों को मालूम नही कि यह ऊपरी (बनावटी) शोभा (विभूषा) थोड़ी देर के लिए ही होती है। जो विद्या रूपी भूपण है वह श्रेष्ठ एवं अचल भूपण है। बालकों को चाहिए कि ऐसे उत्तमोत्तम विद्या रूपी भूषण को धारण करे जिससे परोपकार भी हो और दिग्दिगान्तर मे यश-कीर्ति भी फैले और साथ मे धर्म का प्रचार भी हो।

विद्या नाम नरस्य रूपमधिकं प्रच्छन्न गुप्तं धनं।
विद्या भोगकरी यशःसुखकरी विद्या गुरूणां गुरुः।
विद्या बन्धुजनो विदेशगमने विद्या परं दैवतं,
विद्या राजसु पूजिता नहि धनं विद्या विहीनः पशुः॥

विद्या ही मनुष्य मात्र का सच्चा रूप एव छिपा हुआ गुप्त धन है, विद्या से ही विनय आती है और विनयवान ही हर एक कार्य करने में

चतुर होता है । चतुर पुरुष को ही धन धान्यादिक की प्राप्ति होती रहती है। विद्या वह चीज है जिससे कि भोग यश और सुख मिले । गुरुजनों में विद्यावान ही बढाई पाता है। परदेश में भी विद्या मनुष्यों का भाई बन्धु जैसा काम देती है। जो विद्वान होते है वे इस संसार मे देवता तथा राजा की तरह पूजनीय होते है।

विद्वत्वं च नृपत्वं च, नैव तुल्यं कदाचन ।
स्वदेशे पूज्यते राजा, विद्वान् सर्वत्र पूज्यते ।।

विद्वान और राजा इन दोनो को एकसा कैसे कह सकते हैं, अर्थात् एकसा नही कह सकते क्योकि राजा तो केवल एक अपने देश मे ही पूजनीय होता है किन्तु विद्यावान तो चाहे किसी भी देश (मुल्क) में चला जाय वहाँ उसका पूजा-सत्कार होता है।

न चौरहार्यं न च राज्यहार्यं,
न भ्रातृभाज्यं न च भारकारि।
व्यये कृते वर्द्धत एव नित्यं,
विद्या धनं सर्वधनप्रधानम् ।।

इस विद्या रूपी धन को जितना खर्चोगे उतना ही वढेगा। यह विद्या रूपी वह गुप्त धन है कि जिसको चोर नही चुरा सकता, राजा नही छीन सकता, भाई बन्धु बटवा नही सकते। और इस द्रव्यादिक (रुपया पैसादिक) को चोर डाकू हरण कर लेते हैं, इसको छिपा कर रखे तो यह छिपा भी नही रह सकता। इसके होने से मनुष्य को हर समय भय वना रहता है इससे जैसा सुख चाहिए वह आत्मिक सुख भी नही मिलता, इसको किसी भी कार्य मे खर्च करके देखो, यह घटता ही दीखेगा। किन्तु विद्या रूपी वह धन है जो कामधेनु के तथा कल्पवृक्ष के तुल्य है। इसका जो कोई संचय करेगा, उसको दिनो-दिन अधिक सुख

मिलगा। जिसके पास विद्या रूपी धन होगा उसका चित्त हर समय प्रसन्न बना रहेगा, चिन्ता तो उसके पास फटकने भी नही पायेगी, जितना भी इसको खर्चोगे उससे भी कही हजारो लाखो गुनी अधिक बढेगी।

यह आत्मा स्वसवेदन प्रत्यक्ष, अनुमान और तर्क के द्वारा सिद्ध है। जो व्यक्ति शरीर से भिन्न आत्मा नही मानते, तथा जिनका यह मत है कि पृथ्वी, जल, अग्नि और वायु के समवाय से चैतन्य शक्ति आ जाती है, इन चार प्रत्यक्षगोचर भूतो के समवाय से भिन्न आत्मा नाम की कोई वस्तु नही, जिसकी शुद्धि की जाय और आचार विचार को शुद्ध किया जाय। शरीर को कष्ट देना, मन और इन्द्रियों का निग्रह करना व्यर्थ है। इस युक्ति का खण्डन अनेक प्रमाणो से किया जा सकता है। क्योकि आत्मा का अस्तित्व स्वत· सिद्ध है । मनुष्य जब किसी पदार्थ को देखता है, उस पदार्थ का एक सामान्य खाका उसके मस्तिष्क मे बन जाता है, जिससे पदार्थ की ओर ध्यान जाते ही दिखलाई देने लगता है। यदि व्यक्ति सामने रखे हुए पदार्थ को विना उपयोग के देखता भी रहे तो भी उसका दर्शन नही होगा और उसका अस्तित्व उसे दिखलायी नही पड़ेगा। उसी प्रकार सुनने, छूने और सू घने के सम्बन्ध में भी कहा जा सकता है। मनुष्य प्रतिदिन नाना शब्दो को सुनता है, पर जिन शब्दो की ओर उसका ध्यान नही रहता, उन शब्दो को सुनते हुए भी नही सुनता है। प्रतिदिन नाना बस्तुओ को स्पर्श करता है, पर जिन वस्तुओ के स्पर्श की ओर उसका ध्यान नही, स्पर्श करते हुए उसके स्पर्श ज्ञान से अनभिज्ञ रहता है।

मनुष्य की इन प्रवृत्तियो का सूक्ष्म विश्लेषण करने से स्पष्ट ज्ञान हो जाता है कि भौतिक पदार्थों से भिन्न कोई ऐसी शक्ति है जिसके उपयोग से ही मानव को पदार्थो का ज्ञान होता है । यह जानने और देखने की शक्ति भौतिक पदार्थों से निर्मित मस्तिष्क मे नही, किन्तु अनुभव करने वाला एक स्वतन्त्र पदार्थ है। जब मनुष्य के सामने कोई बा त आती है तो वह उस पर विचार करता है, उस बात की लाभ-

हानि एवं गुण दोषों पर ध्यान देता है । यह ध्यान देने की शक्ति भौतिक शरीर के अंश मस्तिष्क से भिन्न है । यह अनुभव की शक्ति कहलाती है, अतः यह अखण्ड आत्म-तत्व के सिवा और कुछ नही है, अगर आत्मा को भौतिक तत्वो से उत्पन्न माना जाय तो अनेक दोष आते हैं । पहली वात तो यह है कि सजातीय से विजातीय की उत्पत्ति नही हो सकती, अत. भूत समवाय से उत्पन्न आत्मा को माना जाय तो फिर स्मरण, प्रत्यभिज्ञान आदि आत्मा मे कहाँ से आ सकेंगे ? ये भौतिक शरीर के अश तो हो नही सकते हैं । क्योंकि भौतिक शरीर मे ऐसी योग्यता नही है ।

संकल्प, इच्छा शक्ति, काम-क्रोध आदि भावनाएं भी चैतन्य आत्म-शक्ति के विना उत्पन्न नही हो सकती है । ये सभी शरीर के कार्य नही हो सकते हैं, क्योकि यह शरीर इन सव कार्यों को करने में असमर्थ है इसी प्रकार राग द्वेष आदि की भावनाएँ, शान्ति, धृति आदि भी चेतन आत्मा के ही स्वभाव या विभावजन्य धर्म कहे जा सकते है । स्वानुभव प्रत्यक्ष के द्वारा भी आत्मा की प्रतीति निरन्तर होती ही रहती है । मैं या अहं की अनुभूति प्रत्येक कार्य मे सर्वदा होती है । अत· समस्त पदार्थो का ज्ञाता दृष्टा आत्मा स्वतन्त्र और सव पदार्थो से भिन्न है। यह स्वभाव से ज्ञान, दर्शन, सुख, वीर्य स्वरूप है । यह नित्य और अविनाशी है । समार अवस्था मे यह अशुद्ध हो रहा है, अनादिकालीन राग द्वेष के कारण इसकी परिणति विगडी हुई है । पर प्रयत्न करने पर इसकी शुद्ध प्रवृत्ति की जा सकती है तथा यही हमारा पुरुषार्थ होना चाहिए जिससे आत्मा शुद्ध की जा सके ।

शास्त्र-ज्ञान प्राप्त होने के वाद शान्ति और सहनशीलता चाहिए—

शास्त्रं बंदोडे शांति सैरने निगर्वं नीतिमेल्वातु मुक्ति-
स्त्रीचिंते निजात्मचिंते निलवेळ्कतंल्लदा शास्त्रदिं ॥

दुस्त्रीचिंतने दुर्मुखं कलहमुं गर्वं मनंगोंडडा ।
शास्त्रं शस्त्रमे शास्त्रि शस्त्रिकनला रत्नाकरा-
धीश्वरा ! ॥७४॥

हे रत्नाकराधीश्वर !

शास्त्र का ज्ञान प्राप्त कर शान्ति और सहिष्णुता को धारण करना, अहकार से रहित होना, धार्मिक वनना, मृदु बातें करना, मोक्ष-चिन्ता तथा स्वात्म-चिन्ता मे निरत रहना श्रेष्ठ कर्त्तव्य है। इसके विपरीत शास्त्रीय ज्ञान प्राप्त कर स्त्रियो की चिन्ता, क्रोध, मान, माया आदि से विकसित स्पर्धा और अहकार के उपयोग से शास्त्र शस्त्र वन जाता है। और शास्त्रज्ञ भी शस्त्रधारी हो जाता है। अभिप्राय यह है कि शास्त्रज्ञान का उपयोग आत्म-हित के लिए करना चाहिए।

पढने-लिखने तथा शास्त्र-ज्ञान प्राप्त करने का एक मात्र ध्येय कपायो को जीतना, इन्द्रियो को वश मे करना, सहिष्णुता धारण करना, विपत्तियो मे धैर्य रखना, शक्त्यनुसार परोपकार करना, मीठे और कोमल वचन बोलना, हिसा, झूठ, चोरी, कुशील और परिग्रह का त्याग करना है। जो व्यक्ति ज्ञान प्राप्त कर अपना कल्याण नही करता है, विपयो के आधीन रहता है, उसे धिक्कार है। उस व्यक्ति का ज्ञान शास्त्रीय ज्ञान नही कहलाता, वल्कि शस्त्र-ज्ञान कहलाता है। जैसे शस्त्र का उपयोग किसी वस्तु के काटने के लिए किया जाता है, उसी प्रकार वह व्यक्ति भी अपने ज्ञान का उपयोग अकल्याण के लिए ही करता है। ज्ञानी व्यक्ति का कार्य कपायो और वासनाओ को जीतने का है। जिसने नाना शास्त्रो का अध्ययन कर आत्म चिन्तन मे समय नही लगाया, अपने आचार-विचार को ठीक नही किया, उसका शास्त्र-अध्ययन करना निष्फल है। ऐसे व्यक्ति का ज्ञान भार स्वरूप होता है।

लोक प्रसिद्धि है कि "ज्ञान भारं क्रिया विना" अर्थात् सदाचार के विना ज्ञान बोझ के समान है। जैसे आख का कार्य पदार्थो को देखना

है, अन्यथा उसका होना न होना समान है, उसी प्रकार ज्ञान का एक मात्र ध्येय आत्मोन्नति करना है, अपने आचरण का विकास करना है, किन्तु जहाँ स्वपर का विवेक नही होता है, भेद विज्ञान की प्राप्ति नही होती है, वह ज्ञान कोरा ज्ञान ही है, उसके रहते हुए भी जीव अज्ञानी के समान है। कारण स्पष्ट है कि ज्ञान मोक्ष का हेतु है, ज्ञान के बिना व्रताचरण, नियम, शील, जप तप आदि का पालन भी निष्फल है। सच्चा विवेक उत्पन्न होने पर ही आत्मा की अनुभूति होती है। इसी कारण सम्यग्ज्ञान का महत्व सम्यक् चारित्र से भी अधिक है, क्योंकि ज्ञान के सम्यक् होने पर ही चारित्र मे सम्यक्पना आता है। सम्यग्ज्ञान के अभाव मे चारित्र सम्यक् होता ही नही है।

ज्ञान की महिमा इसलिए ही है कि इष्ट वियोग और अनिष्ट सयोग मे जीव मोहोदय के आने पर भी अविचलित रहे, बाह्य निमित्तो के मिलने पर मोहोदय तो होता ही है, पर सम्यग्ज्ञानी इसमे चलायमान नही होता। उसे ससार का स्वरूप ज्ञात रहता है अत धीरता और शान्ति के साथ आने वाले उपसर्गो को सहता है। मान, अपमान, हर्ष-विषाद आदि का उसके ऊपर प्रभाव नही पड़ता। आचार्यो ने ज्ञान का फल बतलाते हुए कहा है—

'अज्ञाननिवृत्तिर्हानोपादानोपेक्षाश्च फलम्'

अर्थात् अज्ञान की निवृत्ति होना तथा हेयोपादेय और उपेक्षा रूप प्रवृत्ति होना ही ज्ञान का फल है। जो आत्मा के लिए हितकारी है, उसमे प्रवृत्ति होना, जो अहितकारी कषाय, वासना आदि है, उनसे निवृत्ति होना तथा साधारणत. किसी भी पदार्थ मे राग-द्वेष न करना, उपेक्षा रखना यही ज्ञान की विशेषता है। सम्यग्ज्ञानी ही ससार के पदार्थो को जानते हुए उदासीन रहता है। यद्यपि ज्ञान का कार्य पदार्थो को जानना है, पर सम्यग्ज्ञानी जानकर भी उनमें अनुरक्त या विरक्त नही होता है। साधा-रणत. उसके ज्ञानार्जन का ध्येय वस्तु स्वरूप को अवगत कर तटस्थ भाव

रखना तथा सम्यक् चारित्र प्राप्त करने की ओर बढना और अज्ञान-जन्य आकुलता का आविर्भाव न होने देना है।

जैसे रस्सी मे सर्प की भ्रान्ति होने पर यह अज्ञान दुःखदायक होता है, पर तद्विषयक सम्यग्ज्ञान होते ही महान् आनन्द होता है, इसी तरह तत्व विषयक भ्रान्ति के दूर होने पर अनिर्वचनीय सुख की प्राप्ति होती है। केवल उदर पोषण के लिए विद्यार्जन करना मूर्खता है। उदर तो पशु-पक्षी, कीट-पतग भी भर लेते है, यदि ज्ञानार्जन कर उदर-पोषण तक ही मनुष्य रह जाय तो उसका मनुष्य जीवन पाना निरर्थक हो जाता है। ज्ञान का वास्तविक ध्येय तत्वज्ञान द्वारा इच्छाओ, वासनाओं और इन्द्रियो का निग्रह कर सम्यक् चारित्र को प्राप्त करना है। अतः शास्त्र-ज्ञान को शस्त्रज्ञान नही बनाना चाहिए।

राजाओं के चरित्र मन को भय उत्पन्न करने वाले हैं

भूनाथर्कळबाळ्कोचित्तके सदा तळ्ळंकवेष्टण्टु धा-
त्री नारी धनसेन सार्दोडमदु साल्दप्पुदे ? मत्ते दु-
ध्यानापेक्षेये पेर्चुगुं वगेयलंता चिंतेये व्याधि सु-
ज्ञानैश्वर्यके साटि सौख्यमोळवे? रत्नाकराधीश्वरा! ॥७५॥

हे रत्नाकराधीश्वर !

राजाओ का चरित्र सदा मन को भय देने वाला होता है। जमीन स्त्री, द्रव्य सेना आदि की प्राप्ति से भी क्या उनकी इच्छा की पूर्ति होती है ? आशा का दुष्ट विचार बढता ही जाता है। विचारपूर्वक देखा जाय तो मालूम होगा कि यह चिन्ता ही रोग है। जिन लोगो ने सुज्ञान रूपी संपत्ति को प्राप्त कर लिया है उनके समान सुखी कौन है ?

सुवण्ण रूप्पस्स उ पव्वया भवे,
सियाहु केलास सम आसंखया।

नरस्स लुद्धस्स नतिही किं ची,
इछाहु अगास समा अणंतीया ॥

लोभी मनुष्य को कोई कैलाश पर्वत के बराबर असख्यात सोना, चादी के पर्वत भी दे देवे तो भी उसकी तृष्णाग्नि शान्त नही हो सकती, जिस तरह आकाश का अन्त आना कठिन है, ठीक उसी प्रकार लोभी का भी धनादि से तृप्त होना कठिन है। (लोभाच्च नान्योऽस्ति रिपुः पृथिव्यां, अर्थात् लोभ से बढ़ कर इस आत्मा का और कोई शत्रु नही है।)

पाप अठारा सामठा, तिन में अधिका लोभ ।
लोभ थकी यह प्राणियां कभी न पावे शोभ ॥
ले खांडा युद्ध को चल्यो, जाय मर्यो रख खेत ।
सतरा पाप किया तदा, एक लोभ के हेत ॥
अधिक लोभ किया थका पावे अघकी हाण ।
मरी ने पहुँचे नार की, वहां घटे सब काण ॥

संसार के वैभव चाहे कितने ही मिल जाये, पर तृष्णा की पूर्ति नही होती। जब तक छोटी-छोटी वस्तुएँ नही मिलती है, तब तक उनकी प्राप्ति की कामना बनी रहती है। इन अभीष्ट वस्तुओ के मिलने पर और नवीन-नवीन वस्तुओ के पाने की उत्कट इच्छा उत्पन्न होती है। इन इच्छाओं की पूर्ति होते ही और नवीन इच्छाएँ जाग्रत हो जाती है। इस प्रकार संसार मे वैभव और भोग-विलासो की प्राप्ति की लालसाएँ उत्तरोत्तर बढती ही जाती हैं। राज्य के मिलने पर भी इच्छाएँ पूर्ण नही होती, वहाँ महासम्राट् या चक्रवर्ती बनने की कामनाएँ जाग्रत होती है। अत. जिसने सुजान रूपी सतोष को प्राप्त कर लिया है, वही सुख प्राप्त कर सकता है। नीतिकारो ने आशा का वर्णन करते हुए कहा है कि—

आशा नाम नदी मनोरथजला तृष्णातरंगाकुला ।
रागग्राहवती वितर्कविहगा धैर्यद्रुमध्वंसिनी ।।
मोहावर्तसुदुस्तराऽतिगहना प्रोत्तु ंग चिन्तातटी ।
तस्याः पारगता विशुद्धमनसो नन्दन्ति योगीश्वराः ।।

आशा एक नदी है, इसमे इच्छा रूपी जल है, तृष्णा इस नदी की तरगें है, प्रीति इसके मगर है । तर्क-वितर्क या दलीले इसके पक्षी है, मोह इसकी भवर है, चिन्ता ही इसके किनारे है, यह आशा नदी धैर्य रूपी वृक्ष को गिराने वाली है, इस कारण इससे पार होना बड़ा कठिन है । जो शुद्धचित्त योगी, मुनि इसके पार चले जाते है, वे बड़ा आनन्द प्राप्त करते हैं । तात्पर्य यह है कि आशा के चक्कर मे आकर मनुष्य आकुलता और दु ख के सिवाय और कुछ नही पा सकता है । आशा और आकांक्षाएँ निरन्तर वृद्धिगत होती जाती हैं जिससे मनुष्य को दु ख का ही साक्षात्कार करना पड़ता है ।

परिग्रह को संचित करने की लालसाएं पाप का प्रधान कारण है । विश्व के समस्त वैभव के मिलने पर भी ये लालसाएं शान्त होने की नहीं । हिंसा, झूठ, चोरी, कुशील ये चारो पाप परिग्रह मे निवास करते हैं । जहाँ परिग्रह है वहाँ हिंसा के प्रधान कारण राग-द्वेष अवश्य होते हैं, आत्मा मे निरन्तर आकुलता व्याप्त रहती है जिससे एक घड़ी को भी शान्ति नही मिलती । परिग्रह सचय करने के लिए द्रव्य और भाव दोनो ही प्रकार की हिंसाएँ करनी पडती हैं । धन के ममत्व मे आकर अगणित जीवो को कष्ट देना पड़ता है, अधिक ममत्व रहने से बेईमानी करनी और झूठ वचन भी बोलने पडते है । धन की रक्षा के लिए नाना साधनो का प्रयोग करना पड़ता है जिससे हिसा अवश्यम्भावी है । परिग्रह मे अधिक लालसा रहने पर अनुचित उपायो से धनार्जन करना पडता है तथा दूसरों से प्रतिस्पर्धा भी करनी पडती है जिससे अनेक शत्रु बनते हैं,

अनेक मित्र बनते है। रागद्वेष की प्रवृत्ति अहर्निश बढती जाती है।

अधिक परिग्रह का सचय करना और उसके द्वारा सुख प्राप्ति करने की अभिलाषा रखना उसी प्रकार व्यर्थ है जैसे पानी के विलोने से घी प्राप्ति की आशा करना। पानी को मथने से पानी भी बेकार हो जाता है और घी तो क्या छाछ भी नही मिलती है, उसी प्रकार परिग्रह सचय से सुख नही मिल सकता है। बाह्य परिग्रह की अपेक्षा अन्तरग मूर्च्छा-परिग्रह का ममत्व विशेष हानिकर है, इससे जीव को सदा आकुलता बनी रहती है। भौतिक पदार्थो से ममत्व रखना विपत्तियो की खान है, मुसीबत कठिनाइयो और आपदाओ का आगार है। धन के ममत्व के कारण ही भाई-भाई के प्राणो का ग्राहक बन जाता है, नीच से नीच कृत्य को भी कर डालता है। परिग्रह लिप्सा के कारण आज जो ससार की दशा हो रही है, वह किसी से छिपी नही। बड़े प्रभावशाली समझदार व्यक्ति भी परिग्रह की मूर्च्छा मे फस जाते हैं और नाना प्रकार के अत्याचार एव अनाचार करने लगते है। जहाँ परिग्रह सचय की मूर्च्छा है, वहाँ ससार का कारणीभूत कर्मबन्ध अवश्य होता है। क्योकि परिग्रह के सद्भाव मे नियम से बन्ध होता है। आत्मा का हित परिग्रह की व्यग्रता दूर करने पर ही हो सकता है, परिग्रह के रहते हुए कल्याण सम्भव नही। अत-विनाशीक धन, वैभव की लालसा कर अपने मनुष्य जीवन को बिगाडना ठीक नही।

क्या राजा की सेना पाप रूपी शत्रु को जीत सकती है ?

पडेयोळ्बल्लिदनादोडा पडेयिनं पापारियं गेल्वने ? ।
कडुपिदं जवनं तेरळ्चुवने ? बल्पिं मोक्षमं कोंबने ? ॥
कडेगा भूपन शक्ति नाल्गळिगे सल्गुं मर्त्य कीटंगळोळ् ।
बिडु योगींद्रन शक्तिगावुदु समं रत्नाकराधीश्वरा! ॥७६॥

हे रत्नाकराधीश्वर !

यदि किसी राजा के पास अधिक सेना हो तो क्या वह अपने सैन्य बल से पाप रूपी शत्रु को जीत सकेगा ? अपने पराक्रम से यमराज को भगा देने वाली शक्ति प्राप्त कर क्या राजा मुक्ति को वश कर सकेगा ? अन्त मे राजा की शक्ति मनुष्य योनि मे चार घडी रह कर फलदायक होती है ? यह इसलिए त्याज्य है। योगीश्वर की शक्ति की समानता कौन दूसरी शक्ति कर सकती है ?

मनुष्य गति मे सबसे अधिक सम्पत्ति और ऐश्वर्य राजा के पास होता है। लौकिक सभी अभीष्ट पदार्थ उसके पास रहते है। सेना, बल, पराक्रम आदि के कारण उसकी आज्ञा भी सब कोई मानते है, वह अपने सैन्यबल से दुष्टो को दण्ड देता है, शासन-व्यवस्था स्थापित करता है। धन-जन की भी उसको कमी नही रहती, फिर भी वह कर्म-शत्रु को जीतने में असमर्थ है। वह इन्द्रियो का दास बना रहता है, जीवन भर इन्द्रिय-जन्य भोगो को भोगता रहता है। वह अपनी प्रभुता के दर्प के कारण कभी आत्मा पर विचार भी नही करता और न लोक परलोक के सम्बन्ध मे विचार करता है। निरन्तर उसकी प्रवृत्ति विषय भोगो की ओर रहती है तथा अपना वैभव और ऐश्वर्य बढाकर अपना नाम अमर करना चाहता है, किन्तु अपने कल्याण के सम्बन्ध मे तथा अपने कर्तव्यो के सम्बन्ध मे कभी विचार नही करता है। राजा के समान ही आजकल ऐश्वर्य मे मदोन्मत्त हो अधिकाश ससारी जीव भी अपने कर्तव्य को नही सोचते, इसी कारण उनका निरन्तर जन्म-मरण का चक्र चलता रहता है।

राजा यदि अपनी शक्ति का प्रदर्शन करना चाहे तो थोडे समय तक ही अपनी करामात दिखला सकेगा तथा उसकी यह ऐश्वर्य और विभूतियो से उत्पन्न हुई शक्ति भी केवल भौतिक ही होगी, आध्यात्मिक नही। वह अपने पूर्वोपार्जित पुण्य कर्म के उदय को भोगता है, पर वर्तमान जीवन मे पाप कर्म ही करता रहता है, जिससे उसका पापा-

नुवन्धी पुण्य कर्म-सन्तति को ही वढाने वाला होता है। अतएव राजा के समान प्रत्येक विषय-वासना के वशीभूत धनी मानी व्यक्ति को ससार की अनित्यता का विचार कर ज्ञानार्जन करना चाहिए। जो धन, सम्पत्ति पूर्व पुण्योदय से प्राप्त हुई है,वह एक क्षण मे ही पाप का उदय आने पर विलीन हो सकती है। नाना प्रयत्न करने पर भी इस चचल धन को कोई भी स्थिर नही रख सकता है। इसे पाकर झूठा गर्व करना और इसे अपना समझना वडी भारी मूर्खता है। चचल लक्ष्मी किसके यहाँ स्थिर रही है। चक्रवर्ती, वलभद्र, नारायण आदि वडे-वडे लक्ष्मीवान् थे, जिनके पास वसुन्धरा की अधिकाश विभूति सचित थी, नव निधियाँ और अष्ट सिद्धियाँ जिनके चरणो मे लोटती थी, जिनके पास देवलोग सेवा मे हाथ जोडे खड़े रहते थे, वे भी मृत्यु के मुख मे गये। आयु कर्म के पूर्ण होने पर वे भी एक क्षण यहाँ नही रह सके। उनकी सम्पत्ति भी स्थिर नही रह सकी, तव सामान्य व्यक्तियो की वात ही क्या ? अत. भौतिक साधनो से उत्पन्न शक्ति विशेप कार्यकारी नही होती है तथा इससे न कोई लौकिक कार्य ही किया जा सकता है। आत्मा की अचिन्त्य और अद्भुत शक्तियो का विकास इन भौतिक साधनो से नही हो सकता है।

योग के कारण आत्मा की शक्तियो का विकास होता है। इन्द्रिय और मन का निग्रह होने के कारण आत्मा की छिपी हुई शक्तियो का आविर्भाव हो जाता है। आत्मा का चिन्तन भी योगी सरलता से कर सकता है, वह अपने प्रयत्न द्वारा मन, वचन और कार्य की असत् प्रवृत्तियो को तो रोक ही देता है, पर सत्प्रवृत्तियो पर भी उसका नियंत्रण हो जाता है। योग को दूपित करने वाली कपाय, प्रमाद और अविरति की प्रवृत्ति भी रुक जाती है। इन्द्रियो की दासता समाप्त हो जाती है, स्पर्शन और रसना इन्द्रिय पर उसका पूर्ण आधिपत्य हो जाता है। रसना इन्द्रिय का निग्रह होने से योगी का शरीर भी पूर्ण स्वस्थ रहता है तथा सयम मे किसी भी प्रकार की वाधा नही आती है।

जिव्हा-लम्पटता के दूर हो जाने से आत्मा की छिपी शक्ति उत्पन्न हो जाती है। आचार विपयक पूर्ण शुद्धि हो जाने से योगी पूर्ण अहिंसक हो जाता है, जिससे उसकी आत्मा में ऐसी अद्भुत शक्तियाँ आ जाती हैं जिनके कारण हिसक जीव सिह आदि भी अपनी क्रूरता को छोड़कर सरल बन जाते है। विरोधी नकुल और सर्प अपनी विरोधवृत्ति को छोड देते है। अत जितेन्द्रिय व्यक्ति की शक्ति की तुलना किसी भी भौतिक सम्पत्ति के स्वामी से नही की जा सकती है।

स्तुति करने से, विनय करने से राजवंश, राजा इत्यादि सब वश हो जाते है

तम्मं कीर्तिसे नल्मेयोल्मे कडुचागं कूडे संभाषणं ।
निम्मं कीर्तिस लड्डमोरे बडचागं मौनमी भूमिपर् ॥
तम्मं कोल्व नरेन्द्रंनं पोगळलळिकंमन्निपर् निम्मळे-
हम्मं तोर्परो कावनोळ् कलहवे रत्नाकराधीश्वरा ॥७७॥

हे रत्नाकराधीश्वर !

स्तुति करने से राजाओ मे प्रेम, दया, अधिक दान देने, सत्य बोलने आदि के भाव उत्पन्न होते हैं। दूसरों की स्तुति करने से मुँह बनाना, अल्प दान देना, तथा मौन रहने के भाव उत्पन्न होते हैं। राजा लोग शत्रु राजाओ की स्तुति सुनकर भय से क्षमा करते हैं। इन बातों से इनके अहकार का पता लगता है। राजा लोग दूसरो के रक्षक हैं। पर न मालूम ये आपस मे किसलिए झगडते है ?

मनुष्य का कुछ ऐसा स्वभाव है, जिससे वह अपनी प्रशंसा और स्तुति सुन कर प्रसन्न होता है। यह प्रवृत्ति रक से लेकर राजा तक मे हम पाते है। राजा लोग भी अपनी स्तुति और गुणगान करने वाले को प्रसन्न होकर अधिक धन देते हैं। याचक को मनमाना धन देकर कृतार्थ कर देते है। पर जो उनकी प्रशसा नही करता है, गुणगान नही

करता है उसे अल्पधन देते है या बिल्कुल नही देते। ऐसे पर प्रशसक व्यक्ति से भी नाराज हो जाते है जिससे उसकी अभिलाषा को धन द्वारा पूर्ण नही करते। क्योकि मनुष्य मात्र का यह स्वभाव होता है कि उसे जितनी अपनी प्रशसा और स्तुति प्रिय होती है, उतनी अन्य व्यक्ति की नही। इस कारण वह अन्य व्यक्ति की प्रशंसा से प्रसन्न नही होता। लौकिक कार्य जिस व्यक्ति से कराता है, उसकी प्रशसा या स्तुति करनी ही पड़ती है। यद्यपि आध्यात्मिक दृष्टि से उस व्यक्ति की यह क्रिया नितान्त गर्हित है, क्योकि निन्दा और स्तुति दोनो ही उसके लिए समान होनी चाहिए। यह तो व्यक्ति की कमजोरी है, जो अपनी स्तुति और प्रशंसा को सुनकर प्रसन्न होता है और अन्य की प्रशंसा को सुन कर असतुष्ट। जिसकी आत्मा मे शक्ति उद्बुद्ध हो जाती है, उसका यह सकुचित दायरा नही रहता है। उसे गुणी मनुष्य के गुण प्रिय होते हैं, गुणो की प्रशंसा सुनकर उसे मन मे हर्ष होता है। परन्तु राजा महाराजाओ की प्रकृति यही होती है कि वे अपनी स्तुति और गुणगान से ही प्रसन्न होते हैं।

शत्रु राजाओ की प्रशसा और कीर्ति को सुनकर उनके मन मे ईर्ष्या बुद्धि उत्पन्न होती है। वे उनके गुणो को सहन करने मे असमर्थ होते हैं। इसी कारण उनमे अहर्निश परस्पर सघर्ष होता रहता है, वे लड-झगड़ कर अपनी शक्ति को नप्ट करते है। अत राज्य के प्राप्त होने पर भी आत्मिक शान्ति नही मिल सकती है। इसके लिए उदार और विशाल हृदय बनाना पडेगा। जो व्यक्ति चाहे वह राजा हो या रक, सकीर्ण विचार का है, उसे रात-दिन सघर्प करना ही पडता है। वह मिथ्या अहंकार के वशीभूत होकर अपनी महत्वाकाक्षाओ की पूर्ति के लिए नानाप्रकार के कष्ट सहता है। सकीर्ण और सकुचित सीमा के भीतर बध कर उसे मानसिक अशान्ति महन करनी पडती है। अत प्रत्येक को उदार और सहनशील बनना चाहिए। इस मनुष्य जीवन को पाकर जो व्यक्ति निन्दा और स्तुति मे समता नही रख सकता है तथा जिसने

अ ानी प्रवृत्तियो को अहिसक नही बनाया है, उसका इस जीवन का पाना ही निरर्थक है। जिस व्यक्ति को अपनी आत्मा की शुद्धि करनी है, उसे अपनी आलोचना अवश्य करनी चाहिए। अन्य व्यक्ति की गलती देखना आसान बात है, क्योंकि मनुष्य की प्रवृत्ति छिद्रान्वेषण की होती है, वह दूसरो की त्रुटियाँ देखता है, अपनी नही। यदि अपनी त्रुटियो पर ध्यान पहुँच जाय तो फिर कल्याण होने मे विलम्ब न लगे।

आत्म-आलोचना के समान उपकारी कोई व्रत नही है। आलोचक अपनी कमियो को दूर करने का प्रयत्न करता रहता है। इसी कारण अन्य द्वारा सच्ची भावना से की गयी आलोचना कल्याण मार्ग मे बढाने वाली ही होती है। अत आलोचक को सदा अपना मित्र समझना चाहिए। जिन व्यक्तियो मे अहिसा, सत्य, अचौर्य, ब्रह्मचर्य और अपरिग्रह की भावनाए पूर्णतया या आशिकतया आ जाती है, वे अपनी आलोचना स्वय भी करते है तथा अन्य द्वारा की गई अपनी आलोचना को भी धैर्यपूर्वक सुनते है। अत मोक्ष-मार्ग का अनुसरण करने के लिए अपने दुर्गुणो तथा अन्य के गुणो को प्रकट करना चाहिए। ससार के समस्त प्राणियो के प्रति मित्रता की भावना रखनी चाहिए। जो व्यक्ति गुणवान है, उनके गुणो को देखकर मन मे आह्लादित होना चाहिए। जो विपरीत वृत्ति वाले है, लाख समझाने पर भी जो कुमार्ग को नही छोडते है, उनसे माध्यस्थ भाव रखना चाहिए। सुख दु ख मे मनुष्य को समान वृत्ति होना चाहिए, संसार के मोह-माया से जो तटस्थ है, वह व्यक्ति घर मे रहता हुआ भी साधु के तुल्य है, विचार अहिसक होने के साथ क्रिया और व्यवहार मे भी अहिसा को स्थान देना चाहिए। सर्वदा इस बात का ध्यान रखना कि अपने किसी भी व्यवहार से किसी के मन को दु ख न हो, यह मोक्ष मार्ग की प्राप्ति मे बडा सहायक है।

आरिंदाददो राजलक्ष्मियदु निम्मिदाददुदेतेंदोडा-
चार मुन्नगुमात्रमिदें फलदिदा जोवको जन्मदोळ् ।
सेरित्ता चरणक्के नोने पति निन्नं मण्दव कष्ट स-
सारांभोधिय दांटलेनरिवने रत्नाकराधीश्वरा ॥७८॥

हे रत्नाकराधीश्वर !

पूर्व जन्म मे किए हुए पुण्याचरण से इस जन्म मे राज सम्पत्ति की प्राप्ति होती है। पूर्व मे किए हुए व्रताचरण की मात्रा स्वल्प भी हो, फिर भी उसी की वजह से जीवात्मा को इस जन्म मे राज सम्पत्ति मिलती है। उमी व्रताचरण का जीव आप ही प्रभु हो गया। क्या जीव दु खमय ससार रूपी समुद्र को पार करने का उपाय समझेगा ?

जन्म जन्मान्तर के कर्मो का फल प्रत्येक व्यक्ति को भोगना पडता है । प्रधानत कर्म दो प्रकार के है —पुण्य कर्म और पाप कर्म । पुण्य कर्म के उदय से व्यक्ति को नाना प्रकार की सुख सामग्री मिलती है और पाप कर्मो के उदय से दु ख सामग्री। राज्य विभूति भी पूर्व जन्म के पुण्य से ही मिलती है। जो बडा भारी पुण्य करते है, कर्मो की निर्जरा करते है तथा सदाचरण द्वारा निरन्तर पुण्योपार्जन करते रहते है, अगले जन्म मे या उसी जन्म में पुण्य के उदय होने पर उन्हे राजपदवी मिलती है। थोडे से व्रत पालने तथा इन्द्रिय और मन के निग्रह करने से ही जीव को पुण्योदय आने पर राज-पद मिलने मे सन्देह नही रहता है। जब थोडे व्रताचरण का फल राज्य-पद पाना है तो पूर्ण व्रताचरण के पालने पर क्या निर्वाण-लक्ष्मी की प्राप्ति नही हो सकेगी ? व्रताचरण करने से अपूर्व शक्ति मिलती है। जो जीव उत्तम क्षमादि दस धर्मो का पालन करता है, रत्नत्रय धर्म का आचरण कर रहा है तथा गुप्ति, समिति और अनुप्रेक्षाओ का चिन्तन भी करता रहता है, वह निर्वाण मार्ग का पथिक है और कभी न कभी मोक्ष को प्राप्त कर ही लेता है। निर्वाण लक्ष्मी को पा लेने पर मनुष्य

सदा के लिए कृतकृत्य हो जाता है, उसकी आत्मा निर्मल निकल आती है। अत प्रत्येक व्यक्ति को दृढ आत्मविश्वास, सद्‌विवेक और सदाचरण द्वारा निर्वाण-प्राप्ति के लिए प्रयत्न करना चाहिए।

यह आत्मा अनादिकालीन अपनी भूल-मिथ्यादर्शन मिथ्याज्ञान और मिथ्याचारित्र के कारण संसारी बना हुआ है। इस भूल के सम्यक्‌रूप मे पृथक्‌ करते ही यह आत्मा कल्याण-पथ का पथिक बन जाता है। क्योंकि आत्मीय भावो के सम्यक्‌ होने ही मिथ्यात्व को स्थान नही मिलता। कषायो और राग द्वेष की परिणति जो रत्नत्रय के स्वरूप को विकृत किये हुए थी, निकल जाती है जिससे जीव को आत्मानुभूति हो जाती है, उसकी पर पदार्थो की आसक्ति दूर हो जाती है। उसकी भावनाएँ निर्मल हो जाती हैं। यद्यपि ससार मे आयु के अन्तिम क्षण तक उसे अपनी क्रियाएँ करनी पडती है, परन्तु वह उनमे लिप्त नही होता। सभी क्रियाओ को करता हुआ भी अनासक्त रहता है। फल की आकाक्षा उसे नही रहती तथा आत्मा के क्रिया व्यापारो का सम्बन्ध भी नही मानता है। वह निर्लिप्त और निष्काम होकर समस्त कार्यो को करता रहता है।

मोक्ष-मार्ग के पथिक को अपने भावो को निरन्तर उज्ज्वल बनाने की ओर ध्यान देना चाहिए। उसे अपना निरीक्षण सदा करते रहना चाहिए तथा सतर्कता पूर्वक अपने विपरीत भावो का निरोध करना चाहिए। जो रागादि भाव उत्पन्न हो रहे है, आत्मा को विकृत कर रहे है, उन्हे पौद्‌गलिक कर्मकृत मानना चाहिए। इन परकृत भावो मे हर्ष-विषाद न करना तथा इन्हे आत्मा के व्यभिचारी समझना आत्मानुभवी का कार्य है। सबसे पहले प्रत्येक जीव को अपनी दृढ आत्मिक श्रद्धा को उत्पन्न करना चाहिए। जब श्रद्धा दृढ़ हो जाती है, विषयों से निवृत्ति होने लगती है तो तत्वज्ञान की प्राप्ति हो ही जाती है। अभिप्राय यह है कि कल्याण-पथ का अनुसरण वही कर सकता है, जो सर्व प्रथम ससार के पदार्थो को आत्मा मे पर अनुभव कर ले। आत्मानुभूति के बिना अन्य

क्रिया व्यापार निरर्थक हैं। लाटी सहिता में बताया है कि—

एकादशागपाठोऽपि तस्य स्याद् द्रव्यरूपत ।
आत्मानुभूति शून्यत्वाद् भावत सविदुज्झित ॥
न वाच्यं पाठमात्रत्वमस्ति तस्येह नार्थत ।
यतस्तस्योपदेशाद्वै ज्ञान विन्दन्ति केचन ॥
तत्रोल्लेखोऽस्ति विख्यात परिआदिक्षमोपिय ।
न स्याच्छुद्धानुभूति सा तत्र मिथ्यादृशि स्फुटम् ॥

द्रव्य रूप से ग्यारह अगो का अध्ययन करने पर तथा बाह्य रूप से महाव्रतो की क्रियाम्रो का पालन करने पर भी जो शुद्धात्मा का अनुभव नही करता है, वह मिथ्यादृष्टि ही रहता है। शुद्धात्मानुभूति के न होने से ग्यारह अगो का ज्ञान भी मिथ्याज्ञान ही रह जाता है। कारण स्पष्ट है कि स्वात्मानुभूति, सम्यग्दर्शन मे ऐसी विलक्षणता वर्तमान है जिससे ज्ञान मे सम्यक्पना आता है, इसके बिना चाहे जितना बडा ज्ञान हो, मिथ्याज्ञान ही होता है। अत परम पुण्य के अर्जन के लिए सबसे प्रथम स्वात्मानुभूति-सम्यग्दर्शन को प्राप्त करना चाहिए।

इसका भावार्थ यह है कि कवि ने इस श्लोक मे इस प्रकार का विवेचन किया है कि अनादि काल से यह जीव पाप और पुण्य के अनुसार ससार मे विषय भोग को भोगता आया है। आज मनुष्य पर्याय धारण करके पूर्व जन्म के पुण्य के सचय से भोग सामग्री भोग रहा है, जन्म जन्मान्तर से इसी प्रकार का इन्द्रिय-सुख भोगा होगा परन्तु स्व पर का ज्ञान करके अपने आत्मस्वरूप की पहचान नही की। इसलिए यहाँ कवि बतलाते हैं कि हे जीवात्मन्! अब तू पर पदार्थ मे जो अहकार है उस अहकार को छोड करके आत्मा का ध्यान कर। इसके बारे मे अमितगति आचार्य ने कहा है कि—

गुरोऽहं शुभधीरह पटुरह सर्वाधिकश्रीरह ।
मान्योऽह गुणवानह विभुरह पुंसामह चाग्रणी ।

इत्यात्मन्नपहाय दुष्कृतकरी त्वं सर्वथा कल्पनाम् ।
शश्वद्‌ध्याय तदात्मतत्वममल नैश्रेयसी श्रीर्यत. ।।

यहाँ पर आचार्य ने वताया है कि आत्म-ध्यान के लिए आत्मा के यथार्थ ज्ञान होने की आवश्यकता है। संसारी लोग शरीर, धन, कुटुम्ब, प्रतिष्ठा, वल, वुद्धि आदि पाकर ऐसा अहकार कर लेते है कि मै सुन्दर हूँ, मै धनवान हूँ, मैं वहुकुटुम्वी हूँ, मै प्रतिष्ठावान् हूँ, मैं वलवान हूँ, मै वुद्धिमान हूँ। यह उनका मानना विल्कुल मिथ्या है क्योकि एक दिन वह आयेगा जिस दिन ये सव पर पदार्थ व परभाव जो कर्मो के निमित्त से हुए है छूट जायेगे और यह जीव अपने वाधे पुण्य पाप को लेकर चला जायेगा। ज्ञानी जीव अपना आत्मपना अपने आत्मा में ही रखते है। वे निश्चय नय के द्वारा अपने आत्मा के असली स्वभाव पर निश्चय रखते है कि यह आत्मा सर्व रागादि विभावो से रहित है। सर्व कर्म के वंधनो से रहित है। सर्व प्रकार के शरीरो से रहित है। आत्मा का सम्वन्ध किसी चेतन व अचेतन पदार्थ से नही है। ये सव शरीर से सम्वन्ध रखते है जो मात्र इस आत्मा का क्षणिक घर है। इसलिए उन ज्ञानी जीवो की अहवुद्धि अपने ही शुद्ध स्वरूप पर रहती है। व्यवहार मे काम करते हुए गृहस्थ ज्ञानी चाहे यह कहे कि मै राजा हूँ, शूर हूँ, चतुर हूँ, गुणवान हूँ, समर्थ हूँ परन्तु वह अपने भीतर जानते है कि मुझे व्यवहार के चलाने के लिए व्यवहार नय से ऐसा कहना पडता है परन्तु मै इन स्वरूप असल मे नहीं हूँ। मै तो वास्तव मे सिद्ध भगवान् के समान ज्ञाता दृष्टा आनन्दमई पदार्थ हूँ। ऐसा श्रद्धान रखता हुआ ज्ञानी जीव सर्व ही व्यावहारिक कल्पना जाल को जो पाप वन्ध का कारण है छोड़ कर एक अपने आत्मा को ही निश्चल मन करके ध्याता है। आत्मा के ध्यान से ही वीतरागता की अग्नि जलती है जो कर्मो के ईंधन को जला देती है और आत्मा को सुवर्ण के समान शुद्ध करती चली जाती है। इसलिए ज्ञानी को आत्मध्यान ही करना योग्य है जिससे मुक्ति लक्ष्मी स्वयं

आकर मिल जावे और ससार के चक्र की फिरन मिट जावे ।

एकत्वाशीति मे श्री पद्मनदि मुनि कहते है—

शुद्ध यदेव चैतन्य तदेवाह न सशय ।
यथा कल्पनया येतद्धीनमानन्दमदिरम् ॥

जो कोई शुद्ध चैतन्यमयी पदार्थ है वही मै हूँ इसमे कोई सशय नही है । यह वचन रूप व विचार रूप कल्पना भी जिसमे नही है ऐसा मै एक आनन्द का घर हूँ ।

अह चैतन्यमेवैक नान्यत्किमपि जातुचित् ।
सबधोऽपि न केनापि दृढपक्षो ममेदृश ॥

मैं एक चैतन्यमई हूँ, और कुछ अन्य रूप कभी नही होता हूँ । मेरा किसी भी पदार्थ से कोई सम्बन्ध नही है, यह मेरा पक्ष परम मजबूत ऐसा ही है ।

पूर्व जन्म मे किये हुये पुण्य का फल अल्पतर रहता है । इसलिए वह भी क्षणिक है ।

अनुमात्रं व्रतमल्पकालमिरे मुन्नं तत्फलप्राप्तियि ।
प्रणुतक्ष्मापतियादे निन्न नुदिनं सम्यग्व्रताचार ल-॥
क्षणमं शाश्वतवांतु देवपदमं कैवल्यमं कोवेनें ।
देणिसुत्तुज्जुगिपातने सुखियला रत्नाकराधीश्वरा ॥७६॥

हे रत्नाकराधीश्वर !

पूर्व जन्म मे किए हुए व्रताचरण का फल स्वल्प ही काल तक रहता है । उस फल से मनुष्य स्तुति करने योग्य राजा वन जाता है । जो मनुष्य श्रेष्ठ व्रताचरण के द्वारा स्वर्ग और शाश्वत मोक्ष को अगीकार करने के विचार मे प्रयत्न करता है वही सुखी होता है ।

प्रत्येक जीव को कृतकर्मो का फल अवश्य ही भोगना पडता है। चाहे वह राजा हो, चाहे दीन, चाहे समर्थ, चाहे असमर्थ, चाहे मूर्ख, चाहे विद्वान पर कर्म के फल से वच नही सकता। जीव को कर्म और कर्मफल की श्रद्धा कर अपने आचार विचार को शुद्ध करना चाहिए। यो तो पाप कर्मो की सख्या गिनायी नही जा सकती है, पर आगम मे प्रमुख-प्रमुख पाप कर्मो के नाम गिनाये गये हैं।

जीवो का वध करना, झूठ वोलना, चोरी करना, कुशील सेवन करना, परिग्रह सचय करना, भगवान् की मूर्ति का अपमान करना, शास्त्रो का विपरीत अर्थ लगाना, मिथ्या लेख लिखना, स्वच्छन्द होकर अनर्गल चलना, मद्य-मांस का भक्षण करना, अन्याय करना, अभक्ष्य पदार्थो का सेवन करना, कलहकारी उपदेश देना, श्रेष्ठ सदाचारी व्यक्तियो की निन्दा करना, धर्मात्माओ की निन्दा करना, विकथाएँ-राग उत्पन्न करने वाली चर्चाएँ करना, किसी को कष्ट देने का विचार करना, कुशील सेवन का मन मे सकल्प या विचार करना, आर्त्त-रौद्र ध्यान करना, भोग विलास का विचार करना, व्यसन सेवन का विचार करना या तद्रूप प्रवृत्ति करना आदि पाप है। इन कार्यो को करने से पाप का वन्ध होता है। यदि जीव अपनी भलाई चाहता है, सुखी वनना चाहता है तो उसे ऐसा व्यवहार करना चाहिए जिससे किसी भी जीव को कष्ट न हो।

जो व्यक्ति अपनी राग प्रवृत्ति का त्याग कर व्रताचरण को करता है, ससार मे परिभ्रमण कराने वाली क्रियाओ का त्याग करता है तथा निर्भय होकर अपने कर्त्तव्य का पालन करता रहता है, वह व्यक्ति सासारिक कष्टो को नही पाता है और कालान्तर मे उसे निर्वाण पद की प्राप्ति हो ही जाती है। अत पाप कर्मो से सदा विरत रहना चाहिए। प्रत्येक का कर्तव्य है कि वह कल्याणकारी गृहस्थ धर्म का पालन करे। गृहस्थ के लिए सर्व प्रथम अष्ट मूलगुणो का धारण करना आवश्यक है। जव तक श्रावक मूलगुण धारण नही करता है, श्रावक नही कहा जा सकता है।

श्रावक को श्रद्धालु, ज्ञानवान् और क्रियावान् होना चाहिए। मद्य, मांस, मधु और पच उदम्बर फल—वड़, पीपल, पाकर, ऊमर एवं गूलर इन फलो का त्याग करना चाहिए। इन फलो के खाने से त्रस हिंसा होती है। छोटे-छोटे कीटाणु जो इनमे निवास करते हैं, उदरस्थ हो जाते है। अष्ट मूलगुणो को धारण करने के उपरान्त अभक्ष्य भक्षण और जुआ खेलना, मास खाना, मदिरा पान करना, शिकार खेलना, चोरी, परस्त्री-रमण, वेश्या गमन करना इन सप्त व्यसनो का त्याग करना भी आवश्यक है। ये व्यसन आत्मा के स्वरूप को भुला देते है, आत्मा का कल्याण नही होने देते है। अभक्ष्यभक्षण करने से विचार और भावनाएँ कुठित हो जाती है, जिससे व्यक्ति की धर्माचरण की ओर प्रवृत्ति नही होती है। गृहस्थ को अपने आचरण को वढाने के लिए सम्यग्दर्शन के साथ द्वादश व्रतो का भी पालन करना चाहिए। पॉच अणुव्रत—अहिंसाणुव्रत, सत्याणु-व्रत, अचौर्याणुव्रत, ब्रह्मचर्याणुव्रत, और परिग्रह परिमाणाणुव्रत, तीन गुणव्रत—दिग्व्रत, देशव्रत और अनर्थदण्डव्रत तथा चार शिक्षाव्रत-सामायिक, प्रोपधोपवास, भोगोपभोगपरिमाण एव अतिथि सविभाग इन वारह व्रतो का पालन करना चाहिए। श्री आशाधर जी ने गृहस्थ धर्म का वर्णन करते हुए वताया है—

सम्यक्त्वममलमणुगुणशिक्षाव्रतानि मरणान्ते।
सल्लेखना च विधिना पूर्णसागारधर्मोऽयम्॥

अर्थात् निर्मल सम्यग्दर्शन के साथ अणुव्रत, गुणव्रत और शिक्षा-व्रतो का धारण करना तथा अन्त में विधिपूर्वक समाधिमरण धारण करना गृहस्थ का पूर्ण धर्म है। जो गृहस्थ अपने इस कर्त्तव्य का पालन करता है, ससार के पदार्थो से मोहवुद्धि को हटाता है, विपय कपायो का त्याग करता है, वह अपने इस पुण्योदय के आने पर स्वर्ग और परम्परा से मोक्ष के सुख को प्राप्त कर लेता है। व्रताचरण करने से ही शाश्वत सुख मिलता है, अत गृहस्थ धर्म का पालन प्रत्येक व्यक्ति को अवश्यकरना चाहिए।

कवि ने इस श्लोक मे बताया है कि पूर्व जन्म मे किये हुए व्रताचरण का फल अल्प काल के लिए रहता है। इस फल से स्तुति करने योग्य राजा बन जाता है। जो मनुष्य व्रताचरण के द्वारा मोक्ष प्राप्ति का प्रयत्न करता है वही सुखी हो जाता है। क्योंकि केवल व्रताचरण से पुण्य का बन्ध हो जाता है परन्तु सम्यक्त्वरहित होने से मोक्ष का कारण नही होता है और पुण्य भी बन्ध का कारण होता है। केवल सम्यक्त्व सहित पुण्य ही मोक्ष के लिए कारण हो सकता है। श्री कुन्दकुन्दाचार्य ने पुण्य तथा पाप का स्वरूप इस प्रकार बताया है—

मोहो रागो दोसो चित्तपसादो य जस्स भावम्मि।
विज्जदि तस्स सुहो वा असुहो वा होदि परिणामो ॥

इस गाथा मे आचार्य ने भाव पाप और भाव पुण्य का स्वरूप बताया है जो क्रम से द्रव्य पाप और द्रव्य-पुण्य के बध के निमित्त है। मिथ्यात्व भाव बड़ा प्रबल भाव पाप है जिसके कारण इस भाव के धारी जीव मे पर्याय बुद्धि होती है जिससे वह शरीर मे और शरीर सम्बन्धी इन्द्रियो के विषयो मे और उनके सहकारी पदार्थो मे अतिशय लीन होता है। और अपने सासारिक प्रयोजन की सिद्धि के लिए अनेक अन्याय रूप उपायो से भी काम लेता है। इसलिए सर्व पाप भावो का मूल कारण यह मिथ्यादर्शन रूप भाव पाप है। इस ही के निमित्त से अनन्तानुबन्धी कषायजनित राग और द्वेष की प्रवृत्ति होती है जिससे यह प्राणी अपने इष्ट पदार्थो मे तीव्र राग तथा अनिष्ट पदार्थों से तीव्र द्वेष करता है। कभी-कभी मिथ्यादृष्टि के भी मन्द मिथ्यात्व और मन्द अनतानुबन्धी कषाय के उदय से दान, पूजा, व्रत, शील आदि सम्बन्धी राग-भाव होता है जिससे वह भावपुण्य रूप भी हो जाता है। तब पुण्य भी बाधता है। परन्तु यह पुण्य भाव परम्परागत पाप का ही कारण होता है। इसीलिए आचार्यो ने धर्म-ध्यान चौथे अविरत सम्यग्दृष्टि गुणस्थान मे पहले नही माना है, तो भी मिथ्यादृष्टि सातावेदनीय

देवायु, उच्चगोत्र आदि पुण्य कर्मों का बध कर सकता है। इसलिए उस द्रव्य पुण्यबन्ध के हेतु रूप भावपुण्य का होना उसके सम्भव है। पचेन्द्रिय सैनी जीव के लेश्या भी छहो पाई जाती है जिनमे पीत, पद्म और शुक्ल शुभ लेश्याएँ है। इनके परिणामो मे अधिकतर पुण्य-कर्म का बन्ध होता है। वास्तव मे पापकर्म का उदय अधिक आकुलता का कारण है जबकि पुण्य-कर्म का उदय कुछ देर आकुलता के घटाने का कारण है। वर्तमान काल मे उदय आकर पाप कर्म जब दु खदाई है तब शुभ कर्म सुखदाई है। यद्यपि बध की अपेक्षा दोनो ही त्यागने योग्य है तथापि जबतक मोक्ष न हो तब तक पुण्यकर्म का उदय साताकारी है तथा मोक्ष के योग्य सामग्री मिलने का भी कारण है। इसीलिए पूज्यपाद स्वामी ने इष्टोपदेश मे बहुत ही सुन्दर कहा है—

वर व्रतै. पद देव नाव्रतैर्वत नारक।
छायातपस्थयोर्भेद प्रतिपालयतोर्महान् ॥

हिंसा आदि पच पापो की अपेक्षा जीव दया, सत्यवचन आदि पाच व्रतो का पालना बहुत अच्छा है क्योकि हिंसादि पापो से जब नरक मे जाता है तब जीव दया आदि पुण्य कर्म से देव हो सकता है। नरक मे जब असाताकारी सम्बन्ध है तब देवगति मे साताकारी सम्बन्ध है। जब तक मोक्ष न हो, देवगति मे व मनुष्य गति मे रहना नरक गति व पशु गति मे रहने की अपेक्षा उसी तरह ठीक है जैसे किसी के आने की राह देखने वाले दो पुरुषो मे से एक का छाया मे खडा रहना दूसरे के धूप मे खडे रहने से बहुत अच्छा है।

भीतर से जब स्वाभाविक प्रसन्नता होती है तब ही चित्ताह्लाद कहलाता है। यह प्रसन्नता सक्लेश भाव के घटने और विशुद्ध भाव या मन्द कषाय के बढने से होती है। जैसे किसी को दयापूर्वक दान देने से भीतर मे हर्ष होता है, इस ही का नाम चित्त प्रसाद है। जो दुष्ट भाव-धारियो के चित्त मे दूसरो को दुखी होते देखकर व विषय-भोगियो के

चित्त मे इच्छित काम भोग के विषय मिलने पर हर्ष होता है वह सक्लेश भावरूप है । तीव्र कपाय, क्रोध या लोभ से उत्पन्न है सो चित्त-प्रसाद नही है । जहाँ कषाय की मदता होकर विना किसी बनावट के अन्तरग मे आनन्द हो जाता है, उसे ही चित्तप्रसाद कहते हैं । परोपकार व सेवाधर्म मे यह चित्त-प्रसाद अवश्य होता है इसी से परोपकार को पुण्य कहा है ।

भगवान् की विनयपूर्वक स्तुति-भक्ति करने वाला भव्य जीव ही सुखी होता है ।

भृत्यं तन्ननदेंतु काण्बनवनंतुर्वीश्वरं निम्मं क-
इत्यानंददे काण्के केय्मुगितमष्टांगातनंसन्मुख- ॥
स्तौत्यं सेवेगळेबिवं नगळुतं नविदोडातंगे त-
त्प्रत्यर्थिक्षितिपालरेनेरगरे रत्नाकराधीश्वरा ॥८०॥

हे रत्नाकराधीश्वर !

जिस प्रकार स्वामी को देखकर सेवक हाथ जोड कर नमस्कार करता है उसी प्रकार जो राजा भगवान को देखकर हाथ जोड कर आनन्द-पूर्वक दर्शन करता है, अष्टाग नमस्कार करता है, स्तोत्र पढता है तथा सेवा करते हुए आप पर विश्वास रखता है वह राजा क्या अपने शत्रु राजाओ से वन्दनीय नही होगा ?

वैभव प्राप्त कर जो राजे महाराजे भगवान् की भक्ति करना नही छोडते हैं, निरन्तर प्रभु-चरणो का स्मरण कर अपनी आत्मा को पवित्र करते रहते है तथा भावपूर्ण स्तोत्रों को पढकर जो अपनी आत्मा को समुज्ज्वल करते रहते है, वे राजा अन्य राजाओ द्वारा पूज्य तो होते ही है, पर सद्गति को भी प्राप्त करते है । ससार मे जीवन उन्ही का सफल माना जाता है, जो जिनेन्द्र भगवान् की भक्ति द्वारा अपने पापों को नष्ट करते है । भगवान् की भक्ति आत्मा के निजी गुणो को उद्बुद्ध

जिनेन्द्र प्रभु के समक्ष भक्ति में विव्हल एक गृहस्थ

करने में परम सहायक होती है। वीतरागी प्रभु यद्यपि भक्त को स्वयं कुछ देते नहीं हैं, फिर भी उनकी भक्ति करने से अन्तरात्मा इतनी पवित्र हो जाती है जिससे सभी शक्तियाँ अपने आप प्राप्त हो जाती हैं। लक्ष्मी को प्राप्त कर अपने कर्तव्य को भूल जाना बडी भारी मूर्खता है। गृहस्थ के देव-पूजा, गुरु-भक्ति स्वाध्याय, सयम, तप और दान इन षट् कर्मों में देव पूजा को प्रथम स्थान दिया है, क्योंकि भगवान् की पूजा, अर्चा करने से अपने कर्तव्य कर्म का ज्ञान प्राप्त होता है तथा आत्मा मे अनेक गुणो का आविर्भाव होता है, मानवोचित गुणों की प्राप्ति होती है, इन्द्रियो की दासता समाप्त हो जाती है तथा आत्मा का बोध हो जाता है।

प्रभु भक्ति करने से ससार से वैराग्य हो जाता है। चचल लक्ष्मी, यौवन, पुत्र, स्त्री आदि पदार्थों की विनाशीकता को समझ जाता है। उसे कर्त्तव्य और अकर्त्तव्य का ज्ञान हो जाता है। प्रतिदिन भगवान् के दर्शन करने से आत्मा मे अपूर्व शक्ति आ जाती है, भोगोपभोग के पदार्थ उसे फीके जँचने लगते हैं तथा ऐसा भक्त जीव इन पदार्थों को पर समझने लगता है। उसे प्रभु भक्ति मे अपूर्व रस और आनन्द आता है, वह समस्त ससार के भोगो मे नीरसता का अनुभव करने लगता है। क्रोध, मान माया और लोभ ये चारों कषायें जिनके कारण इस जीव को रात-दिन व्याकुलता बनी रहती है, मन्द हो जाती हैं। प्रभु-भक्ति से सम्यग्दर्शन की प्राप्ति हो जाने पर आत्मा मे अपरिमित शक्ति आ जाती है। वह किसी भी असभव कार्य को कर सकता है, नाना प्रकार की विपत्तियाँ आने पर भी वह कार्य से डिगता नही है। दया और क्षमा की अपूर्व प्रवृत्ति उसमे उत्पन्न हो जाती है। आत्मा के गुणों का आविर्भाव हो जाने से वह सोचता है कि—

लक्ष्मी व्याधमृगीमतीवचपलामाश्रित्य भूपा मृगाः
पुत्रादीन्नपरान्मृगानतिरुषा निघ्नन्ति सेर्ष्यं किल।

सज्जीभूतघनापदुन्नतधनुः संलग्नसंहृच्छरं ।
नो पश्यन्ति समीपमागतमपि क्रुद्धं यमं लुब्धकम् ॥

जिस समय कोई शिकारी हिरणों को मारने के लोभ से अपनी पालतू मृगी को बन मे छोड देता है तथा स्वयं हाथ में धनुष लेकर पास में बैठ जाता है, उस समय जिस प्रकार कामी मृग उस मृगी को पाने के लिए लड़ते हैं तथा आयी हुई आपत्ति का कुछ भी ध्यान नही करते है, उसी प्रकार यह संसारी जीव शिकारी की मृगी के समान इस लक्ष्मी को पाकर परस्पर लड़ते हैं तथा उस लक्ष्मी के लिए अपने मित्र, बन्धु, पुत्र आदि को मार डालते हैं। वे यह नही समझते कि यह लक्ष्मी हमारे साथ जाने वाली नही है। इसका आत्मा के साथ कोई सम्बन्ध नही है, लक्ष्मी को अपना मानने से कितने सकट आयेंगे तथा क्या-क्या आपत्तियाँ भोगनी पड़ेगी। जीवन भी क्षणिक है, यमराज का भय सिर पर छाया हुआ है अतः इस हाय-हाय के फन्दे मे पड़ने से क्या लाभ ?

इस संसार मे विपत्तियाँ तो आती ही है। जो विपत्तियों के प्राप्त होने पर खेद करता है, या पश्चात्ताप करता है वह विवेकशून्य ही माना जायगा। विवेकी पुरुष ससार मे रहता हुआ भी इससे भिन्न ही रहता है। ससार की मोह माया या तृष्णा उसे अपनी ओर आकृष्ट नहीं करती है, वह तटस्थ भाव से ससार का दर्शक बना रहता है। पदार्थों के विकल्प उसके मन मे उत्पन्न होते हैं, उसके ज्ञान पर उनका चित्र आता है पर वह उनमे अनुरक्त नहीं होता है। वह सर्वदा अपने को पर पदार्थों से भिन्न समझता और विनीत रहता है।

विनीत का लक्षण

विनीत के लक्षण का जब तक ज्ञान न हो जाय तब तक विनय का स्वरूप जाना नही जा सकता है। किसी कवि ने कहा है कि—

आज्ञानिर्देशकरः गुरूणामुपपातकारकः।
इंगिताकारसम्पन्नः स विनीत इत्युच्यते ॥

आचार्य आदि की आज्ञा को मानने वाले, उनके निकट रहने वाले, सूक्ष्म बुद्धि वालो से जानने योग्य गुरु आदि की भूचालन आदि चेष्टा आकार, स्थूल बुद्धि वालो से भी समझने योग्य गमनादि सूचक दिशा की अवलोकनादि चेष्टा । गुरु आदि की इन दोनों बातो को अच्छी तरह से जानने वाला जो शिष्य होता है वह तीर्थंकर गणधर आदि के द्वारा विनीत कहा गया है ।

यह करो, यह न करो इस प्रकार विधिरूप और निषेध रूप जो गुरु के वचन है वे आज्ञा शब्द से ग्रहण किए गए हैं । आपके वचन के अनु-सार ही प्रवृत्ति करने का भाव है, अन्यथा नही, इस प्रकार शिष्य का कथन निर्देश है । इस निर्देश का अच्छी तरह से पालन करने वाला अज्ञानी निर्देशकार है अथवा अज्ञात तीर्थंकर प्रभु की वाणी के द्वारा अपवाद मार्ग का उपदेश अर्थात् विधान के अनुसार करने वाला अज्ञानी निर्देशकार कहा जाता है । उपपात शब्द का अर्थ है समीप बैठना । शिष्य का कर्तव्य है कि वह सदा अपने गुरु के समीप बैठे । उसकी आज्ञा का पालन करे । गुरु का अभिप्राय परखना यह साधारण बात नही है । यह बात तभी सीखी जाती है जब शिष्य उनके पास ही बैठे, अन्यथा नही । विनीत गुरु की सेवा करने से आत्म कल्याण करता है ।

इस पर एक दृष्टान्त यह है कि—

धर्मसिह आचार्य के गुणनिधि नाम का एक शिष्य था । वह सुबुद्धि एव प्रकृति भद्र था, विनीत था । गुरु महाराज के पास बैठना, उनके वचन के अनुसार चलना, उनकी मनोवृत्ति के अनुकूल काम करना इत्यादि सब गुणो से सहित था । जब गुरु महाराज बुलाते तो विनय पूर्वक आसन देता । जब वह जाते तो आसन लेकर पीछे पीछे चलता । जहाँ गुरु महाराज बैठना चाहते वहाँ आसन बिछा देता । गुरु महाराज की आज्ञा कब और कैसे होगी उसकी प्रतीक्षा करता था । जिस प्रकार वह माँगते थे, उस उस ऋतु मे वही वस्तु गुरु महाराज को देता । गुरु ने जो कुछ कहा वही करना, यह समझकर कि गुरु महाराज कभी

भी अहित नही कर सकते। क्योंकि यह मेरे हितकारी है इस अभिप्राय से वह सदा गुरु की आज्ञा का पालन करता था। वह विश्वास रखता कि गुरु माता पिता से भी अधिक हितकारी होते हैं। माता-पिता तो इस जीव को प्रत्येक भव में प्राप्त होते है परन्तु मोक्ष का मार्ग बताने वाले गुरु बड़े भाग्य से मिलते है। गुरु का समागम बहुत दुर्लभ है। आत्म ज्ञान की प्राप्ति इनसे ही होती है। यहाँ तो कालत्रय मे सम्यग्दर्शन प्राप्त नही हो सकता है। जिस प्रकार सिद्धांजन आँखो मे आजने से जीवों को भूमिगत धन को देखने का कथन है उसी प्रकार गुरु की कृपा से आत्म ज्ञान का सभरण होने लगता है। जैसे दुग्ध के बिलौने से मक्खन का मिलना कठिन है उसी प्रकार रत्नत्रय का भी मिलना कठिन है। धन्य है गुरु महाराज। धर्मसिंह ने गुरु की स्तुति की जो इस प्रकार है—हे गुरु महाराज! आप मेघ की तरह मेरे चित्त रूपी चातक को करुणा रस से प्रमुदित करने वाले है। शम दम आदि गुण स्वरूप उद्यान को हरा-भरा बनाने वाले है। हे करुणा सागर! जब तक आपकी करुणा रसार्द्र दृष्टि जीव पर नही पडती तब तक उन्हे सम्यक्त्व का लाभ नही होता हैं। सम्यक्त्व प्राप्त किये बिना जीव कभी भी तत्वातत्वविवेक रूप अमृत से भरी हुई भावना को अपने मे नही भर सकता। अमृत भावना भरे बिना विशुद्ध ज्ञान कभी भी नही हो सकता। विशुद्ध ज्ञान की प्राप्ति के बिना जीव को क्षपकश्रेणी की प्राप्ति नही हो सकती है। शुक्ल ध्यान के दूसरे पाये की प्राप्ति के बिना केवल ज्ञान की प्राप्ति नही हो सकती है। केवल ज्ञान की प्राप्ति के बिना शैलेशी अवस्था प्राप्त नहीं हो सकती। शैलेशी अवस्था की प्राप्ति के बिना सकल कर्मो का क्षय नही हो सकता है। मुक्ति की प्राप्ति के बिना अमर पद नही मिल सकता है। इसलिए हे नाथ! आप ही सकल कल्याण के कारण है और प्रतिक्षण आपके चरणो में हमारी सयम आराधना है। इस प्रकार अपने गुरु की आज्ञा पालन करता रहा और थोड़े ही काल मे उसने आत्म-कल्याण किया। इसी तरह प्रत्येक भव्य मानव को गुरु सेवा, भगवान जिनेन्द्रदेव की भक्ति

करने से इह लोक और परलोक में सुख देने वाला और अन्त मे मोक्ष का मार्ग प्राप्त कराने वाला यह विनय गुण है, इसलिए कभी भी विनय को नही त्यागना चाहिए ।

प्रभु की भक्ति के लिए इन्द्र भी तत्पर रहता है

सुरपं तन्निभवित्त॒ मावतिगनप्पं कांतेयिं पाडिप ।
सुरसैन्यं सहवागि निम्मभिषवक्कोल्दूळिगं माळपना- ॥
दरदिं छत्रमनेत्तुवं नटिसुवं पल्लक्कियं ताळ्वनो ।
नरकीटादिगळेके गर्विसुवरो रत्नाकराधीश्वरा! ॥८१॥

हे रत्नाकराधीश्वर !

देवेन्द्र आपकी सेवा मे अपना ऐरावत नामक हाथी समर्पित कर महान् बन जाता है, अपनी पत्नी से गान करवाता है देवताओं की सेना के साथ आपके अभिषेक के लिए प्रेमपूर्वक सेवा करता है, विश्वास के साथ छत्र धारण करता है, नर्तन करता है और पालकी को उठाता है । जब इन्द्र की यह दशा है तो तुच्छ मनुष्य क्यो इतना अहंकार करता है ?

प्रभु-भक्ति करने के लिए, इन्द्र, अहमिन्द्र, राजा, महाराजा आदि सभी तरसते रहते हैं । जो भगवान् की भक्ति करता है, उनके गुणों मे लीन होता है वह धन्य है । वह अपनी पर्याय को सफल करता है, महान् पुण्य के सचय के साथ परम्परा से मोक्ष को पाता है । अज्ञानी जीव जो मोह कर्म की प्रेरणा से तृष्णा रूपी रोग से पीड़ित है, इस रोग को शान्त करने के नाना उपाय करते हैं, इन्द्रिय विषयो की ओर दौड़ लगाते हैं, पर इससे उनका रोग और बढ जाता है, घटता नही । इस तृष्णा को दूर करने के लिए नाना प्रकार के पाप और अत्याचार करते हैं जिससे कर्मों का दृढ बन्धन बाँधते हैं ।

भगवान् की भक्ति करने से, उनके दिव्य गुणो का चिन्तन करने से इस भवरोग को शान्त करने का उपाय समझ में आ जाता है ।

आत्मानुभव रूपी दिव्य औषध के सेवन से मोह, रागद्वेष आदि का रोग दूर हो जाता है जिससे जीव स्वस्थता और निराकुलता का अनुभव करने लगता है। यद्यपि वीतरागी प्रभु किसी भी भक्त को किसी भी प्रकार का सुख या मुक्ति नही देते है और न संसार रोग को शमन करते हैं पर उनका निमित्त प्राप्त कर कोई भी जीव मुक्त हो सकता है। आत्मशुद्धि उसे अपने ध्यान रूपी पुरुषार्थ के द्वारा प्राप्त हो जाती है। आत्मा का निश्चय रूप से गुरु आत्मा ही है, क्योंकि अपने भीतर स्वयं हित की लालसा उत्पन्न होती है तथा स्वयं अपने को ही मोक्ष का ज्ञान प्राप्त करना पड़ता है तथा अपने को ही अपने हित के लिए प्रयत्न करना पड़ता है। श्री अर्हन्त भगवान्, निर्ग्रन्थ गुरु और शास्त्र आदि बाह्य प्रेरक तथा उदासीन निमित्त हैं, इनके अवलम्बन से आत्मा कल्याण मार्ग को पा सकता है। जो स्वयं पुरुषार्थ नही करते है, उन्हे मोक्ष लक्ष्मी की प्राप्ति कभी नही हो सकती है।

ससार के सभी पदार्थ क्षणभगुर है, इनकी अनित्यता को देख कर भगवान् की भक्ति करना तथा ध्यान और तपश्चरण द्वारा कर्म कालिमा को पृथक् करना आवश्यक है। प्रत्येक विचारशील व्यक्ति जानता है कि माता, पिता, पुत्र, स्त्री, भाई, बहिन, हितू, मित्र सबका वियोग अवश्यम्भावी है। लक्ष्मी आज जिनके पास है, कल नही रहेगी; जो आज राजा है कल रंक हो सकता है, जो आज निरोगी है, कल रोगी हो सकता है; जो आज अधिकारी है, जिसका आदेश सहस्रों व्यक्ति सिर मस्तक पर स्वीकार करते है कल दीन हो सकते है। जो आज युवा है, जिसके हृदय मे युवावस्था की तरगे वर्तमान हैं, जो प्रत्येक कार्य को जोश और खरोश के साथ करता है, जिसे दीन दुनिया का कोई ज्ञान नही, कल वही बुड्ढा हो दुरदुराया जाता है। घर वाले उसे पूछते नही, लड़के-बच्चे उसे तंग करते है, गाल पिचक जाते है, आँखे धस जाती है तथा दृष्टि मन्द हो जाती है, कमर टेढ़ी हो जाती है, लाठी के बिना उससे चला नही जाता, लार और थूक जैसे घिनौने

पदार्थ उसके मुंह से निकलते रहते हैं। देखते-देखते अवस्था बदल जाती है, मनुष्य कुछ-का-कुछ हो जाता है। जवानी मे जिस चीज की कल्पना भी कभी नही की थी, वह आकर घटित हो जाती है। सारी दुनिया बुड्ढे के लिए बदल जाती है। जिन्हे वह अपना समझता था, जिससे स्नेह करता था, वे सब किनारा काटने लगते हैं।

जब मरण का समय आ जाता है तो मणि, मंत्र, वैद्य, डाक्टर, जादूगर, वैज्ञानिक कोई नही बचा सकता है। सभी हितैषी देखते रह जाते हैं और जीव इस नाशवान् शरीर को छोड़ कर चल देता है। अतः मैं मनुष्य हूँ, मैं अज्ञानी हूँ, मैं चरित्रवान् हूँ, मैं त्यागी हूँ, आदि में लगे "मैं" रूप अहंकार का त्याग करना चाहिए। जब तक यह अहकार मनुष्य मे लगा रहता है तब तक वह प्रभु-भक्ति और आत्मचिंतन से वंचित रहता है। अत. संसार और आत्मा इन दोनो के स्वरूप का विचार करते हुए प्रत्येक मनुष्य को भगवान् की पूजा, स्वाध्याय, सयम, गुरु-भक्ति, शक्ति के अनुसार तप आदि में प्रवृत्त होना चाहिए। गृहस्थ का सबसे बड़ा हित प्रभु-भक्ति करने मे है। इससे उसे अपने आत्मोत्थान का मार्ग आगे अवश्य मिल जाता है।

गर्भकल्याणक का वर्णन

कवि ने इस श्लोक मे भगवान् के जन्म कल्याणक के समय का वर्णन किया है। जिस समय तीर्थंकर भगवान् गर्भ मे आते हैं उससे छै महीने पहले प्रथम स्वर्ग का इन्द्र कुबेर को भेज कर भगवान् के पिता की नगरी की नवीन रचना करवाता है। जिसमें बहुत ही सुन्दर रत्नमय मन्दिर, वन, उपवन, खाई और कोट होते हैं। जिसको देखकर समस्त जनो को आनन्द होता है।

उसी समय से कुबेर द्वारा भगवान् के पिता के आंगन मे प्रति दिन रत्नों की वर्षा होती है। जो गर्भ के नव महीने सहित पन्द्रह महीने तक होती है। रुचिक पर्वत पर रहने वाली देवियाँ माता की सेवा करने

लगती है ।

जिस दिन भगवान् गर्भ में आते हैं, उस रात्रि को माता को सोलह स्वप्न दिखाई देते हैं । वह प्रात ही अपने स्वामी से उनका फल पूछती है । भगवान् के पिता अपने अवधिज्ञान से विचार कर उत्तर देते हैं कि हे देवी ! आज तुम्हारे घर में तीन लोक के स्वामी तीर्थंकर आये हैं । माता-पिता दोनो ही इस बात से आनन्दित होते हैं । भगवान् के जन्म तक बहुत खुशी मनाते हैं ।

जब भगवान का जन्म होता है, तब सौधर्म इन्द्र अपने ऐरावत हाथी पर चढ़ कर आता है । तथा चारों निकाय के देवता भी आते हैं । और वे भगवान् को सुमेरु पर्वत की पाण्डुक शिला पर लेजाते हैं । वहाँ क्षीरसागर के पवित्र जल से भरे हुए १००८ कलशों से सौधर्म और ऐशान इन्द्र भगवान का अभिषेक करते हैं । जन्म कल्याणक का सुन्दर वर्णन करते हुए कवि रूपचन्द भावपूर्ण छन्दो में कहते हैं ।—

तिहि करि चढि हरि आयउ, सुर परिवारियो ।
पुरिहि प्रदच्छन दे त्रय, जिन जयकारियो ।।
गुप्त जाय जिन जननिहि, सुखनिद्रा रची ।
मायामय सिसु राखि तो, जिन आन्यो सची ।।
आन्यो सची जिन रूप निरखत, नयन तृपति न हूजिये ।
तब परम हरषित हृदय हरि ने, सहस लोचन पूजिये ।।
पुनि करि प्रणाम जु प्रथम इन्द्र, उमंग धरि प्रभु लीनऊ ।
ईशान इन्द्र सुचन्द छवि, सिर छत्र प्रभु के दीनऊ ।।
सनतकुमार महेन्द्र, चमर दुइ ढारहीं ।
सेस सक्र जयकार, सबद उच्चारही ।।
उच्छव सहित चतुरविध, सुर हरषित भये ।
जोजन सहस निन्यानव, गगन उलंघि गये ।।

लंघि गये सुरगिर जहां पाण्डुक, वन विचित्र विराजही ।
पांडुकसिला तह अर्ध चन्द्रसमान, मणि छवि जाजही ।।
जोजन पचास विसाल, दुगृणायाम, वसु ऊंची गनी ।
वर अष्टमंगल कनक कलसनि, सिंहपीठ सुहावनी ।।

रचि मणिमंडप सोभित, मध्य सिंहासनो ।
थाप्यो पूरब मुख तहँ, प्रभु कमलासनो ।।
वाजहिं ताल मृदंग, वेणु बीना घने ।
दुन्दुभि प्रमुख मधुरधुनि, अवर जु बाजने ।।

वाजने वाजहि सची सब मिलि, धवल मंगल गावही ।
पुनि करहिं नृत्य सुरांगना सब, देव कौतुक धावही ।।
भरि छीरसागर जल जु हाथहि, हाथ सुरगिरि ल्यावही ।
सौधर्म अरु ईशान इन्द्र, सु कलश ले प्रभु न्हावही ।।

वदन उदर अवगाह, कलसगत जानिये ।
एक चार वसु जोजन, मान प्रमानिये ।।
सहस अठोत्तर कलसा, प्रभु के सिर ढरें ।
पुनि सिगार प्रमुख, आचार सबै करे ।।

करि प्रगट प्रभु महिमा महोच्छव, आनि पुनि मातहि दये ।
धनपतिहिं सेवा राखि सुरपति, आप सुरलोकहि गये ।।
जन्माभिषेक महंत महिमा, सुनत सब सुख पावही ।
भणि 'रूपचन्द' सुदेव जिनवर, जगत मंगल गावही ।।

कलशों का मुख १ योजन, पेट ४ योजन, और गहराई ८ योजन होती है। ऐसे १००८ कलशो से जिनराज का अभिषेक किया जाता है।

जिस समय मतिज्ञान, श्रुतज्ञान, और अवधिज्ञान सहित तीर्थंकर भगवान् का जन्म होता है, उस समय तीनो लोको मे आनन्द हो जाता है। अतिशय दुखी नारकी भी क्षण भर को शान्ति पा लेते हैं। उस समय पहले स्वर्ग के इन्द्र का आसन कम्पायमान होता है। समस्त कल्पवासी देवो के विमानो मे बिना बजाये ही घण्टा, ज्योतिष्क देवों के विमानो में सिंहनाद, भवनवासियो के भवनो मे शख और व्यन्तरो के भवनो में नगाड़े बजने लगते हैं।

इन्द्र इन घटनाओ से अवधिज्ञान द्वारा भगवान् का जन्म हुआ जानकर कुवेर द्वारा एक बड़ा मायामय ऐरावत हाथी बनवाता है। प्रथम स्वर्ग का इन्द्र उस पर चढ़कर परिवार तथा समस्त जाति के इन्द्र और देवो सहित आता है और जय-जय शब्द करता हुआ नगरी की प्रदक्षिणा (परिक्रमा) देता है।

इन्द्राणी प्रसूति गृह मे जाकर भगवान् की माता को माया से सुला वहाँ वैसा ही मायामय (कृत्रिम) अन्य बालक रखकर भगवान् को बाहर लाती है। भगवान् का रूप देखता हुआ इन्द्र जब तृप्त नही होता तब हजार नेत्र बनाता है और भगवान् के त्रिलोक सुन्दर रूप के दर्शन करता है।

तत्पश्चात् सौधर्म इन्द्र प्रणाम कर भगवान् को ऐरावत हाथी पर अपनी गोद में बिठाता है। दूसरा ईशान इन्द्र छत्र लगाता है, तीसरे और चौथे स्वर्ग के इन्द्र चमर ढोरते है। शेष इन्द्र जय-जय शब्द करते है। इस प्रकार परम हर्षित होते हुए चारों निकाय के देव भगवान् को सुमेरु पर्वत पर ले जाते है।

सुमेरु की पाण्डुक शिला पर रखे हुए रत्नमय सिंहासन पर भगवान् को उनका मुख पूर्व की ओर कर विराजमान करते है। उस समय अनेक प्रकार के बाजे बजते है। इन्द्राणियाँ मंगल गाती है। देवांगनाएँ नृत्य करती हैं। देवगण क्षीर समुद्र से १००८ (एक हजार आठ) कलश भर कर हाथों हाथ लाते हैं।

सौधर्म और ईशान इन्द्र भगवान् का अभिषेक करते है। फिर उनका शरीर पोछकर स्वर्गीय वस्त्राभूषण पहना कर ऐरावत हाथी पर बिठा कर बड़ा आनन्द और उत्साह मनाते हुए जन्म नगरी को लौटते हैं। भगवान् को माता की गोद मे देकर उनकी सेवा के लिए कुबेर तथा कुछ देवो को छोड़कर सभी इन्द्र और देव अपने-अपने स्थान पर चले जाते है।

तपकल्याणक

श्रमजलरहित सरीर, सदा सब मल रहिउ।
छीर वरन वर रुधिर, प्रथम आकृति लहिउ॥
प्रथम सार संहनन, सरूप विराजही।
सहज सुगंध सुलच्छन, मंडित छाजही॥

छाजहि अतुलबल परम प्रिय हित, मधुर वचन सुहावने।
दस सहज अतिशय सुभग, मूरति, बाल लील कहावने॥
आबाल काल त्रिलोकपति मन, रुचिर रचित जु नित नये।
अमरोपनीत पुनीत अनुपम सकल भोग विभोगये॥

भव तन भोग विरत्त, कदाचित चितए।
धन यौवन पिय पुत्त, कलित अनित्तए॥
कोउ न सरन मरनदिन, दुख चहुँगति भर्यो।
सुख दुख एकहि भोगत, जिय विधिवसि पर्यो॥

पर्यो विधिवस आन चेतन, आन जड़ जु कलेवरो।
तन असुचि परतें होय आस्रव, परिहरे तैं संवरो॥
निरजरा तपबल होय समकित, विन सदा त्रिभुवन भम्यो।
दुर्लभ विवेक विना न कबहूं, परम धरम विषै रम्यो॥

ये प्रभु बारह पावन, भावन भाइया।
लौकांतिक वर देव, नियोगी आइया॥
कुसुमांजलि दे चरन, कमल सिर नाइया।
स्वयंबुद्ध प्रभु थुतिकर, तिन समुझाइया॥

समुझाइ प्रभु को गये निजपुर, पुनि महोच्छव हरि कियो।
रुचि रुचिर चित्र विचित्र सिविका, कर सु नन्दन वन लियो॥
तहं पचमुट्ठी लोंच कीनो, प्रथम सिद्धनि नुति करी।
मंडिय महाव्रत पंच दुद्धर सकल परिगह परिहरी॥

मणिमयभाजन केश परिट्ठिय सुरपती।
छीरसमुद जल खिपकरि, गयो अमरावती॥
तपसंयमबल प्रभु को मनपरजय भयो।
मौन सहित तप करत, काल कछु तहं गयो॥

गयो कछु तहं काल तपबल, रिद्धि वसुविधि सिद्धिया।
जसु धर्मध्यानबलेन खयगय, सप्त प्रकृति प्रसिद्धिया॥
खिपि सातवें गुण जतनबिन तहं, तीन प्रकृति जु बुधि बढ़िउ।
करि करण तीन प्रथम सुकलबल, खिपकसेनी प्रभु चढ़िउ॥

प्रकृति छत्तीस नवें, गुण थान विनासिया।
दसवें सूक्षमलोभ, प्रकृति तहं नासिया॥
सुकल ध्यानपद दूजो, पुनि प्रभु पूरियौ।
बारहवें गुण सोरह, प्रकृति जु चूरियौ॥

चूरियो त्रेसठ प्रकृति इहविध, घातियाकरमनि तणी।
तप कियो ध्यानपर्यन्त बारह-विधि त्रिलोकसिरोमणी॥

निःक्रमणकल्याणक सु महिमा, सुनत सब सुख पावही ।
भणि रूपचन्द सुदेव जिनवर, जगत मगल गावही ॥

ज्ञानकल्याणक

तेरहवें गुणथान सयोगि जिनेसुरो ।
अनंतचतुष्टयमंडित, भयो परमेसुरो ॥
समवसरन तव धनपति, वहुविधि निरमयो ।
आगमजुगति प्रमान, गगनतल परिठयो ॥

परिठयो चित्र विचित्र मणिमय, सभामण्डप सोहये ।
तिहिमध्य वारह बने कोठे, कनक सुरनर मोहये ॥
मुनि कलपवासिनि अरजिका पुनि ज्योति भौमि-व्यन्तरतिया ।
पुनि भवनव्यनर नभग सुरनर पसुनि कोठे बैठिया ॥

मध्यप्रदेश तीन, मणिपीठ तहां बने ।
गधकुटी सिहासन, कमल सुहावने ॥
तीन छत्र सिर सोहत त्रिभुवन मोहए ।
अन्तरीच्छ कमलासन, प्रभुतन सोहए ॥

सोहये चौसठ चमर ढरत, अशोकतरुतल छाजए ।
पुनि दिव्यधुनि प्रतिसवदजुत तह, देव दुदभि वाजए ॥
सुरपुहुपवृष्टि सुप्रभामण्डल, कोटि रवि छवि छाजए ।
इमि अष्ट अनुपम प्रातिहारज, वर विभूति विराजये ॥

दुइसै जोजनमान सुभिच्छ चहूँ दिसी ।
गगनगमन अरु प्राणी, वध नहिं अहनिसी ॥

निरुपसर्ग निराहार, प्रभू जगदीशए ।
आनन चार चहूँ दिसि सोभित दीसए ॥

दीसय असेस विसेस विद्या, विभव वर ईसुरपना ।
छायाविवर्जित सुद्ध फटिक समान तन प्रभुका बना ॥
नहिं नयनपलकपतन कदाचित् केश नख सम छाजही ।
ये घातिया छयजनित अतिशय, दस विचित्र विराजही ॥

सकल अरथमय मागधि भाषा जानिए ।
सकल जीवगत मैत्री भाव बखानिए ॥
सकल रितुज फलफूल वनस्पति मनहरै ।
दरपनसम मनि अवनि, पवन गति अनुसरै ॥

अनुसरै, परमानन्द सबको, नारि नर जे सेवता ।
जोजन प्रमान धरा सुमार्जहि, जहाँ मारुत देवता ॥
पुनि करहि मेघकुमार गधोदक सुवृष्टि सुहावनी ।
पदकमलतर सुर खिपहि कमलसु धरणि ससिसोभा बनी ॥

अमलगगनतल अरु दिसि, तहं अनुहारही ।
चतुरनिकाय देवगण, जय जयकारही ॥
धर्मचक्र चलै आगै, रबि जहां लाजही ।
पुनि भृंगार प्रमुख, वसु मंगल राजही ॥

राजही चौदह चारु अतिशय, देव रचित सुहावने ।
जिनराज केवलज्ञान महिमा, अवर कहत कहा बने ॥
तब इन्द्र आय कियो महोच्छव, सभा सोभा अति बनी ।
धर्मोपदेश दियो तहां, उच्चरिय बानी जिनतनी ॥

छुधातृषा अरु राग, रोष असुहावने।
जनम जरा अरु मरण, त्रिदोष भयावने॥
रोग सोग भय विस्मय, अरु निद्रा घनी।
खेद स्वेद मद मोह, अरति चिन्ता गनी॥

गनिये अठारह दोष तिनकरि रहित देव निरंजनो।
नव परम केवललब्धिमंडिय सिवरमनि-मनरंजनो॥
श्रीज्ञानकल्याणक सुमहिमा, सुनत सव सुख पावही।
भणि "रूपचन्द" सुदेव जिनवर, जगत मंगल गावही॥

निर्वाण कल्याणक

केवलदृष्टि चराचर, देख्यो जारिसो।
भव्यनि प्रति उपदेश्यो, जिनवर तारिसो॥
भव भय भीत भविकजन, सरणै आइया।
रत्नत्रयलच्छन सिवपंथ लगाइया॥

लगाइया पंथ जु भव्य पुनि प्रभु तृतीय सुकल जु पूरियो।
तजि तेरवां गुणथान जोग अजोगपथ पथ धारियो॥
पुनि चौदहें चौथे सुकलवल वहत्तर तेरह हती।
इमि घाति वसुविध कर्म पहुँच्यो, समय में पंचमगती॥

लोकसिखर तनुवात, वलयमहं संठियो।
धर्मद्रव्यविन गमन न, जिहि आगै कियो॥
नखनरहित मूषोदर, अंवर जारिसो।
किमपि हीन निजतनुतें, भयो प्रभु तारिसो॥

तारिसो पर्जय नित्य अविचल, अर्थपर्जय छनंछयी।
निश्चयनयेन अनतगुण, विवहार नय वसुगुणमयी॥
वस्तुस्वभाव विभावविरहित, शुद्ध परिणति परिणयो।
चिद्रूपपरमानंद मंदिर, सिद्ध परमातम भयो॥

तनुपरमाणु दामिनिवत, सब खिरगये।
रहे शेष नखकेश-रूप जे परिणए॥
तब हरिप्रमुख चतुरविधि, सुरगण शुभ सच्यो।
मायामयि नखकेश-रहित, जिनतनु रच्यो॥

रचि अगरचंदन प्रमुख परिमल, द्रव्य जिन जयकारियो।
पदपतित अगनिकुमार मुकुटानल, सुविध संस्कारियो॥
निर्वाणकल्याणक सु महिमा, सुनत सब सुख पावही।
भणि "रूपचंद" सुदेव जिनवर, जगत मंगल गावही॥

मैं मतिहीन भगतिवस, भावन भाइया।
मंगल गीतप्रबंध, सु जिनगुण गाइया॥
जो नर सुनहिं बखानहिं सुर धरि गावही।
मनवांछित फल सो नर, निहचै पावही॥

पावहीं आठों सिद्धि नवनिध, मन प्रतीत जो लावही।
भ्रम भाव छूटैं सकल मनके निज स्वरूप लखावही॥
पुनि हरहिं पातक टरहिं विघन सु होहि मगल नितनये।
भणि "रूपचन्द" त्रिलोकपति, जिनदेव चउसंघहिं जये॥

इस प्रकार पांच प्रकार के कल्याणक है। इसी प्रकार भव्य जीवो को भगवान की भक्ति करने से अनेक प्रकार का पुण्य-बन्ध होता है और जिनेन्द्र की सेवा करके अपने पर्याय को सफल बना लेता है।

दोरेयेनं पिडिदिर्पनंतदने ळोक मेच्चुं गु नद्धरा ।
वरनादुर्मतदत्त तानेळसिदंदा सार्दरं तन्नुवं ॥
नरकक्किक्किदोल्डु निम्ममतदत्तिच्छैसिदंदा तनु-
द्धरिसल्दाने समर्थनादनररे रत्नाकराधीश्वरा ॥८२॥

हे रत्नाकराधीश्वर !

राजा जिस विषय को स्वीकार करता है, प्रजा भी उसी विषय को स्वीकार करती है। राजा अपना तथा अपनी प्रजा का उद्धार करने वाला होता है। किन्तु जब वह बुरे विचारो का अनुसरण करने लगता है तब वह और उसकी प्रजा नरक मे जा गिरती है। अर्थात् प्रजा हितैषी होने के कारण राजा को सर्वदा धार्मिक प्रवृत्ति रखना आवश्यक है।

इस श्लोक मे कवि ने बतलाया है कि जैसा राजा होता है वैसी प्रजा होती है। इसलिए राजा को हमेशा धर्म नीति का बर्ताव करना चाहिए। सोमदेव आचार्य ने नीतिवाक्यामृत मे कहा है कि—

परिपालको हि राजा सर्वेषा धर्मषष्ठांशमवाप्नोति ॥

जो राजा समस्त वर्णाश्रम धर्म की रक्षा करता है वह उस धर्म के छठे भाग के फल को प्राप्त होता है।

मनु विद्वान् ने लिखा है कि जो राजा समस्त वर्णाश्रम धर्म की रक्षा करता है, उसे नष्ट होने से बचा लेता है, वह उस धर्म के छठवे अश के फल को निस्सदेह प्राप्त होता है।

अन्य मतो के ऋषियों द्वारा राजा के सम्बन्ध मे बड़े सम्मानपूर्ण उल्लेख मिलते है।

यदाह वैवस्वतो मनु —

उन्छषड्भागप्रदानेन वनस्था अपि तपस्विनो राजानं-सम्भावयन्ति । तस्यैव तद्भूयात् यस्तान् गोपायति इति ॥

वैवस्वतमनु हिन्दू धर्म के शास्त्रकार हैं । उन्होने कहा है कि वन-वासी तपस्वी लोग भी जो कि स्वामीरहित एवं निर्जन पर्वत आदि प्रदेशों मे वर्तमान धान्यादि के कणो से अपना जीवन निर्वाह करते है, राजा को अपने द्वारा सचित धान्यकणो का छठवां भाग देकर अपने द्वारा किये हुए तप के छठवे भाग से उसकी उन्नति की कामना करते है, एव अपनी क्रिया के अनुष्ठान के समय यह सकल्प करते है कि "जो राजा तपस्वियो की रक्षा करता है उसको ही हमारे द्वारा आचरण किया हुआ तप या उसका फल प्राप्त होवे ।

वैष्णव सम्प्रदाय के तपस्वी गण भी न्यायवान् राजा की उन्नति के इच्छुक होते है । जिसके फलस्वरूप वे स्वसचित धान्य कणो का छठवा हिस्सा राजा को देकर सकल्प करते है ।

कौन वस्तु इष्ट है और कौन अनिष्ट है इसका निर्णय—

तदमगलमपि नामगल यत्रास्यात्मनो भक्तिः ॥

जिस पदार्थ मे जिसे प्रेम होता है, वह अनिष्ट, अमंगलीक (अशुभ) होने पर भी उसके लिए इष्ट-मंगलीक है ।

उदाहरण मे लूला-काणा व्यक्ति कार्य के आरम्भ में अमंगलीक समझा जाता है, परन्तु जो उससे प्रेम रखता है वह उसके लिए इष्ट ही है ।

भागुरि विद्वान् ने भी कहा है कि जो पदार्थ जिसके लिए प्रिय है वह अप्रिय होने पर भी यदि उसके कार्य के आरम्भ मे प्राप्त हो जावे, तो इष्ट समझा जाता है, क्योकि उससे उसके कार्य की सिद्धि हो जाती है ।

जो पदार्थ जिसके मन को प्रमुदित, हर्षित या सन्तुष्ट करते है वे उसके लिए मंगलीक है।

मनुष्यो के कर्तव्य का निर्देश—

सन्यस्ताग्निपरिग्रहानुपासीत ।

मनुष्य को साधु-महात्माओ एव विद्वान् गृहस्थाचार्यो की उपासना-सेवा करनी चाहिए।

साधु महात्मा और विद्वान गृहस्थाचार्य वडे सदाचारी, स्वार्थ-त्यागी और बहुत विद्वान् होते है, अतएव इनकी सेवा-भक्ति से मनुष्य गुणवान् एवं कल्याण का पात्र हो जाता है।

वल्लभदेव विद्वान् ने लिखा है कि "मनुष्य जिस प्रकार के पुरुषो के वचनो को सुनता है और जैसो की सेवा और संगति करता है, वैसी ही प्रवृत्ति करने लग जाता है। अतएव नैतिक मनुष्य को साधु पुरुषों की सेवा करनी चाहिए।

इस प्रकार राजा को प्रजा के प्रति हमेशा धार्मिक भावना रख करके अच्छा शासक बनना चाहिए। अगर राजनीति विगड़ जाय तो धर्म विगड़ जाता है। राजा को हमेशा अपनी प्रजा का शासन न्यायपूर्वक करना चाहिए।

विवेचन—साराश यह है कि ससार मे प्रत्येक जीव अपने कर्म के अनुसार पुण्य और पाप का फल भोगते रहते हैं। जिस समय कर्म का उदय तीव्र होता है उसी समय व्यक्ति अनीति भी कर डालता है। उस समय उसे राजा के दण्ड का भागी होना पडता है। उस समय राजा दण्ड नीति के द्वारा उसको सन्मार्ग पर लगाने के लिए प्रयत्न करता है। यह राजनीति परम्परा से चली आ रही है।

ससार का प्रत्येक जीव इष्ट वियोग, अनिष्ट सयोग, रोग, दरिद्रता, आलस्य आदि के साथ साथ जन्म, जरा, मरण आदि के कष्टो को उठा रहा है। कर्म रूपी रोग से प्रत्येक जीव पीडित है, किसी को भी एक

क्षण के लिए शाति नही। कोई धन के लिए रोता है तो कोई सन्तान के लिए, कोई पुत्र के दुश्चरित्र होने से दुखी है तो कोई कन्या संतान के होने से। कोई स्त्री के लिए दुख से व्याकुल है तो कोई स्त्री के कुलटा होने से। कोई मूर्ख होने से दुखी है तो कोई पढ लिख कर भी आजीविका न मिलने से। तात्पर्य यह है कि ससार मे ऐसा प्राणी शायद ही होगा जो सर्व प्रकार से सुखी हो। वस्तुओ के अभाव से या उनके सद्भाव से सब कोई त्रस्त है, विह्वल है। इस भय या दुख का प्रतीकार रत्नत्रय धर्म के द्वारा ही हो सकता है। यही धर्म जीव को कल्याण मार्ग पर लगा सकता है और संसार के समस्त झझटो, विपत्तियों और चिताओ से दूर कर सुख दे सकता है। श्री कुलभद्राचार्य ने ससार के दुखो का निरूपण करते हुए बताया है—

> कषायकलुषो जीवो रागरंजितमानसः।
> चतुर्गतिभवाम्बोधौ भिन्ननौरिव सीदति॥
> कषायवशगो जीवो कर्म बध्नाति दारुणम्।
> तेनासौ क्लेशमाप्नोति भवकोटिषु दारुणम्॥

क्रोध, मान, माया और लोभ आदि कषायो से मलिन होकर जीव रागी मन वाला होता है, जिससे चतुर्गति रूपी ससार समुद्र मे टूटी नाव के समान डूबता हुआ कष्ट प्राप्त करता है। कषायो के आधीन जीव भयानक कर्म बाधता है। इनके फल से जीव अनन्तानन्त भवो मे नाना प्रकार के कष्ट प्राप्त करता है। अत संसार भ्रमण के कारण मिथ्यात्व का सर्व प्रथम त्याग करना आवश्यक है। यह मिथ्यात्व आत्मा का निश्चय विश्वास न होना तथा संसार के विषयो मे अबाध प्रवृत्ति अथवा देव, शास्त्र और गुरु के प्रति अविश्वास ऐसा भयानक विष है जिससे मूर्छित हुआ प्राणी रात दिन ससार के इन्द्रिय जनित सुखो की आकांक्षा के दाह से जलता रहता है। इस दाह को शान्त करने के लिए जीव

निरन्तर प्रयत्न करता रहता है । इच्छित पदार्थो का भोग करता है, पर तृष्णा या लालसा शान्त होने के स्थान मे और प्रज्वलित होती जाती है, जिससे अनवरत यह जीव चाह की दाह मे जलता रहता है।

आर्त्त और रौद्र परिणाम निरतर इस जीव को होते रहते हैं, जिससे यह स्त्री, पुत्र, धनादि की वांछा करता रहता है । इन पदार्थों की प्राप्ति के लिए वह प्रयत्नशील बना रहता है। यदि कदाचित् सत्समागम हो जाने पर इस जीव ने सद्धर्म भी ग्रहण कर लिया तो भी निदान फला-कांक्षा करने से पुन. कष्ट का पात्र हो जाता है। इस प्रकार मिथ्यात्व के संस्कार के कारण विषय सुख की तृष्णा मे जलता हुआ यह जीव चतुर्गति मे भ्रमण करता हुआ महान् कष्ट पाता है। यदि किसी समय मिथ्यात्व को दूर करने की औषध इसे आत्मानुभव रूप निश्चय सम्य-ग्दर्शन-आत्मा का अटूट विश्वास और विषय भोगो से विरक्ति प्राप्त हो गयी तो फिर सम्यग्ज्ञान और सम्यक्चारित्र को प्राप्त कर निश्चय ही निर्वाण प्राप्त कर लेता है। कषाय और प्रमाद, जिनके कारण पापमयी प्रवृत्ति निरन्तर होती रहती है, अवश्य दूर करने चाहिए। प्रमाद-असाव-धानी से अनेक भयकर से भयकर पाप होते हैं। जब तक जागरूकता रहती है, व्यक्ति इन्द्रियो के विषयो में प्रवृत्ति नही करता । मोह का उदय आने पर भी वह अपने ज्ञान बल से मोहोदय को परास्त करता है। परन्तु असावधानी के होने से पाप प्रवृत्ति अवश्य होती है। हिंसा, असत्य आदि पाँच पापो का प्रमुख कारण यह प्रमाद ही है। कषायो का अभाव भी प्रमाद से हो जाता है । अत. सबसे पहले जीव को इन्द्रियों का निग्रह करना चाहिए। क्रोध, मान, माया और लोभ कषायों को भी आत्मा मे उत्पन्न न होने देना चाहिए। निमित्त मिलने पर भी जो इन कषायो को नही उत्पन्न होने देते है, वे बडे भारी वीर है, आत्मा के सच्चे कल्याणकारी हैं। अत घर के बडे लोगो या राजा-महाराजा आदि को निरन्तर धार्मिक प्रवृत्ति रखनी चाहिए। जो राजा या प्रमुख व्यक्ति स्वय धर्माचरण करता है, उसकी प्रजा भी उसी का अनुसरण

करती है। यदि राजा अधर्मात्मा होता है तो प्रजा भी उसकी देखा-देखी अधर्मात्मा बन जाती है। अत धर्माचरण करना परम आवश्यक है।

मनुष्य जन्म की सार्थकता

नररोळ्पुट्टि नरेंद्रनाददिनदोळ्सद्धर्ममं सन्मुनी—
श्वररं भव्यरनोलदु मन्निसियनाथर्गाश्रितर्गीवुतं।
परिवार प्रजेगळगे तायतेर्रदिदो वुत्तमिर्प धरा—
वरनिंदा वर्दिलवके नाळिनवनै रत्नाकराधीश्वरा ॥८३॥

हे रत्नाकराधीश्वर !

मनुष्य का जन्म लेकर जो राज पदवी को प्राप्त होता है वह श्रेष्ठ धर्म के पालन से, श्रेष्ठ मुनि तथा भव्य जनों का प्रेमपूर्वक उपचार करने से, अनाथ तथा अपने आश्रय मे रहने वालों को दान देने से, सेवक और प्रजा की माता-पिता की तरह रक्षा करने से आज पृथ्वी का अधिपति बनता है और कल स्वर्ग का स्वामी ।

कवि ने इस श्लोक मे यह बतलाया है कि मनुष्य जन्म प्राप्त करने के बाद मनुष्य राज पदवी को प्राप्त होता है तब वह अपने मनुष्य कर्तव्य के अनुसार देव पूजा, गुरूपास्ति, स्वाध्याय, सयम, तप, दान इस प्रकार अपने कर्तव्य समझ करके मन पूर्वक आचरण करता है। तब उस आचरण के द्वारा होने वाले पुण्य बन्ध को प्राप्त होता है। उसी पुण्य के निमित्त से राजा चक्रवर्ती इत्यादि पद को प्राप्त होता है। आचार्य ने कहा भी है कि सत्पात्र दान से धनाढ्य होता है। उस धन को धर्म मे खर्च करने से श्रेष्ठ राजपद को प्राप्त होता है। अर्थात् इन्द्र पदवी प्राप्त होती है। पुन मानव जन्म ले करके धनाढ्य हो जाता है। पुन इन्द्रिय सुख का भोगी होता है। इस प्रकार सत्पात्र दान का महत्व बताया है। इसलिए भव्य जीव को हमेशा भगवान् की भक्ति करने एवं सत्पात्र को दान देने से अपूर्व पुण्य की प्राप्ति होती है। ऐसा समझ कर जो श्रावक

अपनी शक्ति के अनुसार प्रति दिन भगवान की पूजा, प्रतिष्ठा, तथा धार्मिक उत्सव करने मे अपने धन का व्यय करता है, वह महान् पुण्य का बन्ध करता है। सम्पत्ति की सार्थकता दान में ही है। इस चचल लक्ष्मी का कुछ भी विश्वास नही है कि आज है, कल रहेगी या नही। अत इसका सदुपयोग दान धर्म के कार्यों मे करना चाहिए। आगम मे दान का सामान्य, दोपद्, उत्तम, मध्यम, जघन्य, संकीर्ण, कारुण्य और औचित्य इन आठ प्रकारो के द्वारा वर्णन किया गया है। जिनोत्सव को सब प्रकार से सफल बनाने के लिए साधर्मी भाइयो के द्वारा दी गई सभी प्रकार की सहायता सामान्य दान है। इस दान में पात्रो का विभाग नहीं किया जाता है, किन्तु भगवान् की प्रतिष्ठा या रथोत्सव आदि मे आर्थिक दृष्टि से किसी प्रकार की कमी रहने पर तन, मन और धन से दूर करना तथा उत्सव मे समागत साधर्मी भाइयों को भोजनादि से सतुष्ट करना सामान्य दान है। इस दान का ध्येय यह है कि किसी भी धार्मिक उत्सव को चाहे उसे एक व्यक्ति कर रहा हो या अनेक भाई सम्पन्न कर रहे हो, सभी साधर्मी बन्धुओ को उसे अपना समझना चाहिए और इस प्रभावना के कार्य को पूरा करने के लिए हर प्रकार से सहायता देना चाहिए। इस सामान्य दान का भी बड़ा महत्व है। इसके द्वारा कोई भी राज्य सुख और स्वर्ग सुखो को पा सकता है। पर दाता को दान अभि-मान-पोषण के लिए नही देना चाहिए। दान मे अहकार का भाव आ जाने से दान के फल मे अभाव या न्यूनता आ जाती है।

अन्याय से उपार्जित धन को दान मे लगाना दोषद दान है। क्योकि अन्याय से उपार्जित द्रव्य जिसको दिया जायगा, उसकी भी बुद्धि निर्मल नही हो सकती है। जो पाप कर्म कर तथा पाप कार्यो से धनार्जन कर यह सोचते हैं कि इसमे से कुछ दान कर देने पर पाप घुल जायेंगे, अत दान कर दिया जाय अथवा जो व्यक्ति इस विचार के अनुसार दान कार्य करते है, उनका यह दान दोषद दान है। इस प्रकार के दान से पूरा पुण्य कभी नही मिल सकता है। हाँ, भावना दान करते समय निर्मल

रही तो इस प्रकार के दान से भी पुण्य लाभ हो सकता है। दाता को न्याय से कमाये गये धन का दान करने मे अपरिमित फल मिलता है। अत सदा न्याय से धनार्जन कर दान कार्य करना चाहिए।

दिगम्बर जैन मुनियो को, जिन्होने अपनी आत्मा को रत्नत्रय से विभूषित कर लिया है आहार, शास्त्र आदि का दान देना उत्तम दान है। उत्तम पात्र दिगम्बर मुनि ही है, अत इनको भक्ति पूर्वक दान देना महान् पुण्य-बन्ध का कारण है।

ऐलक और क्षुल्लको को एवं व्रती श्रावकों को आहार आदि का दान करना मध्यम दान है। श्रावक के उत्कृष्ट व्रतों से इन्होने अपनी आत्मा को विभूषित कर लिया है तथा सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान और सम्यक्चारित्र के धारण करने से आत्मा पवित्र हो गई है एव वे मोक्ष मार्ग का अनुसरण करने वाले है, अत मध्यम पात्रो को भी दान देने से महान् पुण्य का सचय होता है। इस प्रकार के दान से दाता की आत्मा परम पवित्र हो जाती है, क्योंकि दाता द्वारा दिये गये दान से ही धर्म साधन का कारणीभूत शरीर स्थिर रहता है। अव्रती सम्यग्दृष्टि श्रावक को आहार, औषध, ज्ञान और अभय इन चारो दानों को देना जघन्य दान है। ये तीनो दान पात्र की योग्यता पर आश्रित हैं। पात्र जैसा उत्तम, मध्यम और जघन्य होगा, दान भी वैसे कहे जायेंगे। ये तीनो दान स्वर्गादि सुखों के साथ परम्परा से निर्वाण प्राप्ति मे सहायक होते हैं।

रथोत्सव, पचकल्याणक और जिन भक्तों के विवाह आदि कार्यों मे आमंत्रित पात्र, अपात्र आदि का यथायोग्य सम्मान कर आहार वस्त्र, तांबूल आदि द्वारा सत्कार करना संकीर्ण दान है। रोगी, दुखी, बन्धन-बद्ध, दण्डित, भूखे प्यासे को करुणा से दान देना तथा संकट से रक्षा करना करुणा दान है। भगवान् की सेवा मे तत्पर रहने वाले किसी भी जाति और कुल के व्यक्ति को आहार आदि से सन्तुष्ट करना औचित्य दान है। इस दान का अभिप्राय भोजकी, गायक आदि को द्रव्य देने से है। इस प्रकार जो दान करता है, उसे इस लोक मे भी सुख मिलता है और

परलोक मे भी। दान करना प्रत्येक व्यक्ति का परम धर्म है, इससे राजपद का मिलना बहुत आसान है।

शरीर और सम्पत्ति का उपयोग जहाँ तक हो धर्म साधन में करना चाहिए।

एष्टेष्टैसिरि पच्चुंगुं तनगे तानष्टष्टु सद्धर्म कु—
रकुष्टंमाडलेवेळ्कु नोंपिगळना निर्ग्रंथरं निच्च सं—
तुष्टं माडलेवेळ्कु धार्मिकजनवका धारवागल्के वे—
ळ्किष्टुं तां सुकृतानुबंधिसुकृतं रत्नाकराधीश्वरा ॥८४॥

हे रत्नाकराधीश्वर!

सम्पत्ति जितनी बढे उतना ही अधिक उसका उपयोग श्रेष्ठ धर्म की अभिवृद्धि मे, पूजा और परिग्रह रहित मुनिजनो को प्रतिदिन सतोष-प्रद ढग मे दान देने मे करना चाहिए। इन सभी कार्यों के करने से सुकृतानुवन्धी सुकृत होता है। सम्पत्ति का बढाना पाप नही, पाप है उसका दान धर्म मे व्यय न करना। अत दान करना अत्यावश्यक है।

अधिकांश व्यक्ति यह समझते हैं कि धैर्य धारण करने का अर्थ है सुख को छोडकर कष्ट सहन करना, क्योकि व्रत, उपवास करना, पूजा करना, दान देना, भोगोपभोग की वस्तुओं का त्याग करना धर्म है। इस धर्म का पालन करने के लिए अनेक कष्ट भी सहन करने पडते है। पर उनको सोचना चाहिए कि जैसे रोगी मनुष्य को पथ्य करने—स्वास्थ्य के विरुद्ध वस्तुओ का त्याग करने, अपने रहन-सहन को भी उसी के अनुसार रखने मे कष्ट मालूम होता है, पर इस पथ्य से उसका वास्तविक कल्यार्ण होता है। अपथ्य सेवन से रोग बढता जाता है, कभी-कभी मृत्यु के मुख में भी रोगी को चला जाना पडता है। अतएव बुद्धिमानी पथ्य सेवन करने मे ही प्रतीत होती है, क्योकि वास्तविक भलाई इसी मे है। नीरोग होने के लिए कडवी दवा भी पीनी पडती है, पर आगे

उसका फल मधुर होता है। रोगी चगा हो जाता है, इसी प्रकार अपना कल्याण करने के लिए ससारी जीव को सयम, दान, प्रभु भक्ति आदि कार्य करने मे प्रारम्भ मे कठिनाई प्रतीत होती है, पर आगे उसका जीवन सुधर जाता है।

धन कमाना, अपनी सम्पत्ति को बढ़ाना और श्रेष्ठ उपायो द्वारा अपने ऐश्वर्य को बढाना अनिष्टकर नही। पर अनिष्टकर है, उस सम्पत्ति द्वारा दान धर्म न करना, पूजा प्रतिष्ठा मे धन न लगाना, असमर्थ विद्यार्थियो को विद्यार्जन के लिए छात्रवृत्ति न देना, भूखे-नगो को भोजन-वस्त्र से सहायता न करना, केवल अपने भोग-विलास मे ही धन खर्च करना तथा दिन-रात इन्द्रियो की तृप्ति करने मे लगे रहना। बुद्धिमान व्यक्ति जिस प्रकार श्रेष्ठ वृक्ष के फलो को वृक्ष को जड से उखाड कर नही खाते है, बल्कि उस वृक्ष के फलो को तोडकर ही खाते है, इससे वृक्ष का अस्तित्व सदा के लिए बना रहता है और उससे निरन्तर फल मिलते रहते है। इसी प्रकार सम्पत्ति, जो पूर्व पुण्य से प्राप्त हुई है केवल इन्द्रियो को सन्तुष्ट करने मे खर्च कर दी जाय और उससे आगे के लिए कुछ भी पुण्यार्जन न किया जाय तो वह कब तक रहेगी। पूर्व पुण्य के क्षय होते ही नष्ट हो जायगी और आगे उस व्यक्ति को दुख ही उठाना पडेगा। अतएव सम्पत्ति को प्राप्त कर दान धर्म करना चाहिए। दान करने से कोई भी व्यक्ति कभी दरिद्री नही बनता और न उसे कभी कष्ट भोगना पडता है। ससार के इतिहास मे एक भी ऐसा उदाहरण नही मिलेगा जिसमे यह बताया गया हो कि दान करने से अमुक व्यक्ति दरिद्र बन गया और उसका धन क्षय हो गया। सम्पत्ति का क्षय सदा व्यसनो के सेवन से होता है।

व्यसनो का प्रवेश होते ही सम्पत्ति घर से कूच कर जाती है। देखते-देखते पता भी नही लगता कि कब मनुष्य दरिद्र बन गया है। कुछ समय के पश्चात् एकाएक वह दरिद्री, दुखी और दीन दिखलाई पडने लगता है। जुआ खेलना, शराब पीना और वेश्यागमन करना ये तीन व्यसन

इतने खराब हैं कि इनके सेवन करने वाले के पास सम्पत्ति रह न.ी सकती है। कुछ समय के लिए वह भले ही आनन्द का अनुभव कर ले पर पीछे उसे अवश्य पछताना पडता है। अत जो समृद्धिशाली हैं उन्हे इन्द्रिय संयम का पालन करते हुए दान धर्म के कार्यों मे सतत प्रवृत्ति करनी चाहिए। पूर्व पुण्योदय से प्राप्त लक्ष्मी का उपयोग करते हुए जो धर्माराधना करता है, दान पुण्य के कार्यों मे निरन्तर भाग लेता रहता है उसके उस पूर्व सचित पुण्य कर्म के रस मे वृद्धि होने से वर्तमान सुख में भी वृद्धि हो जाती है तथा नवीन पुण्य कर्म का बन्ध होने से आगे भी सुख की प्राप्ति होती रहती है।

जो व्यक्ति वर्तमान मे दुखी है, उसके लिए भी धर्म परम सुखदायक है। धर्म सेवन के लिए धन की ही आवश्यकता नही है, बिना धन के भी धर्माचरण किया जा सकता है। क्रोध, मान, माया और लोभ कपाय को मन्द करना, दया धर्म का अनुसरण करना, अभिमानवश किसी भी व्यक्ति को बुरे वचन न कहना, हितमित-प्रिय वचनो का व्यवहार करना प्रत्येक व्यक्ति के लिए उपकारी है। अत. धनी-निर्धनी सभी को धर्माचरण करना आवश्यक है।

इस श्लोक का साराश यह है कि कवि ने इस मे दान की आवश्यकता बतायी है —

चारित्रं चिनुते धिनोति विनयं ज्ञानं नयत्युन्नतिं ।
पुष्णाति प्रशमं तपः प्रबलयत्युल्लासयत्यागमं ॥
पुण्यं कंदलयत्यघं दलयति स्वर्गं ददाति क्रमा—
न्निर्वाणश्रियमातनोति निहितं पात्रे पवित्रं धनं ॥

सत्पात्र दान मे अपनी लक्ष्मी का उपयोग धर्मात्मा लोग करते है। इसलिए वह पवित्र द्रव्य सदाचार को उत्पन्न करता है। और नम्रता को बढ़ाता है। ज्ञान की उन्नति करता है। पुरुषार्थ उत्पन्न करता है।

शास्त्र ज्ञान प्रबल करता है। पुण्य का संचय करता है। पाप का नाश करता है। स्वर्ग सुख को प्राप्त कर देता है और उसी प्रकार क्रम से मोक्ष सुख को प्राप्त कर देता है। अर्थात् सत्पात्र दान से क्रम से मोक्ष की प्राप्ति होती है। ऐसे सत्पात्र को नियम से दान देना चाहिए।

दान का विशेष फल बतलाते हैं—

दारिद्रय न तमीक्षते न भजते दौर्भाग्यमालम्बते ।
नाकीर्तिर्न पराभवोऽभिलषते न व्याधिरास्कंदति ।।
दैन्य नाद्रियते दुनोति न दर: क्लिश्यन्ति नैवापद: ।
पात्रे यो वितरत्यनर्थदलनं दान निदानं श्रियाम् ।।

जो मनुष्य अनर्थ का निवारण करने वाला और चक्रवर्ती आदि ऐश्वर्य के कारणीभूत ऐसा सत्पात्र दान देता है उसको दरिद्रता कभी प्राप्त नही होती है। कभी दुर्भाग्य नही मिलता। जगत मे उसकी अपकीर्ति नही होती। तिरस्कार नही होता। रोग की उत्पत्ति नही होती है। दरिद्रता प्राप्त नही होती, भय उत्पन्न नही होता, कोई भी आपत्ति नही आती। पाप की उत्पत्ति नही होती। इस प्रकार सत्पात्र दान का यह महत्व है।

पुण्य-सम्पादन के लिए दान देने वाले को मनमाने सुख की प्राप्ति होती है।

लक्ष्मी कामयते मतिर्मृगयते कीर्तिस्तमालोकते ।
प्रीतिश्चुम्बति सेवते सुभगता नीरोगतालिंगति ।।
श्रेय संहतिरभ्युपेति वृणुते स्वर्गोपभोगस्थिति—
मुक्तिर्वाञ्छति य प्रयच्छति पुमान् पुण्यार्थमर्थं निजम् ।।

जो मनुष्य पुण्य सचय के लिए सक्रिय द्रव्य सत्पात्र को देता है उसको सम्पत्ति प्राप्त होती है। सद्‌बुद्धि उसे ढूंढती है, कीर्ति उसकी तरफ देखती है। प्रीति चुम्बन करती है। सौभाग्य उसकी सेवा करता है। उसको

आरोग्य आलिंगन करता है। उसको बहुत से सुख की प्राप्ति होती है, स्वर्ग की सम्पत्ति उसका वरण करती है और इसी प्रकार अन्त मे मुक्ति उसकी वांछा करती है।

तस्यासन्ना रतिरनुचरी कीर्तिरुत्कण्ठिता श्रीः।
स्निग्धा बुद्धि परिचयपरा चक्रवर्तित्वलक्ष्मी.॥
पाणौ प्राप्ता त्रिदिवकमला कामुकी मुक्तिसम्पत्।
सप्तक्षेत्र्यां वपति विपुल वित्तबीज निज यः॥

जो मनुष्य चैत्य, चैत्यालय, शास्त्र, निर्ग्रन्थ मुनि, अर्जिका, श्रावक और श्राविका इन सात प्रकार के क्षेत्रो मे अपने न्याय पूर्वक कमाये हुए द्रव्य को बोता है अर्थात् खर्च करता है, रति उसके निकट रहती है अर्थात् उसे सुन्दर स्त्रियां प्राप्त होती हैं। कीर्ति दासी बनती है अर्थात् जगत मे उसकी खूब कीर्ति होती है। लक्ष्मी उसके लिये लालायित रहती है। बुद्धि निर्मल हो जाती है। चक्रवर्ती पद की लक्ष्मी उससे परिचय करने के लिए लालायित रहती है। स्वर्ग की लक्ष्मी उसके हाथ मे आती है। और मोक्ष लक्ष्मी उसे प्राप्त करने की इच्छा करती है।

इसलिये प्रत्येक मनुष्य को सत्पात्रो को दान देना चाहिये। इसीलिये श्रावक की दैनिक क्रियाओ मे दान को आवश्यक बताया है।

अहिंसादि व्रतो मे हमेशा दृढता होनी चाहिए

व्रतमं माण्दोडे सेवे माण्दुदरिदे ? शीलोपवासक्क वे-च्चुतिरल्विक्रमलक्ष्मि जार्वुदरिदे ? सत्पात्रदानं विव-र्जितमागलिसरिकुं दिवपुं दरिदे ? निम्मर्चनासंभ्रमं। च्युतमागल्नृप वैभवं सडिलदे रत्नाकराधीश्वरा॥८५॥

हे रत्नाकराधीश्वर !

अहिंसादि व्रत के छूट जाने से नौकरो द्वारा होने वाली सेवाए न मिलें तो क्या आश्चर्य है ? आचरण के हेतु उपवास आदि से डरा जाय

तो पराक्रम और सम्पत्ति के अलग हो जाने में क्या देरी हो सकती है ? यदि सत्पात्र को दान देना बन्द हो जाय तो सम्पत्ति के क्षीण होने में क्या देर लगेगी ? आपकी पूजा और उत्सव के भाव लुप्त हो जायें तो क्या राज सम्पत्ति शिथिल न होगी।

ससार मे समस्त सुख पुण्योदय से ही प्राप्त होते है । पुण्योदय के विना एक क्षण के लिए भी सुख नही मिल सकता है । जीव जब तक पचाणुव्रतो का पालन करता है, तब तक उसे नाना ऐश्वर्य और विभूतियाँ प्राप्त होती रहती है । पुण्योदय और पुण्यार्जन के दूर होते ही समस्त सुख सामग्रियाँ नष्ट हो जाती है। जो नौकर चाकर सकेत पाते ही सारे कार्यों को कर डालते थे, वे भी मुख मोड़ लेते हैं। अत. प्रत्येक व्यक्ति को सर्वदा व्रत, उपवास, दान, पूजा और सयम आदि का पालन करना चाहिए। किसी भी व्यक्ति का आत्मोत्थान तथा किसी को भी सासारिक सुख की प्राप्ति धर्म के बिना नही हो सकती है। धर्म द्वारा ही सुख, सम्पत्ति, वैभव आदि मिलते है। अतः समस्त सुखो की प्राप्ति के प्रधान कारण धर्म की रक्षा करना नितान्त आवश्यक है। जैसे किसान खेत मे जितना अनाज उत्पन्न करता है, उसमे से खर्च करने के बाद बीज बोने के लायक अनाज अवश्य बचा लेता है तभी वह आगे सुख और शान्ति से अपनी आजीविका चला सकता है। इसी प्रकार प्राप्त पुण्य के उदय से सुखो को भोगना चाहिए, पर आगे की भी कुछ चिन्ता करनी चाहिए।

धर्म कल्पवृक्ष के समान ही अचिन्त्य फल नही देता है, पर उससे भी अधिक देता है। क्योकि कल्पवृक्ष से फल पाने के लिए मन मे संकल्प करना पड़ता है, पर धर्म के लिए यह वात नही है। यह तो स्वयं जीव को सुख प्रदान करता है, इसके लिए मानसिक सकल्प भी नही करना पडता, किसी प्रकार की याचना नही करनी पड़ती और न किसी भी तरह का चिन्तन ही। धर्म सेवन द्वारा वचनातीत फल मिलता है, इसके द्वारा दुष्कर कार्य भी सुखकर हो जाते है।

धर्म का मुख्य साधन परिणामो-भावो की विशुद्धता है। पुण्य और पाप का सचय परिणामो के ऊपर आश्रित है तथा परिणामो की विशुद्धता या मलिनता जीव के ऊपर स्वयं आश्रित है । अत: कोई भी जीव जैसा चाहे वैसा बन सकता है। अत सुख का साधन पुण्य सचय, पुण्य की वृद्धि, पाप बन्ध का निरोध तथा पूर्वसचित पाप का ह्रास है। पूर्व पुण्य के उदय होने पर भी पाप का निरोध न किया जाये तो जीव को सुख नही मिल सकता है, क्योंकि बन्धने वाला कर्म जब उदय मे आयगा तब कष्ट या दु ख ही देगा।

जो अज्ञान या मिथ्यात्ववश धर्म की रक्षा नही करते हैं, नवीन धर्म का संचय न कर केवल पूर्वसचित धर्म के फल को भोगते हैं, वे पापी उत्तम फल देने वाले वृक्षो को काटकर फल खाने वालो के समान हैं। अभिप्राय यह है कि जो निरन्तर विषयो का सेवन करते हुए धर्माचरण से दूर भागते हैं, वे धर्म का उच्छेदन कर पाप का सचय करते हुए दु ख के पात्र बनते हैं। पुण्योदय से प्राप्त भोग भोगने के साथ विषय सेवन का कोई विरोध नही है, क्योंकि सावधानी पूर्वक भोग भोगने से धर्म का संरक्षण होता है। धर्म भावना कषायो को मन्द करने, सन्तोष तथा अहिंसादि परिणामो के धारण करने से सहज मे ही प्राप्त की जा सकती है । प्राप्त विषयो मे असन्तोष और अप्राप्त विषयो के लिए अत्यन्त तृष्णा करना ही सबसे बडा पाप है । इसकी पूर्ति के लिए ही जीव को हिंसा, असत्य, चोरी आदि पापो का आश्रय लेना पडता है।

गृहस्थाश्रम मे रह कर सासारिक सुखो को भोगते हुए भी जीव पुण्य बन्ध कर सकता है, अपनी आत्मा का उत्थान कर सकता है। आत्म-कल्याण करने के लिए सबको घर छोड़ना आवश्यक नही, बिना छोडे भी अभ्यासवश कषाये मन्द की जा सकती हैं। कषायो को मन्द करने का उपाय यह है कि प्राप्त भोगो मे सन्तोष करना, उद्विग्न न रहना, अप्राप्त इष्टानिष्ट विषयो की तरफ उत्कट राग-द्वेष न रखना, अन्याय तथा अभक्ष्य भक्षण न करना एवं लोक या राज्य विरुद्ध आचरण

न करना। इन्द्रियजयी व्यक्ति भी कषायों को मन्द करता है। अतएव पुण्यार्जन करने के लिए निरन्तर प्रयत्न करना चाहिए।

मनुष्य को रोगों के निवारण के लिए उपाय करना चाहिए—

भूकंपं ग्रहणं बरं ग्रहदनिष्टं व्यंतरोग्रं रुजा
शोकं दुःस्थितिगव्य मर्त्यगजवाहन्मारि दुस्वप्नना
नाकष्टक्के महाभिषेक कलिकुंडाद्यर्चनं संघपू-
जाकार्यं दोरे माळ्प शांति कवकवला रत्नाकराधीश्वरा!

हे रत्नाकराधीश्वर!

जिनेन्द्राभिषेक और कलिकुण्ड आदि यंत्रो की आराधना तथा इन्द्रध्वज विधान आदि, भूकम्प, सूर्य और चन्द्र ग्रहण, महामारी, आकस्मिक विपत्ति, गृहस्थ-पीडा, व्यंतर देवो का प्रकोप, रोगादि का दुःख, दुःष्काल की स्थिति, गाय, मनुष्य, हाथी और घोडो का भयंकर रोग, दुस्वप्न इत्यादि नाना प्रकार के दुखो की शान्ति के प्रयत्न है।

विपत्ति के समय भगवान् का अभिषेक, स्तवन, पूजन एव बड़े-बड़े विधान करने से पुण्य का बन्ध होता है, जिससे पापजनित अशान्ति दूर हो जाती है। भूकम्प एव महामारी जैसी आकस्मिक विपत्तियो की शान्ति भी कलिकुण्ड आराधना, वज्रपंजर-विधान, इन्द्रध्वज-विधान आदि के द्वारा हो जाती है, क्योकि इन आराधनाओं के करने से महान पुण्य का वन्ध होता है तथा यक्ष यक्षिणियाँ, जो कि भगवान् की सेविका बतायी गयी है, पुण्य के प्रभाव से आकर विपत्ति को दूर करती हैं, व्यन्तर देव सर्वत्र विहार करते है, वे जिनेन्द्र भगवान् के भक्तो पर आयी हुई विपत्तियो को दूर करने मे किसी भी प्रकार की आनाकानी नही करते। पुण्य के प्रभाव से व्यन्तर देव किंकर वन जाते हैं, पुण्यात्माओ के अनुसार वन कर सब प्रकार से उनकी सहायता करते है। भक्तामर स्तोत्र मे भगवान् की स्तुति और पूजा का माहात्म्य बताते हुए कहा है—

आस्तां तव स्तवनमस्तसमस्तदोषं
त्वत्संकथापि जगतां दुरितानि हन्ति ।
दूरे सहस्रकिरणः कुरुते प्रभैव,
पद्माकरेषु जलजानि विकाशभांजि ॥

हे प्रभो ! आपकी स्तुति और पूजा की तो बात ही क्या है, जो समस्त रागादि दोषो को दूर करने वाली है। प्रभो ! आपके नाम मात्र से ही जीवो के पाप का नाश हो जाता है। सूर्य की किरणो के प्रकाश की तो बात ही क्या, प्रात कालीन प्रभा की लालिमा से ही कमल विकसित हो जाते है, उनका उदासीनपन दूर हो जाता है। भगवान् वीतरागी हैं, भक्त पर कुछ भी अनुग्रह नही करते, फिर भी उनके नाम तथा गुणों के स्मरण से वह शक्ति आ जाती है जिससे समस्त पाप कालिमा के दूर होने से पुण्य का सचय हो जाता है और आत्मानुभूति जाग्रत हो जाती है।

पवित्र आत्माओं की पूजा करने या नाम स्मरण करने से पापो का नाश होता है, अन्तराय कर्म का बल कम हो जाता है। पवित्र आत्मा में जितना शुभराग लगता है, जीव का उतना ही पाप दूर हो जाता है और पुण्य का बन्ध होता है। इसलिए पूज्य पुरुषो की भक्ति पाप को गलाकर पुण्य प्रकट करती है और सम्यग्दर्शन को निर्मल बनाती है। जब व्यक्ति यह समझता है कि भगवान् की पूजा करने से, उनकी आराधना करने से हमारा अमुक कार्य अवश्य हो जायगा क्योंकि भगवान् सुख-दु ख देने वाले है, तब निश्चय ही सम्यग्दर्शन का घात हो जाता है तथा मिथ्यात्व की भावना का उदय हो जाता है। सम्यग्दृष्टि जीव भगवान् को प्रसन्न करने के लिए पूजा नही करता है, क्योकि वह जानता है कि भगवान् निरपेक्ष हैं, वीतरागी है, वे किसी से स्नेह या द्वेष नही करते। भगवान् के पवित्र गुणो का स्मरण करने स ही आत्मा मे इतनी पवित्रता और विशुद्धि आ जाती है जिससे पाप कर्म हल्का हो

सकता है। प्रबल पाप के उदय को पलटना तो कठिन ही है, पर सामान्य पाप के उदय को पलटा जा सकता है। क्योकि स्वय हम ही तो करने और भोगने वाले है।

विपत्ति के समय भगवान् की पूजा और आराधना करने का जो विधान किया गया है, उसका इतना ही अर्थ है कि विपत्ति के समय इन कार्यो से आत्मिक शान्ति मिलती है तथा भावनाओ के पवित्र होने से उस समय शुभ का वन्ध होता है।

धर्म प्रभावना भी मोक्ष का कारण है

दीक्षाग्राहिगळं दयाश्रुतमना यक्षर्कळं निम्म स।
ल्लक्ष दिंबंबामनानेयंदनगळोळ्पल्लक्कि योळ्तेरोळि।
ट्टक्ष्पोत्सवदि प्रभावनेगळं माळ्पं निरायासदिं।
मोक्षश्रीगधिनाथनप्पुदरिदे रत्नाकराधीश्वरा ! ॥८७

हे रत्नाकराधीश्वर !

दीक्षा ग्रहण करना, दयामय शास्त्र को पढाना, यक्ष यक्षिणी सहित श्रेष्ठ और प्रकाशमान जिन प्रतिमा को हाथी पर, पालकी मे, रथ मे रखकर अत्यधिक उत्सव सहित सवारी निकालना ये सब कार्य विना कष्ट के कुछ समय के पश्चात् मोक्ष लक्ष्मी को क्या प्राप्त नही करा सकेंगे।

प्रभावना करना धर्म के लिए नितान्त आवश्यक है। प्रभावना का सीधा-सादा अर्थ यह है कि अपने धर्म की उन्नति, विकास और प्रसार के लिए रथोत्सव करना, वडे-वडे विधान करना, प्रतिष्ठा करना, जिससे सहस्रो या लाखो की संख्या मे जनता धर्म के वाह्य रूप को देख सके। धर्म के अन्तरग रहस्य परिणाम शुद्धि या आत्मिक शान्ति को साधारण जन समाज नही समझ सकता है। वैयक्तिक होते हुए भी धर्म को सामूहिक या सामाजिक रूप देना ही प्रभावना है। उत्सव करने से सैकडो

ही नही, सहस्रो व्यक्ति धर्म की ओर आकृष्ट होते है। उत्सव आदि धर्म प्रचार मे बड़े सहायक हैं, इनके द्वारा किसी भी धर्म का प्रचार सरलता पूर्वक किया जा सकता है क्योकि बाह्य रूप को देखकर अधिकांश भावुक व्यक्तियो का धर्म मे दीक्षित हो जाना या उस धर्म से परिचित हो जाना स्वाभाविक है।

पुरातन काल में धर्म परिवर्तन के प्रधान साधनो मे रथोत्सव, शास्त्रार्थ और मान्त्रिक चमत्कार थे। जो सम्प्रदाय इन कार्यों मे प्रवीण होता था, वह अपने धर्म के अनुयायियो की सख्या बढा लेता था। उस काल मे राजा के अनुसार ही प्राय प्रजा का धर्म रहता था। यदि राजा जैन धर्मानुयायी है तो उसकी प्रजा भी प्रसन्नता से इसी धर्म की अनुयायी बन जाती थी और कालान्तर मे उसी राजा के शैव धर्मानुयायी हो जाने पर प्रजा को भी शैवधर्म ग्रहण करना पडता था। इस प्रकार उस काल मे धर्म प्रचारक धर्म के बाह्य रूपो को जनता के सामने रखते रहते थे।

वर्तमान मे भी रथोत्सव, पूजा, प्रतिष्ठा आदि प्रभावना के कार्यों की बडी आवश्यकता है। इन कार्यो के द्वारा जनता मे धार्मिक अभिरुचि उत्पन्न की जाती है, जनता किसी भी धर्म को जान सकती है, तथा उसकी ओर आकृष्ट भी हो सकती है। आज पूजा, प्रतिष्ठा के अलावा भी जैन शास्त्रो को छपवाकर बाटना, जिससे सर्व साधारण जैन धर्म के तत्वो से अवगत हो, प्रभावना का कार्य है। इस कार्य के द्वारा प्रभावना तो होती है, पर पुण्य का भी महान् बन्ध होता है, क्योकि शास्त्रों के अध्ययन द्वारा अनेक व्यक्ति अपने आचरण को सुधार सकते हैं, अपनी आत्मा का कल्याण कर सकते हैं तथा असत् मार्ग से हट कर सत् मार्ग मे लग सकते है। अतः प्रभावना के कार्यो से पुण्यार्जन होता है, जिससे जीव को परम्परा से मोक्ष की प्राप्ति होती है।

धन पाकर जो व्यक्ति धन का व्यय नही करता है, केवल अपने भोग-विलास को ही सब कुछ समझता है, उसी मे मस्त रहता है, वह

व्यक्ति निम्न कोटि का है। उसका जीवन पशुवत् है, क्योकि खाना-पीना यही सकुचित क्षेत्र उसके जीवन का है। मनुष्य जन्म को प्राप्त कर जिसने अपने अभीष्ट धर्म का उद्योत नही किया तथा अपने अर्जित धन में से मानव कल्याण मे कुछ नही लगाया, उसका जीवन निरर्थक है। नीतिकारो ने ऐसे व्यक्ति की बड़ी भारी निन्दा की है।

प्रत्येक गृहस्थ का कर्त्तव्य है कि वह अपनी कमाई का आठवाँ या दसवा भाग दान मे अवश्य खर्च करे। आज के युग मे मन्दिर बनवाने या प्रतिष्ठा करवाने की उतनी अधिक आवश्यकता नही है, जितनी ज्ञानदान और जैन साहित्य के प्रचार की है। मन्दिर इस समय पर्याप्त सख्या में प्रत्येक नगर मे वर्तमान है, अधिक मन्दिर रहने से उनकी व्यवस्था भी ठीक नही हो पाती है, अत. अब प्रभावना के लिए मन्दिर की आवश्यकता नही। रथोत्सव आदि प्रभावना के लिए आज भी उपयोगी हैं, पर इनको भी संभाल कर करना चाहिए। क्योंकि प्रभावना का ठोस कार्य जितना साहित्य के प्रचार या शिक्षा द्वारा हो सकता है, उतना रथोत्सव आदि से नही। साहित्य के प्रचार से जैनधर्म का यथार्थ बोध जनता कर सकती है तथा जैन-धर्म के मौलिक आध्यात्मिक तत्वो का मनन कर सकती है। जैन-धर्म आचार और विचार दोनो की ही दृष्टि से सर्व साधारण को अपनी ओर आकृष्ट करने वाला है तथा इनके मनन, चिन्तन द्वारा प्रत्येक व्यक्ति अपना कल्याण कर सकता है। अत. प्रत्येक श्रावक को दान अवश्य करना चाहिए।

श्रमण शब्द का अर्थ है दीक्षा

कवि ने इस श्लोक मे यह बतलाया है कि दीक्षा ग्रहण करना, दयामय शास्त्र को पढ़ना और श्रेष्ठ भगवान की प्रतिमा को रथ में विराजमान करके प्रभावना करना ये सभी मोक्ष प्राप्ति के साधन है।

दीक्षा का अर्थ है कि ससार, शरीर, भोग इनसे विरक्त होकर संपूर्ण जीवों पर दया की भावना करते हुए इन्द्रिय और प्राणी संयम की रक्षा करना है। अर्थात् मन-वचन कार्य से जो जीवों की रक्षा

करता है और हमेशा आत्म साधन मे लीन रहता है। ऐसे करने वाले जीव को श्रमण कहते हैं। कहा भी है कि—

य: सम: सर्वभूतेषु, त्रसेपु स्थावरेषु च।
तपश्चरति शुद्धात्मा श्रमणोऽसौ प्रकीर्तित.॥

जो समस्त जीवो में अर्थात् त्रस एवं स्थावरो मे समान दृष्टि रखने वाले होते हैं एवं घोर तपस्या करते हैं उनका नाम श्रमण है। गृहस्थ संसार मे रह कर पाच अणुव्रतों का पालन करता है और जिनेन्द्रदेव शास्त्र गुरु के ऊपर श्रद्धा रखता है, उनके द्वारा तत्वो पर रुचि रखता है, उसी के अनुसार क्रिया-आचरण करता है उसको श्रमण कहते हैं। श्रावक भगवान् जिनेन्द्र देव के कहे हुए मार्ग पर श्रद्धान रखता हुआ उनकी मूर्ति की प्रतिष्ठा या उनकी वाणी का प्रचार रथोत्सव निकाल कर करता है, जीव दया पालता है और हमेशा धर्म मे रुचि रख करके अपने एकदेशव्रत का पालन करता है वह उत्तम श्रावक इह और परलोक का साधन कर लेता है। अन्त मे इसके निमित्त से मोक्ष की प्राप्ति कर लेता है। इस प्रकार सभी भव्य जीवो को धर्म प्रभावना व्रत नियम दीक्षा इत्यादि का अपनी शक्ति के अनुसार पालन करके इस मनुष्य जन्म को सार्थक कर लेना चाहिए।

इन्द्रिय विषय वासना को छोडे बिना इस जीव को सुख
और शान्ति नही मिल सकती है।

होर मिंचि होलेवेण्गे सोल्व श्रृंगारवीरक्के वा
योरदी तस्करजार वीरविटवेश्या काव्यमं केळ्दु मे ॥
य्मरे वपुंण्य पुराणदत्तेळसय्यो ! भूपरोल्दम्लमं ।
सुरिवपाल्गुडियेंदरं जडिवरैं रत्नाकराधीश्वरा ! ॥८८॥

हे रत्नाकराधीश्वर !

राजा लोग बाहरी चमक दमक रखने वाली चाण्डाल स्त्री के वश

मे हो जाने के कारण मुँह मे पानी भर कर अर्थात् अत्यधिक चाव के साथ शृंगार और वीर रस के काव्य, कुटिल स्त्री, वीर पुरुष और वेश्याओं के गाने सुनकर अपने कर्त्तव्य को भूल जाते है। महापुरुषों की पुण्यमयी कथाओ की उपेक्षा करते है। यह कितने आश्चर्य की बात है। वे अपने आप विषय रस को तो चाटते है पर जो उन्हे दुग्धपान का उपदेश देता है उसे डरा देते है। आज यह दशा राजाओ या बडे व्यक्तियों की ही नही, किन्तु सर्व साधारण की हो रही है। सभी विषयो मे सलग्न है। कितना आश्चर्य है ?

कवि ने इस श्लोक मे बताया है कि मानव जन्म प्राप्त करने के बाद राजा महाराजा लोग विषयाधीन होकर बाहर की चमक दमक वाली चाण्डाल स्त्री के वश मे हो जाते है। जीव ! तुझे मनुष्य पर्याय पा करके भी भगवान् जिनेन्द्र देव के कहे हुए मार्ग पर रुचि रख कर अपने अनादि काल से लगे हुए कर्म को दूर करने की भावना नही हुई। अब किस पर्याय मे इस कर्म को नष्ट करने का साधन मिलेगा। अपनी बिगडी को बनाने के लिए साधन मिलने पर उसका उपयोग दुर्व्यसन मे करके मनुष्य जन्म को यो ही खो दिया।

बालपनै न संभार सक्यो, कछु, जानत नाहि हिताहित ही को।
यौवन वैस वसी वनिता उर, कै नित राग रह्यो लछमी को ॥
यों पन दोइ विगोइ दिये नर, डारत क्यों नर कै निज जी को।
आये है सेत अजों शठ चेत गई सुगई अब राख रही को ॥

हे भोले जीव ! तू बाल समय तो इस वास्ते अपना कुछ सुधार नही कर सका कि तुझे हित अहित का ज्ञान नही था; तरुण अवस्था में स्त्री ने हृदय मे वास किया अथवा लक्ष्मी के उपार्जन के लोभ मे लगा रहा। इस तरह अपनी दोनो अवस्था जाया कर दी। हे नर ! अब तू अपने आप को क्यो नरक मे डाले है, अब तो तेरे सफेद वाल आ गए, अब तो चेत कर। गई सो तो गई, अब बाकी को तो राख अर्थात् अब

तो धर्म मे तत्पर हो।

वालपने वाल रह्यो पीछै गृहभार वह्यो,
लोकलाजकाल वाध्यो पापन को ढेर है।
अपनो अकाज कीनो लोकन मे जस लीनो,
परभौ विसार दीनों विषै वश जेर है ॥
ऐसे ही गई विहाय अलपसी रही आय,
नरपरजाय यह अन्धे को वटेर है।
आये सेत भैया! अब काल है अवैया अहो,
जानी रे सयाने तेरे अजों भी अन्धेर है ॥

हे जीव! तू वचपन मे तो वालक रहा, कुछ नही समझा, पीछे जवानी मे घर के धन्धो में लग गया, लोक-लज्जा के वास्ते बहुतेरा पापो का ढेर इकट्ठा किया। अपना तो काम विगाडा, और लोगो मे यश लिया। अपने पराभव को भूल गया, और विषयो मे लगा रहा। इसी तरह बहुत सी आयु गुजर गई। जरा सी वाकी रही है। हे जीव! यह नर देह ऐसी है जैसे अन्धे के हाथ मे वटेर पड जावे। तेरे श्वेत बाल आ गए, अब काल आने वाला है। हमने जानी है, भोले प्राणी! तेरे अब तक भी अन्धेर है अर्थात् तू बूढा फूस हो गया, तुझे अपना हित अब भी नही सूझता।

सार नर देह सब कारज को जोग येह,
यह तो विख्यात वात सासन में वचै है।
तामे तरुनाई धर्म सेवन को समय भाई,
सेये तव विषै जैसे माखी मधु रचै है ॥
मोहमद भोरा धन रामा हित जोरा,
योंही दिन खोये खाय कोदों जिम मचै है।
अरे सुन वौरे! अब आये सीस धौरे अजौं,
सावधान होरे नर नरकसों वचै है ॥

हे जीव ! चौरासी लाख योनियों मे यह नर भव ही सार है। अपनी आत्मा का उद्धार इसी भव मे कर सकता है, शास्त्रों मे यह बात प्रसिद्ध है। इसमे भी जो जवानी है, धर्म सेवन करने की यही अवस्था है परन्तु जैसे मक्खी शहद मे रचें तैसे तूने विषय सेवन किये। और मोह रूप मद का भौंरा हुआ स्त्रियो के वास्ते धन जोडता रहा। इसी प्रकार दिनो को व्यतीत किया जैसे कोदो खाकर मस्त हो जाय हैं। हे भोले ! अब तू सुन, तेरे सिर पर सफेदी आ गई, अब तो तू सावधान हो। इस तरह नरक मे जाने से बच सकता है।

बाय लगी कि बलाय लगी, मदमत्त भयो नर भूत लग्यो ही।
वृद्ध भये न भजै भगवान्, विषै विष खात अघात न क्यो ही॥
सीस भयो बगुलासम सेत, रह्यो उर अन्तरश्याम अजों ही।
मानुषभौ मुक्ताफल की लर, कूर तगाहित तोरत यों ही॥

हे प्राणी ! तुझे कोई वाय लग गई या कोई बला चिमट गई या नशे मे उन्मत्त हो गया या कोई पिशाच लिपट गया जो वृद्ध होने पर भी ईश्वर को याद नही करता अर्थात् भगवान् का भजन नही करता। और विषय रूपी विष खाता हुआ तृप्त नही होता। तेरा सिर बगुले के समान सफेद हो गया। परन्तु तेरे हृदय की स्याही अब तक नही गई। यह तेरा मनुष्य जन्म मोतियो का हार है, इन्द्रियों का सुख इसमे तागा है। उसके वास्ते इस मोतियो के हार को क्यो तोडता है, अर्थात् इस विषय भोग के वास्ते इस नर-भव को वृथा क्यो खोता है ?

संसारी जीव का चिंतवन

चाहत है धन होय किसी विध, तो सब काज सरै जियरा जी।
गेह चुनाय करूँ गहना कछु, व्याहूँ सुतासुत बाटिये भाजी॥
चिन्तत यों दिन जाहिं चले जम, आन अचानक देत दगाजी।
खेलत खेल खिलारि गये, उठ रोपी रही शतरंज की बाजी॥

यहाँ कवि इस संसार की अवस्था दिखाता है कि देखो, यह मनुष्य सदा यही चाहता रहता है कि मेरे किसी तरह धन की प्राप्ति हो जाय तो मेरे सारे कार्य हो जायें मुझे सुख हो, हवेली चिनाऊँ, गहने बनाऊँ, पुत्र पुत्री के ब्याह करूँ, परिवार मे खूब भाजी बांटूं। इस तरह चिंतवन करते-करते समय बीत जाता है। अचानक काल आकर धोखा देकर भक्षण कर लेता है। जिस प्रकार शतरज के खिलाड़ी उठ जावें और बाजी ज्यो की त्यो लगी रहे, इसी तरह मनुष्य काल को प्राप्त हो जाता है और दुनिया के काम सब ज्यो के त्यो पडे रह जाते हैं।

तेज तुरंग सुरंग भले रथ, मत्त मतंग उतंग खरे ही।
दास खवास अवास अटा धन, जोर करोरन कोश भरे ही॥
ऐसे भये तो कहा भयो हे नर ! छोर चले उठ अन्त छरे ही।
धाम खरे रहे काम परे रहे, दाम गढे रहे ठाम धरे ही॥

हे मनुष्य ! अगरचे तेरे दरवाजे पर सुन्दर घोडे, सुन्दर रथ, मस्त हाथी खडे हैं और नौकर चाकर, मकान बहुत कुछ हैं और अटूट धन जोड़-जोडकर खजाने भर लिए है। हे भोले ! तू ऐसा भी हुआ तो क्या हुआ क्योकि अन्त मे सब यहाँ ही छोड़ जाना है, सब मकान यहाँ ही खड़े रहेगे, सब काम यहाँ ही पड़े रहेगे और जो धन जोड़ा है यहाँ ही धरा रहेगा।

कचनभंडार भरे और धन पुंज परे,
घने लोग द्वार खड़े मारग निहारते।
यान चढि डोलत है झीने सुर बोलत है,
काहुकी हू ओर नेक नीके न चितारते॥
कीलों धन खागे कोऊ कहे थे न जाने तेऊ,
फिरैं पाय नांगे कागे परपग झारते।
एते पै अयाने गरवाने रहैं विभौ पाय,
धिक है समझ ऐसी धर्म ना सभारते॥

हे मनुष्य ! तेरे सोने के भंडार भरे हुए और धनो के ढेर लगे हुए हैं और बहुत से लोग तेरे द्वारे खडे हुए तेरा रास्ता देख रहे है। तू सवारी पर चढ़ा घूम रहा है और बडी बारीक आवाज से बोलता है और किसी भी तरफ जरा ख्याल नही करता। यह धन जिसके अभिमान मे तू ऐसा मगरूर हो रहा है, इस धन को कब तक खायेगे, इस धन के निबट जाने पर वही कहेगे कि हम तो तुझे जानते भी नही। और पराये पग झाडता हुआ नगे पैरो फिरेगा। धिक्कार है तेरी समझ को। इतना वैभव पा कर भी मान के वश रहा और धर्म न सभाला।

जीव मे जब अनात्मीक भाव आ जाते है, तब वह आत्मस्वरूप को भूल जाता है और परपदार्थों को अपना समझने लगता है। विषय-सुख, जो आत्मा के स्वरूप से सदा भिन्न है, जिनका सम्बन्ध इस आत्मा से बिल्कुल नही है, यह जीव अपना मानने लगता है। इसी का नाम मिथ्यादर्शन है, इसी के प्रभाव से यह जीव ससार के पदार्थों मे मोह बुद्धि करता है, तथा अपने स्वरूप को भूल जाता है। प्रत्येक अनात्मीय वस्तु इसे आत्मीय प्रतीत होती है। इसी कारण इस जीव को धन, पुत्र, पुत्री, स्त्री आदि प्रिय लगते है। अपनी विषयेच्छा को पुष्ट करने के लिए यह नाना प्रकार के शृगारिक काव्यो का अध्ययन करता है, नीच पुरुषों की संगति करता है तथा सप्त व्यसनो के सेवन मे लग जाता है।

मिथ्यादर्शन के कारण जीव को हिताहित का विवेक नही रहता है। विषय भोगो की आकाक्षाएं उत्तरोत्तर बढती जाती हैं। नाना विषयो को बार बार भोगता है, बार बार छोडता है, पर इसे तृप्ति नही होती। शान्ति का परम कारण इस जीव ने भौतिक इन्द्रिय-जन्य वासनाओं को तथा उनकी पूर्ति करने वाले पदार्थो को मान लिया है, इससे इसकी भ्रान्ति बढती ही जाती है। अपने गुणो से इसे मोह नही रहता और न उनकी प्राप्ति की आकाक्षा होती है, किन्तु अन्य के गुणो को अपना मानता है, उन्ही से प्रेम करता है तथा भ्रमवश परायी वस्तु को अपनी समझ लेता है।

मिथ्यादर्शन के कारण ही इस जीव का सारा ज्ञान भी मिथ्या हो जाता है, जिससे शरीर को आत्मा और शरीर की नाना अवस्थाओ को अपनी अवस्थाएँ मानता है। भ्रान्ति से उत्पन्न इन अवस्थाओ मे इसकी कषाय के अनुकूल जो अवस्था होती है उसमे प्रसन्न होता है, क्षणिक सुख का अनुभव करता है, पर कषाय की प्रतिकूल अवस्था मे विषाद करता है। पचेन्द्रियो के विषय के सेवन मे भी जीव का लक्ष्य कषाय पुष्टि ही होता है अर्थात् जीव अपने भीतर उत्पन्न कषाय की तृप्ति विषय सेवन द्वारा करना चाहता है। राग-भाव उत्पन्न होने पर ही यह रसीले गीत सुनता है, रसीली कविताओं के सुनने में आनन्द का अनुभव करता है। सुन्दर पदार्थो के देखने की लालसा के उत्पन्न होने पर ही उन पदार्थो को देखकर अपनी विषय लालसा को तृप्त करता है। जितनी भी इच्छाएँ आत्मा मे बेचैनी उत्पन्न करती हैं, उन सबको पूरा करने का यह जीव प्रयत्न करता है। मिथ्यात्व के कारण यह जीव विषयो मे पूर्ण आसक्त हो जाता है। सम्यग्दृष्टि जहाँ प्रत्येक कार्य मे अनासक्त होकर प्रवृत्त होता है, वहाँ मिथ्यादृष्टि का प्रत्येक कार्य आसक्ति के साथ होता है।

मिथ्याज्ञान के रहने से जीव की जो प्रवृत्ति होती है, वह मिथ्या चारित्र कहलाती है। मिथ्यादर्शन के कारण यह जीव पर को अपना मानता है तथा पर मे ही प्रवृत्ति करता है। आत्मा के निज गुणो मे इस जीव की प्रवृत्ति नही होती है। विषय लालसा, तृष्णा तथा मिथ्या आशाओ के वशीभूत होकर यह जीव निरन्तर विपरीत प्रवृत्तियो मे आसक्त रहता है। अत' प्रत्येक जीव को मिथ्यादर्शन, मिथ्याज्ञान और मिथ्याचारित्र का त्याग कर आत्मा की निज परिणति का श्रद्धान, ज्ञान और निज परिणति में प्रवृत्ति करनी चाहिए।

मनुष्य की, श्रेष्ठ चारित्र की वृद्धि करने वाली कथाओ मे तथा श्रेष्ठ चारित्रवान् व्यक्तियो की सगति मे, प्रवृत्ति भी मिथ्यात्व के कारण ही नही होती है। वासनाओं को वृद्धिगत करने वाली शृगारिक रच-

नाओ के सुनने मे प्रवृत्ति होने का कारण भी मिथ्या प्रतीति ही है । अत. प्रत्येक व्यक्ति को विषय वासनाओ की ओर से अपनी प्रवृत्ति को हटाकर आत्मा को ओर लगाना चाहिए, तभी आत्मा का कल्याण हो सकेगा ।

बुद्धिमानों को हास्य रस का त्याग करना चाहिए ।

शृंगार कळिनीतिगेंदवनिपर्दुष्काव्यके कोल्वरा ।
शृंगारं कलिनीतिगळ्कडमेये सत्काव्यदोळ् ? ळौकिकं ।।
पोंगिर्दंग्गळनेमिरत्नकुमुदेंदु श्रीजिनाचार्य का—
व्यगळ्माडवे मोहमं मुकुतियं रत्नाकराधीश्वरा ! ८६।।

हे रत्नाकराधीश्वर !

राजा लोग बहुधा यह कह कर कि वीर नीति के लिए शृंगार रस चाहिए, दुष्काव्य से प्रेम करते है । अच्छे काव्यो मे वीर रस और शूर-वीर की नीति क्या कम रहती है । ऐहिक विषयो से पूर्ण श्रेष्ठ नेमिचन्द्र, रत्न, कुमुददेव और श्री जिनसेन आचार्य इत्यादि के काव्य क्या अनुराग और मोक्ष उत्पन्न नही करेगे ?

प्राय. यह धारणा लोगो मे देखी जाती है कि वीररस और नीति के परिज्ञान के लिए शृगार रस का परिज्ञान आवश्यक है । शृगार रस के वर्णन मे तत्पर दुष्काव्यो से उनका स्नेह रहता है, वे शृगार रस की उक्तियो को अधिक पसन्द करते है । नायक नायिका के अगोपांगो का वर्णन, वियोगजन्य उनकी दशाओ का वर्णन तथा उनके हास-विलास और परिहास को वीरता के भाव जागृत करने मे सहायक मानते हैं, पर यह नितान्त अनुचित है । सत्काव्यो मे वीर रस और नीति का वर्णन विना शृगार के भी होता है । श्री जिनसेनाचार्य के महापुराण मे वीर-रस और राजनीति का वर्णन विना शृंगार के भी कितने उत्तम ढग से किया गया है । इस ग्रन्थ के अध्ययन से प्रत्येक व्यक्ति का आचरण

उन्नत हो सकता है, ऐहिक आकाक्षाएँ कम हो सकती है तथा निर्वाण पद को पाने की लालसा जाग्रत हो सकती है।

शास्त्र और काव्य ऐसा होना चाहिए जिससे इनके अध्ययन द्वारा प्रत्येक मनुष्य अपने आचरण को उन्नत कर सके तथा अपने मनोवल, वचनवल और कायबल को दृढ कर सके। जिस व्यक्ति के ये तीनो बल वर्तमान है, वह व्यक्ति अपने जीवन का वास्तविक कल्याण कर सकता है। सदाचार की नीव ये तीनो बल हैं। मन के सवल होने से बुरे संकल्प मन मे उत्पन्न नही होते हैं, विचार शुद्ध रहते है तथा हृदय मे निरन्तर शुद्ध भावनायें उत्पन्न होती है। हृदय के स्वच्छ हो जाने से वचन भी बुरे नही निकलते हैं। वचन-शक्ति इतनी सवल हो जाती है कि सत्य के सिवा मिथ्या वाणी कभी मुख से नही निकलती है। हिंसक, निन्द्य, कटु और कठोर शब्दो का प्रयोग ऐसा व्यक्ति कभी नही करता है।

ससार के सारे कार्य वचन से चलते हैं। राज-काज, व्यापार आदि सभी वचनो से सम्पन्न किये जाते हैं, अत. वचनो के सवल होने से मनुष्य कभी ऐसी वात नही कहेगा जो दूसरो के दिल को दुखाने वाली हो या किसी को हानि पहुचाने वाली हो। वह सर्वदा हित-मित-प्रिय वचन वोलता है, जिससे कोई भी व्यक्ति उसके वचनो से शान्ति और सुख ही प्राप्त कर सकता है। मधुर वचन हृदय को अपूर्व शान्ति देते हैं। हृदय गद्गद हो जाता है तथा अनिर्वचनीय आनन्द मिलता है। वचन की शक्ति से वक्ता अपने श्रोताओं को मुग्ध कर देता है, बडे-बडे वादियो के गर्व चूर हो जाते हैं। अत. प्रत्येक व्यक्ति का कर्तव्य है कि वह अपने मन मे बुरे विचार उत्पन्न न होने दे तथा वचन भी कभी किसी को बुरे न कहे।

ससार का सवसे वडा पाप मन की निर्वलता से ही होता है। जिसका मन निर्वल है वह डरपोक होता है, भय और आशका सर्वदा उसके सामने रहती हैं। कषायें ही मनुष्य के मन को सदोष वनाती हैं, वचनो को

विकार करती है। वासनाएं उत्पन्न होने की भूमि भी मन ही है। सबल मस्तिष्क मे अशुद्ध विचार उत्पन्न नही हो सकते, कमजोर हृदय के व्यक्ति जल्दी पाप करने पर उतारू हो जाते है। अत निर्भय बनना और सत्य बोलना मनुष्य का परम कर्तव्य है।

मन और वचन के बलिष्ठ होने के साथ शरीर का भी सबल होना आवश्यक है। शरीर के पुष्ट रहने से धर्म साधन मे पूरी सहायता मिलती है। कमजोर व्यक्ति धर्म साधना नही कर सकता है। अत: स्वास्थ्य के नियमो का पालन करना तथा अपने आचरण को शुद्ध रखना आवश्यक है। मन, वचन और काय को शक्तिशाली बनाने के लिए शृ गार रस का त्याग करना तथा वीर, शान्त और करुण रस को ग्रहण करना चाहिए। शृ गार रस से वासना उद्‌बुद्ध होती है, जिससे मन, वचन और कार्य की प्रवृत्ति उन्मार्ग मे चली जाती है तथा व्यक्ति ससार और स्वार्थ मे ही दिन-रात मग्न रहता है।

भगवान के चरणों में हमेशा स्तुति करने वाले मंगलमय पुण्य को प्राप्त होते हैं।

चेतोरंगदोळिट्टु निम्मडिगळं वंदोलगंगो ट्टोडं।
प्रातःकाळदरागदोळ्पददोळं पद्यंगळोळ्वीणेयोळ्॥
श्रीतीर्थंकर निम्म पाडिसुते पाडुत्तळितयं माडुति–
पंति भूपते पापळोपकनला रत्नाकराधीश्वरा॥९०॥

हे रत्नाकराधीश्वर!

आपके चरणो को अपने मनरूपी रंगस्थल मे रख कर जो व्यक्ति आपके मन्दिर मे आकर प्रभात के मगल-गान, श्लोकपाठ और वीणा से युक्त हो स्तवन करते हैं तथा हे तीर्थंकर! दूसरो से आपकी स्तुति कराते है तथा स्वय आप भी बार-बार स्तुति करते हुए आनन्दमग्न हो जाते है, क्या वे व्यक्ति पाप को नष्ट करने वाले नही है अर्थात् भगवान्

की स्तुति करने से बड़े से बड़े पाप नष्ट हो जाते हैं।

प्रातःकाल उठकर भगवान् जिनेन्द्रदेव के गुणो का स्तवन करना चाहिए। स्तवन के पश्चात प्रत्येक व्यक्ति को विचारना चाहिए कि मैं कौन हूं ? मेरा क्या कर्तव्य है ? क्या मेरा धर्म है ? मुझे क्या करना है ? मैं क्या कर रहा हूं ? और अब तक मैंने क्या किया है आदि; इन बातो के सोंचने से मनुष्य के मन मे कल्याण करने की प्रेरणा जाग्रत होती है। ससार के असत् कार्यो को वह निन्द्य समझता है, उसे अपने धर्म और व्रतों का परिज्ञान होता है।

प्रातःकाल भगवान के गुणो के स्तवन से दिन भर प्रसन्नता से कार्य करने की शक्ति उत्पन्न होती है। भगवान् की स्तुति मे शुद्ध आत्मा के गुणो की चर्चा रहने से अपनी आत्मा की शुद्ध दशा भी मालूम हो जाती है। प्रभु के गुण ही तो आत्मा मे वर्तमान हैं, यह आत्मा भी तो योग्यता के कारण प्रभु है। यद्यपि इसकी प्रभु होने की शक्ति अभिव्यक्त अभी नही हुई है, फिर भी अव्यक्त शक्ति तो उसमे प्रभु होने की वर्तमान ही है। अतः प्रतिदिन सवेरे ही भक्तिभाव पूर्वक भगवान् के गुणों का स्मरण सर्वदा करना चाहिए। भक्ति मे बड़ा भारी आकर्षण होता है, यद्यपि यह हृदय की रागात्मक वृत्ति है, फिर भी इससे जन्म जन्मान्तरो के सचित कर्म नष्ट हो जाते हैं। स्तोत्र पढने से संयम ग्रहण करने की प्रवृत्ति जागृत होती है। क्योकि भगवान् के पवित्र गुणो का स्मरण करने से आत्मा मे निजानुभूति की शक्ति आती है, जिससे पर पदार्थो से ममत्व बुद्धि दूर हो जाती है। इन्द्रिय और मन को नियन्त्रित करने की शक्ति उत्पन्न हो जाती है।

भक्ति के आवेश में आकर वीणा, हारमोनियम आदि वाद्यो के साथ भगवान् की स्तुति करने से पुण्य-बन्ध होता है। हृदय मे शुभराग की परिणति होने से अशुभ राग की भावनाए दूर हो जाती हैं। संसार की तृष्णा, माया और ममत्व दूर भाग जाते हैं। भक्ति से ओत-प्रोत हृदय मे अपूर्व शान्ति का स्रोत बहने लगता है। भक्त को परम शान्ति और

सुख होता है। भक्ति की चरम सीमा बढ जाने पर आत्म विभोर की अवस्था आती है, जिसमे भक्त सब कुछ भूल जाता है और भगवान् की भक्ति के सहारे आत्मानुभूति करता है। आत्म साक्षात्कार भी प्रभु-भक्ति से हो सकता है, तथा भगवान् की स्तुति से भेद विज्ञान की प्राप्ति भी हो सकती है। भगवान् के अनन्त गुणो का वर्णन तो कोई नही कर सकता है, पर उनके थोड़े से गुणो के वर्णन से भी बहुत लाभ होता है। पात्र केशरी स्तोत्र मे बताया गया है —

जिनेन्द्र। गुणसस्तुतिस्तव मनागपि प्रस्तुता।
भवत्यखिलकर्मणां प्रहतये पर कारणम्॥
इति व्यवसिता मतिर्मम ततोऽहमत्यादरात्।
स्फुटार्थनयपेशला सुगत संविधास्ये स्तुतिम्॥

हे जिनेन्द्र भगवान्। आपके गुणो का स्तवन यदि थोड़ा भी किया जाय तो सम्पूर्ण कर्म नाश हो सकते है, क्योकि आपके गुणो के स्मरण से आत्मा के भीतरी समस्त गुण प्रकट हो जाते है। आत्मानुभव की इच्छा पूर्ण हो जाती है। सम्यग्दर्शन भगवान् के स्तवन से निर्मल होता है। आत्मिक आनन्द रस का पान होता है, जिससे परम शान्ति मिलती है।

प्रत्येक श्रावक का परम कर्तव्य है कि वह प्रतिदिन शय्या से उठने के पश्चात् शौच आदि क्रियाओ से निवृत्त होने के पहले एकान्त में बैठकर पाच दस मिनट या इससे अधिक आत्मचिन्तन करे, स्तुति पढ़े। तत्पश्चात् नित्य क्रियाओ से निवृत्त होकर भगवान् के दर्शन करे, स्तुति पढे, पूजन करे, स्वाध्याय करे और जाप करे। घर आकर भोजन कर आजीविका अर्जन मे लग जाय। सायकाल भोजन के पश्चात् सामायिक करे, भगवान् के दर्शन करे और स्तुति पढे। इस प्रकार आचरण करने से गृहस्थ का जीवन सार्थक हो जाता है।

ससार की दशा का चिन्तन

एक नन्हा पौधा हरा भरा वृक्ष बनता है। फिर सूखा ठूठ होकर नष्ट होजाता है।
यही दशा मनुष्य की होती है।

सम्यग्दृष्टि को इन्द्रिय विषय विष के समान है

भरतंगं सभेगेय्दे चित्तकलुषं निम्मळयवकेदे स-
त्परिणामं परिदेय्दुतं परेयुतं वेंकोंडिरळ्कंडु त-
द्भरतं निम्मने पोर्दिनमृत श्रीसौख्यमं निम्मनी-
नरमायमंरेदेके नोवरकटा रत्नाकराधीश्वरा ॥६१॥

हे रत्नाकराधीश्वर !

राजा भरत को राजसभा की ओर जाते समय क्लेश होता था। पर जब वे आपकी सभा की ओर बढते थे तो उनके हृदय मे आनन्द की वृद्धि होती थी । इस शुभ परिणाम को देखकर उन्होने आपका ही आश्रय लेकर मोक्ष-लक्ष्मी के सुख को प्राप्त किया । राजा लोग अपने को भूलकर क्यो दु ख पाते है ?

कल्याण के दो मार्ग हैं—गृहस्थ और मुनि । गृहस्थ अवस्था मे रहकर भी मनुष्य अपना कल्याण कर सकता है । घर मे रहते हुए भी जो सर्वथा अनासक्त होकर कार्य करता है तथा जिसे फल की आकांक्षा नही और न परिणाम के बुरे या अच्छे होने से ही विचलित होता है तथा कार्य करना ही जिसके जीवन का लक्ष्य रहता है और जो निरन्तर कर्त्तव्य को ही अपना सब कुछ मानता है, ऐसा व्यक्ति घर मे रहता हुआ भी सन्यासी है। ससार के भोगो मे जिसे आसक्ति नही है, भोग उपलब्ध हैं और वह गृहस्थ है अत. नियन्त्रित रूप से उनका भोग करता है। मोह और क्षोभ उसके परिणामो मे बिल्कुल नही है । भरत के समान घरेलू कार्यों को करता हुआ भी, उनके परिणाम से पृथक् है। लाभ और हानि, हर्ष और विषाद, जीना और मरना जिसके लिए समान हैं, वह सन्यासी नही तो क्या है ?

सम्यग्दष्टि जीव निर्भय होकर घर के कार्यों को करता है, वह कर्त्तव्यशील कर्मयोगी रहता है। कायर या डरपोक बन कर ससार के

मैदान से भागता नही है । भोजन करते हुए भी उसे भोज्य पदार्थ मे किसी प्रकार की आसक्ति नही, खट्टा, मीठा, चरपरा, कसैला, तीखा आदि किसी रस से प्रेम नही । जो मिल गया, उसे आवश्यक समझ ग्रहण कर लिया । हाय-हाय किसी भी पदार्थ के लिए नही करता। सभी इन्द्रियो पर इतना नियत्रण हो जाता है कि आँखो से पदार्थ को देखते हुए भी लाल, हरा, पीला, नीला, श्वेत आदि किसी भी रग की, स्पर्शन इन्द्रिय से स्पर्श करते हुए भी कठोर, कोमल, हलका, भारी आदि किसी भी स्पर्श की और नाक से गन्ध लेते हुए भी सुगन्ध एव दुर्गन्ध किसी भी गन्ध की प्रतीति नही होती है। उसका उपयोग स्थिर रहता है, पदार्थों को यथार्थ जानता देखता है, पर अनासक्त रहने के कारण स्पर्श, रूप, रस और गन्ध मे लीन नही होता।

मोह, माया, राग-द्वेष को वह अपने भेद विज्ञान से पृथक् कर देता है। जल मे कमल की तरह गृहस्थी मे रहता हुआ भी पृथक् रहता है, उसका वीतराग भाव बढता चला जाता है। अपने सही रास्ते को वह पा लेता है, उसकी राह भी सीधी सादी होती है। इन्द्रियो की नौकरी करना वह छोड़ देता है, मोह का मनमोहक प्रभाव उस पर नही पडता, बल्कि इन्द्रियाँ उसकी दास बन जाती हैं, मोह उसके अधिकार मे आ जाता है। इस प्रकार सन्मार्ग पर चलने वाला गृहस्थ मुनि के तुल्य है । यह अनासक्त मार्ग ही भरत का है, भरत की प्रवृत्ति राजसभा के कार्यो मे इसीलिए नही होती थी कि वे पूर्णतया उनसे अलिप्त थे । कर्त्तव्य समझ कर ही उन्होने राज्य किया, युद्ध किया और शत्रु एव आततायियो को रणभूमि मे परास्त किया। पर इनमे से एक भी कर्त्तव्य को अपनी आत्मा का नही समझा।

अनासक्त रहने के कारण ही भरत की प्रवृत्ति भगवान् की भक्ति की ओर अधिक रहती थी। उनका मन सर्वदा जिनेन्द्र भगवान् के गुणों मे आसक्त रहता था। आत्म पुरुषार्थ बढता जाता है, जिससे दु:खदायी राग द्वेष नष्ट हो जाते है। अन्तरग आत्मा मे निर्मलता बढ़ती जाती है,

आत्मा के परिणाम उत्तरोत्तर निर्मल होते जाते है । कर्मफल चेतना-ज्ञान के सिवा अन्य अनात्मीय कार्यो का अपने को भोक्ता अनुभव करना और तद्रूप हो जाना है, भरत मार्ग मे यह चेतना बिल्कुल छूट जाती है। कर्मचेतना—अपने को ज्ञान के सिवा अन्य अनात्मीय कार्यो का कर्त्ता अनुभव करना है । पुरुपार्थी जीव को इन दोनो चेतनाओ से दूर होकर ज्ञान चेतना मे अपने को लगाना चाहिए। महाराजा भरत के समान अपने समस्त घरेलू कार्यों को करते हुए भी प्रत्येक व्यक्ति को आत्मकल्याण के लिए सतत चेष्टा करनी चाहिए। जो व्यक्ति गृहस्थ के नित्यप्रति किये जाने वाले कार्यों को करता हुआ भी अनासक्त रहता है, वह अवश्य अपना उद्धार कर लेता है।
योगसार मे कहा भी है कि—

अप्पसरूवइ जो रमइ छंडवि सहु ववहारु।
सो सम्मादिट्ठ हवइ लहु पावइ भवपारु ॥
अजरु अमरु गुणगणणिलउ जहि अप्पा थिर थाइ।
सो कम्महि णवि वधयउ सचिय पुव्व विलाइ ॥
जह सलिलेण ण लिप्पियइ कमलणिपत्त कयावि।
तह कम्मेण ण लिप्पयइ जइ रइ अप्पसहावि ॥

जो सव व्यवहार को छोडकर आत्मा के स्वरूप मे रमता है सो ही सम्यग्दृष्टि है। वह ससार का किनारा पा लेता है । जिसका अजर, अमर, गुणसमुदाय रूप आत्मा आप मे स्थिर हो जाता है वह नये कर्मो को नही वाँध कर संचित कर्मो का क्षय करता है। जैसे पानी से कम-लिनी का पत्ता कभी लिप्त नही होता, वैसे ही जो आत्म स्वभाव मे रहता है वह कर्मो से लिप्त नही होता है।

आगे कहते है कि सस्थान आदि पुद्गल की पर्याय जीव के साथ दूध पानी की तरह मिली हुई हो रही है तो भी वे पर्यायें ही हैं।

सम्यक्त्व का महत्व

विरछकें जरवरमहलके नीव जैसे धरमकी
आदि जै सें सम्यक दरस है ।
या विन प्रसमभाव श्रतापान व्रत तप
विवहार होत ह्वै न आत्म पर सहै ।
जैसे विन बीज ऋप साधनन अन्न हेत
आकडे विहीन सुन्न सष्पा अदरसहै ।
तैसे विन आतम परस सुष कौनलस
रहत हमे सपर गेय कौतरस है ॥

सम्यग्दृष्टि का लक्षण

धन एक सव कछुयक सुषदायक है
समिकत धन भवभव सुपकरता ।
कल्पतरु कामधेनु चिंतामनिचित्रावन्लि
चिंतत ही देत यो अचिंत लाभ भरता ॥
भवबीजछेदक सुभेदक भरमतम
परम धरम मूल दुखदोष हरता ।
या समान मित्र न सहोदर न मात-तात
तत्व सरधान रूप लछिन कों धरता ॥
वस्तु के स्वभाव में न जिनके भरम कछू
भव तनभोगनकी चाह दूरि भई है ।
देषिके गिलान गेह होय न गिलानरूप
देव गुर धरम में मूढमति गई है ।
देषि परदोष दावै सुगुन में थिर थावै
सारिषे नसेती जाकी प्रीति नित नई है ।

जिसतिस भाति करि धरम प्रभाव करै
पुव्वकृत कर्म हरै ववविधि पई है ॥

इस प्रकार अपने आत्म रस मे लीन रहते हुए भी सम्यग्दृष्टि जीव विपय भोगो मे रहते हुए भी उनको विप के समान समझता है। निर्विप स्वरूप आत्म चिन्तन मे हमेशा दत्तचित्त रहता है। जैसे भरत चक्रवर्ती को षट् खण्ड पृथ्वी का राज्य, छियानवे हजार स्त्रियाँ, साठ हजार लडके, ३२००० पुत्रिया होने पर भी वे आत्मानन्द रस मे हमेशा लीन रहते हुए पानी के अन्दर कमल जैसे अलिप्त रहता है उसी प्रकार वह चक्रवर्ती ससार विपय का स्पर्श न करते हुए आत्म ध्यान मे लीन रहता है। परन्तु उन्ही का उदाहरण ले करके मोक्ष मार्ग को आत्म स्वरूप के मार्ग को न जानने वाले अज्ञानी जीव इन्द्रिय सुख मे लिप्त होकर आत्म-भावना मे लीन होने का दम्भ करके इह और परगति के सुख को नष्ट कर लेते है। जब तक भगवान् वीतराग द्वारा कहे हुए मार्ग को भली भाति न समझेगे, तब तक उनको मोक्ष मार्ग की प्राप्ति होना अत्यन्त दुर्लभ है।

इसी विपय को पुष्ट करने के लिए आगे का श्लोक कहते है—

राजश्रीयोळनेककामिनियरुंटाळापनृत्यंगळु-
टा जिव्हारुचियुंटु कामिसिदवेल्ला उंटुउंटादोडं ॥
राजीवं केसरळिदयळ्दद बोलिदूध्वंक्के कण्णिट्टोडा-
राजं राजने? ताने राजऋषियै रत्नाकराधीश्वरा ॥९२॥

हे रत्नाकराधीश्वर !

जहाँ राज सम्पत्ति का बाहुल्य रहता है वहाँ स्त्रियाँ रहती है, सगीत और नृत्य वाले रहते है, अनेक रुचिकारक पदार्थ भी रहते है, किसी भी अपेक्षित वस्तु की कमी नही रहती। इतना होने पर भी, जिस प्रकार कीचड़ मे रहकर कमल निर्लिप्त रहता है उस प्रकार जो राजा भोग्य

वस्तुओ के बीच पद्मवत् निर्लिप्त रहता है क्या वह राजर्षि नही है ?

ऐश्वर्य के प्राप्त होने पर उसे भोगते हुए भी लिप्त न होना व्यक्ति का सबसे बडा पुरुषार्थ है। राज्य सम्पत्ति के प्राप्त होने या वड़े वैभव के मिलने पर भोगोपभोग प्राप्त होते ही है, स्वभावत. मनुष्य की रुचि इन भोगो मे लिप्त होने की रहती है। पर जो समझदार है, जिन्हें आत्मा का कुछ परिज्ञान है वे नाना प्रकार के वैभव से युक्त रहने पर भी उसमे बिल्कुल तन्मय नही हो जाते हैं। कविवर बनारसीदास जी ने ससारी विषय भोगो मे अनुरक्त रहने वाले जीव को चेतावनी देते हुए बताया है कि—

भैया जगबासी तू उदासी ह्वै के जगत सों,
एक छः महीना उपदेश मेरो मानु रे।
और संकल्प विकल्प के विकार तजि,
बैठ के एकात मन एकठौर आनु रे॥
तेरो घर सर तामें तुही है कमल ताकों,
तूही मधुकर है सुवास पहिचानु रे॥
प्रापति न ह्वै है कछु ऐसो तू विचारतुहै।
सही ह्वै है प्रापति सरूप याही जानु रे॥

अर्थ—हे संसारी जीव ! तू संसार् से उदास होकर छ महीने तक पृथक् एकान्त मे निवास कर, सारे संकल्प विकल्पो को छोड़। तू विचार कर देखेगा तो तुझे अपने आप मालूम हो जायगा कि धन, वैभव, स्त्री. पुत्र ये सब पदार्थ तुझसे विल्कुल भिन्न हैं। इनमे तेरा कुछ भी हिस्सा नही है। तू स्वय आत्माराम है, ये सारे पदार्थ जड है। तेरा हृदय तालाब है, इसमे तू स्वय कमल है तथा तू ही भंवरा बनकर सुगन्ध लेने वाला है। भिन्न पदार्थो के साथ सम्बन्ध मान लेने पर ही कुछ मिलने की आशा नही है। आत्मस्वरूप मे रमण करने पर तथा आत्मानुभूति के रस

मे डुबकियाँ लगाने पर ही आनन्द की प्राप्ति हो सकती है।

आनन्द अपने स्वरूप मे ही वर्तमान है, बाह्य पदार्थों मे नही। ये बाह्य पदार्थ सिर्फ दूर से देखने पर ही अपने प्रतीत होते हैं। वस्तुतः हैं ये अपने से पृथक् अपकारी और आत्मा को कुमार्ग की ओर ले जाने वाले। जब मनुष्य को विरक्ति उत्पन्न हो जाती है, वह कषाय और वासनाओं को मन्द कर लेता है या बिल्कुल जीत लेता है, उस समय उसका कल्याण हो ही जाता है। देखा जाता है कि रागवश ही यह जीव संसार की यातनाएं सहता है, नाना प्रकार के कष्ट सहता है और तरह-तरह के उपद्रवो का शिकार होता है। जिस प्रकार स्नेह (तैल) के रहने से तीसी, तिल, सरसो आदि पदार्थ पेले जाते हैं, उसी प्रकार स्नेह (राग द्वेप) के कारण मनुष्य के परिणामो मे अशान्ति उत्पन्न होती है, भोगो मे आसक्ति जागती है।

विपयो की आसक्ति और इसके बीजभूत राग द्वेष का त्याग करने के लिए मन मे विपय सम्बन्धी विकल्पो को उत्पन्न न होने देना, ससार के सभी प्राणियो के साथ मित्रता का भाव रखना, अपने सभी प्रकार के आचरण को मूलत. अहिंसक बनाना, अनात्मीय भावो का त्याग करना, अपनी आत्मा का दृढ श्रद्धान करना तथा आत्मा को ससार के सभी पदार्थों से भिन्न अनुभव करना आवश्यक है। हमारी यह आत्मा नित्य है, इसका पर पदार्थों से कोई सम्बन्ध नही, इसमें विकृति हमारी स्वयं की भूल के कारण आ गयी है, इसे हम दूर कर सकते हैं।

कुन्दकुन्दाचार्य ने भी नियमसार मे कहा है कि—

णिद्दंडो णिद्वंद्वो, णिम्ममो णिक्कलो णिरालंबो।
णीरागो णिद्दोसो, णिम्मूढो णिब्भयो अप्पा॥

यह शुद्ध आत्मा दण्ड रहित है, द्वन्द्व रहित है, ममकार रहित है, शरीर रहित है, आलम्ब रहित है, राग रहित है, दोष रहित है, मूढता रहित है तथा भय रहित है, निश्चय करके ऐसा जानो।

पर वस्तु के प्रति मोह करना ही आत्मा का अहित है

अंदें तंदने गर्भदिं परर देशं लक्ष्मिसैन्यंगळं ।
मुंदेनोय्वने तळ्त पेण्पडेद मक्कळ्पोत्त देहंगळं ॥
बंदित्तोंदु विनोद गोष्टियदु निम्मं मुन्नकंडिर्द सैं
पिंदंमत्तमदेके तां मरेवनो रत्नाकराधीश्वरा ॥९३॥

हे रत्नाकराधीश्वर !

दूसरो का राज्य, सम्पत्ति और सैन्यबल क्या राजा गर्भ से ही लेकर आता है ? और यहाँ से जाते समय राजा अपनी धर्मपत्नी तथा बाल-बच्चो को साथ भी लेता जायगा ? पूर्व जन्म मे जो पुण्य के दर्शन हुए, उसी के प्रताप से ये सारे वैभव प्राप्त हुए, फिर उस मार्ग को क्यो भूला जाय ?

अपने पूर्व जन्म के पुण्य के उदय से मनुष्य राज्य, सुख, सम्पत्ति, स्त्री, पुत्र आदि को प्राप्त करता है। जन्म लेते समय खाली हाथ आता है और मरते समय भी खाली हाथ जाता है। केवल पुण्य या पाप के उदय से इष्ट या अनिष्ट सामग्री यहाँ आकर प्राप्त करता है। अतः पुण्योदय से प्राप्त भोगो मे लीन नही होना चाहिए। धन का मद करना अन्य लोगो को अपने से छोटा या नीच समझना बडी भारी मूर्खता है। श्री शुभचन्द्राचार्य ने कहा है—

भुक्ता. श्रिय. सकलकामदुघास्तत किम् ।
सन्तर्पिता प्रणयिन स्वधनैस्तत. किम् ॥
न्यस्तं पदं शिरसि विद्विषतां ततः किम् ।
कल्प स्थितं तनुभृता तनुभिस्ततः किम् ॥
इत्थ न किंचिदपि साधनसाध्यमस्ति,
स्वप्नेन्द्रजालसदृश परमार्थशून्यम् ॥

तस्मादनन्तमजरं परम विकाशि ।

तद्ब्रह्म वाछत जना यदि चेतनास्ति ।।

इस जगत मे जीवो की समस्त कामनाओ को पूर्ण करने वाली लक्ष्मी प्राप्त हुई और वह भोगने मे आई तो उससे क्या लाभ ? अथवा अपनी धन सम्पत्ति आदि से परिवार स्नेही मित्रो को तुष्ट किया तो क्या हुआ ? शत्रुओ को सब प्रकार से परास्त कर नेस्त नाबूद कर दिया तो इसमे कौन-सी सिद्धि हुई ? शरीर निरोगी रहा और अधिक वर्षो तक स्थिर रहा तो क्या लाभ ? क्योकि ये सभी निस्सार और नश्वर हैं। ससार मे साधने योग्य कोई भी साध्य नही है। प्रत्येक वस्तु स्वप्न के समान या इन्द्रजाल के समान क्षण विनश्वर और परमार्थ से शून्य है। अत यदि चेतन-बुद्धि है तो परम उत्कृष्ट प्रकाश रूप ज्ञानानन्द अपने आत्माराम को प्राप्त करने की वाछा करनी चाहिए। इस आत्मा की प्राप्ति होने पर समस्त अभिलाषाएँ समाप्त हो जाती हैं, उत्कृष्ट सुख की प्राप्ति हो जाती है।

इस आत्मा को पहचानना, इनका दृढ विश्वास करना और भौतिक पदार्थो से मोह-माया-बुद्धि को पृथक् करना ही जीव का पुरुषार्थ है। जिससे ससार के पदार्थो की अनित्यता का निश्चय हो जाता है और जो उनसे राग बुद्धि को हटा देता है, वह अपना अवश्य कल्याण कर लेता है। जब प्रतिदिन हम देखते हैं कि मृत्यु किसी व्यक्ति को नही छोडती, जड़ चेतन सभी पदार्थो की पर्यायें निरतर बदलती रहती है, फिर इन क्षणभगुर पर्यायो के मनमोहक रूप मे आसक्त क्यो होते है ? प्रत्यक्ष देखने मे आता है कि कल जो धनी था, जिसके द्वार पर मोटर, बग्घी आदि सवारी के साधन प्रस्तुत रहते थे, जिसका आदेश सर्वत्र मान्य था, जिसके इशारे पर बड़े-बड़े प्रतिभाशाली विद्वान नाचते थे, जिसके धन के भण्डार के समक्ष कुबेर भी लज्जित हो जाता था, आज पुण्योदय के क्षय होते ही वह दीन है, भिखारी है, लोग उसे दुरदुराते हैं और उसकी

निन्दा करते हैं। जो कल उसके पास बैठने मे अपना बड़प्पन समझते थे, उसकी सगति के लिए लालायित रहते थे, आज कोई उसके पास भी नही फटकता है, उससे घृणा करते है, उसकी संगति में अपनी तौहीन मानते है। ऐसा यह ससार है और ऐसी है इस ससार की माया; फिर तुच्छ सम्पत्ति या वैभव को प्राप्त कर धर्म मार्ग को क्यो भूला जाय ? धर्माचरण ही तो ससार मे स्थिर है, सब कुछ बदल जाने पर भी धर्म का प्रभाव ज्यो का त्यो रहता है। धर्म के बल से ही मनुष्य इन्द्र, नरेन्द्र धरणेन्द्र आदि पदो को प्राप्त कर लेता है। रत्नत्रय धर्म का सेवन करता हुआ ससार के कारण मिथ्यादर्शन, मिथ्याज्ञान और मिथ्याचारित्र को छोड देता है, जिससे निर्वाण प्राप्त करने मे भी उसे विलम्ब सही होता, घर मे रहता हुआ भी घर से पृथक् रहता है।

वैभव को तित्य समझ कर उसमे आसक्ति रखना तथा उसके साथ अपना सम्बन्ध मानना अधर्म है। मनुष्य जब तक अपने को भूला रहता है और पर पदार्थो को निजी समझता है, तब तक वह वास्तविक धर्म से दूर ही रहता है। यह वास्तविक धर्म आडम्बर रूप क्रिया-काण्ड नही है।

इस परिग्रह को एक दिन छोड़ना ही होगा—

नानारभपरायणैर्नरवरैरावर्ज्य यस्त्यज्यते
दुष्प्राप्योऽपि परिग्रहस्तृणमिव प्राणप्रयाणे पुनः ॥
आदावेव विमुच दु.खजनक त त्व त्रिधा दूरत-
श्चेतो मस्करिमोदकव्यतिकर हास्यास्पदं मा कृथाः ॥

यहाँ पर आचार्य कहते हैं कि राज्य लक्ष्मी आदि परिग्रह बड़ी-बडी महनतो से एकत्र की जाती है। ऐसी भी वस्तुएँ सग्रह की जाती हैं जो हर एक को मिलना दुर्लभ हैं। परन्तु करोड़ो की सम्पत्ति क्यो न हो व कैसी भी कठिनता से क्यो न एकत्र की गई हो वह सब परिग्रह बिल्कुल छोड देना पड़ता है जब मरण का समय आ जाता है। जैसे हाथ से तिनका गिर पड़े, ऐसे ही सब छूट जाता है। जब परिग्रह आत्मा

के साथ जाने वाला नहीं है तब ज्ञानवान प्राणी को उचित है कि पहले ही उसको मन-वचन-काय से छोड दे अर्थात् इसके पहले कि वह परिग्रह स्वयं छूटे, ज्ञानी को स्वयं मोह त्याग कर छोड देना चाहिए। और यदि परिग्रह नहीं हो तो नया परिग्रह एकत्रित करने की लालसा न करनी चाहिए। परिग्रह को ग्रहण कर फिर छोडना वास्तव में हँसी का स्थान है। जैसे एक फकीर को किसी ने बहुत से लड्डू दिये, उसमें से एक लड्डू विष्ठा में गिर पडा, उस लोभी ने उसे उठा लिया तब किसी ने कहा कि ऐसे अशुद्ध लड्डू को तुमने क्यों उठाया ? तब वह कहने लगा कि मैंने उठा लिया है परन्तु घर जाकर इसे छोड़ दूंगा। तब उसने बड़ी हँसी उडाई कि अरे जिसको फेंकना ही है उसको उठाने की क्या जरूरत थी ? इसी दृष्टान्त से आचार्य ने समझाया है कि यह परिग्रह त्यागने योग्य है, इसे ग्रहण करना बुद्धिमानी नहीं है, यह आत्म कार्य में बाधक है। वास्तव में चेतन अचेतन परिग्रह का मोह आत्मा को करोडो संकल्प विकल्पों में पटक देने वाला है, इसमें जो निर्विकल्प समाधि को चाहते हैं और आत्मिक आनन्द के भोगने के इच्छुक हैं, उनको यह परिग्रह त्यागना श्रेयस्कर है।

ज्ञानार्णव में कहा भी है कि—

> लुभ्यते विषयव्यालैर्भिद्यते मारमार्गणैः।
> रुध्यते वनिताव्याधैर्नरः संगैरभिद्रुतः॥

यह मानव परिग्रहों से पीडित होता हुआ इन्द्रियों के विषय रूपी सर्पों से काटा जाता है, काम के बाणो से भेदा जाता है तथा स्त्री रूपी शिकारी से पकड लिया जाता है।

> यः संगपंकनिमग्नोऽप्यपवर्गाय चेष्टते।
> स मूढः पुष्पनाराचैर्विभिन्द्यात् त्रिदशाचलम्॥

जो मूर्ख परिग्रह की कीचड में डूबा हुआ भी मोक्ष के लिए चेष्टा करता है वह मानो फूलों के बाणों से सुमेरु पर्वत को तोडना चाहता है।

अणुमात्रादपि ग्रंथान्मोहग्रंथिर्दृढी भवेत् ।
विसर्पंति ततस्तृष्णा यस्यां विश्वं न शान्तये ।।

जरा से भी परिग्रह से मोह की गांठ दृढ़ हो जाती है । इससे तृष्णा की वृद्धि ऐसी होती है कि उसकी शान्ति के लिए सर्व जगत भी समर्थ नही होता ।

संसार में किसी की भी तृप्ति नही हुई

भंडारं बरु वन्नमिर्पने ? बधूसंभोग दोळसाकेनल् ।
कंडें पोपने ? यळ्कर्िर पडेद राजश्रीयनेननंत्यदोळ् ।।
क डोयदप्पने ? नास्ति नास्ति गुरुदैववकोल्दु कोट्टैसुता-
नुंडुट्टैसु तनुत्तु मत्ते वरिदै रत्नाकराधीश्वरा ।।९४।।

हे रत्नाकराधीश्वर !

क्या राजा अपने कोष को भरने के लिए ही जीता रहेगा ? क्या स्त्री-सम्भोग से कभी किसी को तृप्ति हुई है ? प्रेम से क्या लाभ हुआ ? राज्य सम्पत्ति क्या साथ जायगी ? कदापि नही । केवल गुरुजनो की सेवा मे तथा देव की भक्ति मे खर्च हुआ, स्वय खाया हुआ और पहना हुआ अपना समझना चाहिए, शेष सब व्यर्थ है ।

भोगो की प्रवृत्ति तथा इच्छा को काम कहते है । इस काम का मुख्य साधन धन है, धन के विना भोग भी नही भोगे जा सकते हैं और न किसी भी इच्छा को पूरा किया जा सकता है । यह भोग लालसा-कामप्रवृत्ति इतनी भयंकर और घृणित है कि इसकी तृप्ति कभी नही हो सकती है । इसे जितना तृप्त करने का प्रयत्न किया जाता है, यह उतनी ही बढ़ती जाती है । भोग द्वारा इसको तृप्त करने का एक भी उदाहरण नहीं मिलता है, इसकी तृप्ति सदा त्याग से ही हो सकती है । त्याग कर देने पर भोगो की नीरसता अपने आप सामने आ जाती है ।

भोगो का त्याग लक्ष्मी-धन के त्याग विना नही हो सकता है । धन

त्यागने की अनेक विधियाँ शास्त्रो मे बतायी गयी है। यहाँ पर कुछ का निरूपण किया जायेगा—

१—धन, सम्पत्ति और वैभव की क्षणभगुरता का अनुभव हो जाने पर इस सम्पत्ति का त्याग किया जा सकता है। जब कोई भी व्यक्ति यह समझ लेता है कि यह धन मेरे साथ जाने वाला नही, यही रहने वाला है, मैं व्यर्थ ही इसे अपना समझकर ममत्व वुद्धि किये हुए हूँ तब वह इसका त्याग कर देता है। धन और काम की अनित्यता की अनुभूति हो जाने पर त्यागना कठिन नही। धन से प्रेम तब तक है, जब तक उसे व्यक्ति अपना समझता रहता है। जिस क्षण उसे परत्व का ज्ञान हो जाता है, मोह बुद्धि दूर हो जाती है। वह अपने से भिन्न समझने के कारण अपना अपकारी मानता है।

२—जब किसी व्यक्ति को प्रत्यक्ष रूप से तृष्णा का अनुभव हो जाय, तो वह धन का त्याग कर सकता है। धन की लालसा असन्तोष उत्पन्न करती है। जैसे-जैसे धन उत्तरोत्तर बढता जाता है वैसे-वैसे व्यक्ति के मन मे उसके सचय की इच्छा और अधिक बढती जाती है। जो व्यक्ति इस बात का यथार्थ अनुभव कर लेता है, उसे धन त्यागने मे विलम्ब नही होता। वास्तव मे ससार और भोगो की निस्सारता, अनित्यता और उसके लिए होने वाले सघर्ष को देखकर कोई-कोई व्यक्ति धन का त्याग कर देते हैं। लक्ष्मी का त्याग तृष्णा और माया के मोहक रूप की वास्तविकता का अनुभव होने पर ही होता है। विरक्त और यथार्थ ज्ञाता ही इसका त्याग कर सकता है।

३—धन को पाप का कारण जिसने समझ लिया है, वह इस धन का त्याग कर सकता है। देखा जाता है कि जितना अधिक धन जिसके पास है वह उतना ही अधिक शोषण करता है। धन के होने से ही वह असत्य, चोरी, अनाचार, दुराचार, प्रभृति नाना प्रकार के पाप करता है। धनार्जन के लिए उसे असत्य भाषण करना पडता है, बेईमानी करनी पडती है, शोषण करना पड़ता है और भी अनेक प्रकार के पाप करने

पड़ते है, जिससे जीव को सदा अशान्ति रहती है। इस प्रकार जो धन के यथार्थ रूप को जान लेता है, जो धन को वस्तुत पाप का कारण समझ लेता है, वह धन का त्याग कर सकता है।

४—चारित्र मोह का उपशम या क्षय हो जाने पर जिसने ससार की वास्तविकता का अनुभव कर लिया है, धन को पाप का कारण समझ लिया है वह व्यक्ति धन का कभी भी त्याग कर सकता है। धन का त्याग करने के लिए सबसे बडी चीज परिणामो मे विरक्ति का होना है। वैराग्य भावना के रहने पर ही धन का त्याग हो सकता है।

धन के त्याग के लिए दान, पूजा, उत्सव, प्रतिष्ठा आदि क्षेत्र बताये गये है। जन साधारण की भलाई जो यश प्राप्त करने की लालसा से करता है, उसके परिणामो मे धन से विरक्ति नही कही जा सकती। विरक्ति होने पर किसी भी प्रकार की लालसा नही रहती है, भौतिक पदार्थों से अरुचि उत्पन्न हो जाती है तथा परमार्थ की ओर झुकाव हो जाता है। अत वही धन सार्थक है जिसका दान किया जाय, जो परोपकार मे खर्च हो।

भोगोपभोग पदार्थो की तृप्ति करने से कभी भी इच्छापूर्ति नही होती।

भोज भोजमपाकृता हृदय मे भोगास्त्वयानेकधा।
तास्त्व काक्षसि कि पुन. पुनरहो तत्राग्निनिक्षेपिण.॥
तृप्तिस्तेपु कदाचिदस्ति तव नो तृष्णोदय विभ्रत.।
देशे चित्रमरीचिसंचयचिते वल्ली कुतो जायते॥

यहाँ पर आचार्य ने भोगासक्त मानव की भोगो की वांछा को धिक्कारा है। इस जीव ने अनन्तकाल हो गया, चारो ही गति के भीतर भ्रमण करते हुए अनेक शरीर धारण करके उनमे अनेक प्रकार इन्द्रियो के भोग भोगे और छोड़े। उनके अनन्तकाल भोग लेने से भी जब एक भी इन्द्रिय तृप्त नही हुई तब भोगो के भोगने से इन्द्रिया कैसे तृप्त

होगी ? वास्तव मे जैसे अग्नि मे ईंधन डालने से अग्नि बढती चली जाती है, वैसे इन्द्रियो के भोगो के भोगने से तृष्णा की आग और बढती चली जाती है । तृष्णावान प्राणी कितना भी भोग करे परन्तु उसको इन भोगो से कभी भी तृप्ति नही हो सकती है, जैसे अग्नि से या धूप से तपे हुए जलते स्थान मे कोई भी बेल या वृक्ष नही उग सकता है । इसलिए बुद्धिमानो को बार-बार भोगो को भोगकर छोडे हुए भोगो की फिर इच्छा नही करनी चाहिए । क्योकि जो तृष्णारूपी रोग भोगो के भोगने रूप औषधि सेवन से मिट जावे तब तो भोग को चाहना मिलाना व भोगना उचित है परन्तु जब भोगो के कारण तृष्णा का रोग और अधिक बढ जावे तब भोगो की दवाई मिथ्या है, यह समझकर इस दवा का राग छोड देना चाहिए । वह सच्ची दवा ढूंढनी चाहिए जिससे तृष्णा का रोग मिट जावे । वह दवा एक शांत रसमय निज आत्मा का ध्यान है जिससे स्वाधीन आनन्द जितना मिलता जाता है, उतना-उतना ही विषय भोगो का राग घटता जाता है । स्वाधीन सुख के विलास से ही विषय भोग की वांछा मिट जाती है । अतएव इन्द्रिय सुख की आशा छोडकर अतीन्द्रिय सुख की प्राप्ति का उद्यम करना चाहिए ।

स्त्री विषय भोग से तृप्ति नही

आवावंगनेयल्लि कूडिदोडमा पाडल्ळदें कंडने ?
आवावूटमनुंडोडं सविगळोवेरोंदनेनुंडने ?
आवावाभरणंगळं तोडे तोवल्पोन्नादुदे ! कंडुमी—
जीवं काणदुउंडुमें दणियदो रत्नाकराधीश्वरा ॥९५॥

हे रत्नाकराधीश्वर !

बार-बार स्त्री सभोग करने पर भी किसी नवीनता का अनुभव नहीं होता । बार-बार भोजन करने पर भी किसी रुचि विशेष की अनुभूति नही होती । शरीर पर सोने के गहने धारण करने पर भी अज्ञानी

की तरह जीवात्मा आचरण करता है। निरन्तर आहार करने पर भी जीव विश्रान्ति को क्या प्राप्त करता है ?

विषयो मे राग-भाव रहने से कभी विरक्ति होती ही नही। राग के कारण ही विषय प्रिय प्रतीत होते हैं। भोजन निरन्तर करते है, किन्तु तृप्ति नही होती। यद्यपि भोजन में प्रतिदिन कोई नवीनता नही मालूम पडती है, फिर भी रागवश इच्छा उत्पन्न होती ही रहती है। विषय वासना के सम्बन्ध में भी यही बात है। प्रतिदिन सभोग क्रिया की जाती है, पर उससे क्या किसी को तृप्ति हुई है ? राग के कारण यह जीव सदा इन्द्रियो का दास बना रहता है। इन्द्रियाँ इसे कुपथ में निरन्तर भ्रमण कराती रहती है। जब यह जीव इन्द्रियो की गुलामी स्वीकार कर लेता है जो फिर इसे सच्चाई का अनुभव नही होता।

अब सोचना यह है कि क्या कभी भोगो से क्षणभर को भी शान्ति मिलती है ? ये तो उत्तरोत्तर दाह उत्पन्न करते है, जिससे दिन-रात सन्तोष के स्थान में असन्तोष बढता जाता है। एक क्षण को भी इस जीव को शान्ति नही मिलती। आकुलता बढती रहती है, अनन्तानन्त विकल्प उत्पन्न होते रहते है। बाह्य परिग्रह के सचय की कामना ही इस जीव को भय, आशंका, घबडाहट आदि के द्वारा कष्ट देती है। अन्तरग मे मूर्छा लगी रहती है, जिससे धन और भोगो के न रहने पर भी यह जीव परेशान रहता है। मानसिक कल्पना के द्वारा धन का सचय और भोगों को भोगने की क्रिया का सम्पादन अहर्निश करता रहता है। विषयाभिलाषाओ की अनियन्त्रित उत्पत्ति होने के कारण दरिद्र और धनी दोनो ही दुखी रहते है। अत प्रत्येक व्यक्ति का यह कर्तव्य है कि वह विषयाभिलाषा को नियन्त्रित और सयमित करने की चेष्टा करे।

परिग्रह जिसके संचय के लिए मनुष्य दिन रात चिन्तित रहता है, सब प्रकार के पाप करता है, इस जीव के लिए कष्टदायक है। जिनका मन परिग्रह मे लीन रहता है, वे उसके अर्जन, रक्षण और व्यय आदि

मे नाना प्रकार के पाप करते है, उनकी भावनाएं निरन्तर उस परिग्रह मे लिप्त रहती हैं। विपयाकांक्षा उत्तरोत्तर बढती जाती है, कषायो की उत्पत्ति भी होती ही रहती है। धनाशा के कारण इस प्राणी को नाना प्रकार के कष्ट होते हैं, यह आशा के पूर्ण न होने से शोक, पश्चात्ताप आदि करता रहता है। आशा का वर्णन आचार्य शुभचन्द्र ने निम्न प्रकार किया है। उन्होने आशा को प्राणी के लिए सबसे बडी विपत्ति बताया है—

यावद्यावच्छरीराशा धनाशा च विसर्पति।
तावत्तावन्मनुष्याणा मोहग्रन्थिदृढी भवेत्॥
यमप्रशमराज्यस्त सद्बोधार्कदिस्य च।
विवेकस्यापि लोकानामाशैव प्रतिपेधिका॥
आशैव मदिराक्षाणामाशैव विषमञ्जरी।
आशामूलानि दुःखानि प्रभवन्तीह देहिनाम्॥
त एव सुखिनो धीरा यैराशाराक्षसी हता।
महाव्यसनसकीर्णश्चोत्तीर्णः क्लेशसागर॥

मनुष्य को शरीर और धन की आशा जैसे-जैसे बढती जाती है, वैसे-वैसे मोह की गांठ मजबूत होती जाती है। उसका मोहनीय कर्म तीव्रतर होता चला जाता है। यम, नियम, प्रशम आदि भावो को तथा सम्यग्ज्ञान रूपी सूर्य के उदय होने को आशा ही रोकती है। आशा के होने से यम, नियमो का पालन नही हो सकता है। सज्ज्ञान को भी आशा रोकती है। संसारी जीवो के लिए आशा इन्द्रियो को उन्मत्त करने वाली मदिरा है, विषय-विष को बढाने वाली लता है, समस्त दुःखो का एक मात्र कारण यह आशा ही है। ससार मे आशा को दूर करने पर ही कोई सुखी हो सकता है। समस्त व्यसनो और क्लेशो का त्याग आशा के दूर करने पर ही किया जा सकता है। अत प्रत्येक व्यक्ति को झूठी आशाओ का

त्याग करना चाहिए।

आशाओ के त्याग से सुख और शान्ति मिलती है। हमारे दुखी होने का एक मात्र कारण है आशा की पूर्ति न होना। जब हमारी कोई भी आशा निष्फल हो जाती है तो हमारे मन मे बड़ा भारी खेद होता है तथा हमे जीवन मे असफलता ही दिखलायी पड़ती है। अतएव जीवन को सुखी बनाने के लिए आशाओं के जाल बुनने का त्याग करना चाहिए।

पर स्त्री लम्पट धनपति सेठ और उसकी पुत्री की कथा—

एक गाव मे धनपति नाम का सेठ रहता था। वह एक दिन अपनी स्त्री को गर्भवती छोड़कर परदेश मे धन कमाने के लिए चल दिया। चलते-चलते किसी बड़े शहर मे पहुँचा, वहाँ उसका रोजगार लग गया। जो भी व्यापार करे, उसमे ही लाभ मिलता गया। पीछे से धनपति की स्त्री ने एक सुन्दरी कन्या को जन्म दिया। जब वह कन्या विवाह योग्य हुई, तब लड़की की माता ने सेठ को चिट्ठी लिखी कि अपनी पुत्री विवाह योग्य हो गई है और तुम को भी देश आये बहुत दिन हो गये है इसलिए तुम देश मे आओ और अच्छा सा वर देखकर कन्या को व्याह जाओ और फिर परदेश चले जाना। सेठ ने उत्तर दिया कि बहुत दूर का फासला है और दूकान पर अधिक काम है, अभी मेरा देश में आना कठिन है इसलिए तुम पुरोहित जी को भेजकर वर ढुढवालो, मैं खर्चा भेजता हूँ। तुम बाई को व्याह देना। अब सेठानी ने पुरोहित जी को बुलवाया और वर तलाश करने के लिए भेज दिया। पुरोहित जी एक शहर मे गये और एक बनिये के सुन्दर लड़के को देखकर बाई की सगाई कर दी। अच्छा-सा दिन देख बड़े ठाट-बाट से बाई का व्याह कर दिया। अपना दायजा ले बाई ससुराल आ गई और आनन्द से रहने लगी। कुछ दिनो के बाद जब सेठ को काम से फुरसत मिली तब वह घर को चल दिया। मंजिल दर मजिल चलता हुआ सन्ध्या समय अपने समधी का नगर आने पर वहाँ सराय मे ठहर गया। सेठ को मालूम नहीं

था कि यहाँ मेरी पुत्री ब्याही हुई है। सराय से मिली हुई समधी की हवेली थी। सराय से हवेली मे आने जाने के लिए एक घाटी भी थी। रात्रि के समय अधिक गर्मी होने के कारण सेठ सराय की छत पर जाकर सो गया। अर्ध रात्रि के समय धनपति सेठ की पुत्री हाथ मे दीपक लेकर घाटी द्वारा हो पेशाव करने के लिए सराय की छत पर आ गई, उधर धनपति की अचानक आँख खुल गई। वह पुत्री के रूप को देखकर मोहित हो गया। उसके पास आकर अपनी पाप वासना प्रकट की। सच है कामी निर्लज्जो को किसी प्रकार की शर्म नही होती। उसको मालूम नही था कि यह मेरा पिता है। झट वह दुराचारिणी भी बोल उठी कि तेरी इच्छा तव पूरी हो सकती है कि जव तू अपने गले मे पडा हुआ मोतियो का हार मुझे दे दे। कामान्ध वन उस पापी ने गले का हार उसको दे दिया और वहाँ वह दोनो अपने-अपने धर्म से भ्रष्ट हो गये। कवि ने सत्य ही कहा है कि स्त्री के आगे सबने हार मान ली है।

तरुणी काज रघुवीर विकट वन-वन रोये।
तरुणी काज लंकेश शीश दस अपने खोये॥
तरुणी काज कीचक निकन्दन कुल को कीनो।
तरुणी काज सुरपति श्राप सिर अपने लीनो॥
चतुरा नर भए ये तरुणी से, मदन कांड शंकर दही।
कवि गंग कहे रे तरुणी से, कौन की पत ना गई॥

अर्थात् जो भी स्त्री के फन्दे मे फँस गया, उसकी ही इज्जत मिट्टी मे मिल गई। प्रात काल होते ही धनपति चला चल अपने गाँव मे जा पहुंचा और अपनी पत्नी से, भाई वन्धुओ से, कुटुम्वियो से मिला। फिर नाई को भेजकर अपनी पुत्री को मिलने को वुलाया। वह भी खुश होती हुई वडे चाव से पीहर आई। पुत्री पिता से मिली और पिता वेटी से मिला। जव पिता की दृष्टि पुत्री के हार पर पड़ी तो उसने विचार किया कि यह तो वही है जो मैंने दिया था। ऐसा विचार आते ही सेठ

का मुख नीचा हो गया। उधर लड़की ने भी उसको पहचान लिया कि यह तो वही है जिसने मेरे को सराय में मोतियो का हार दिया था, पिता को पहचान कर पुत्री ने सोचा कि मैं पीहर तथा सासरे मे कैसे मुख दिखाऊँगी। पुत्री ऊपर गई। गैरत से फाँसी लगा कर मर दुर्गति मे जा पड़ी। उधर पिता को भी गैरत आई और फाँसी खाकर मर गया और वह भी दुर्गति मे पहुँचा।

सातिशय पुण्य मोक्ष का कारण है

भरतंबोल्सगरं बोला दशरथंबोल् श्रेणिकंबोल्महे—
श्वर नोद्दायननंते दानरुचियोळ् शास्त्राथियोळ्सत्यदोळ् ।।
विरतिक्षां तयोळर्चनाविभवदोळ्सदोप्पे भाग्यं सुखा—
करमंतल्लदोडेनो दुष्करवला रत्नाकराधीश्वरा ।।६६।।

हे रत्नाकराधीश्वर !

जो व्यक्ति राजा भरत के सदृश दानी, राजा सगर के सदृश शास्त्र-प्रेमी, दगरथ के सदृश सत्यवादी, श्रेणिक के सदृश व्रतधारी तथा सहिष्णु और राजा औद्दायन के सदृश पूजा रूपी वैभव मे आसक्त होगा, वह सुख सम्पत्ति को अवश्य प्राप्त करेगा। जो लोग वैसे नही होगे वे तो दु ख के ही आदि स्थान होगे।

कवि ने इस श्लोक मे पूजा अतिशय के बारे में बतलाया है। रामचन्द्र, भरत, चक्रवर्ती, सगर, दशरथ राजा, राजा श्रेणिक इत्यादि ने भगवान् की भक्ति मे लीन होकर मोक्ष को प्राप्त करने योग्य पुण्य का बन्ध कर लिया है। भरत चक्रवर्ती घर मे रहते हुए भी अपनी षट्क्रिया को नही छोड़ते थे, वे वीतरागता पूर्वक भगवान् की पूजा करते थे। इसी प्रकार अनेक लोगो ने पुण्य के द्वारा क्रम से मोक्ष की प्राप्ति कर ली है।

प्रश्न—यह पुण्य बन्ध के लिए कारण है ऐसा कहा था और फिर भी पुण्य मोक्ष का कारण कैसे होता है ?

उत्तर—इसमे एकान्त नही अनेकान्त है। जो निदान बन्ध कर लेता है उनका पुण्य बन्ध का कारण है और सम्यग्दृष्टि का पुण्य निर्जरा का कारण होता है। योगेन्द्रदेव आचार्य ने भी कहा है कि—

पुण्णेण होइ विहवो विहवेण महो मएण मइ-मोहो ।
मई-मोहेण य पाव ता पुण्ण अम्ह मा होउ ॥

पुण्य से वैभव प्राप्त होता है, वैभव से अभिमान होता है, अभिमान से बुद्धि भ्रष्ट होती है, बुद्धि भ्रष्ट कर पाप कमाता है, और पाप से भव भव में अनन्त दुख पाता है। इसलिए मिथ्यादृष्टियो का पुण्य पाप का ही कारण है। और सम्यक्त्वादि गुण सहित भरत, सगर, राम, पाडवादिक विवेकी जीव थे, उनको पुण्य बन्ध अभिमान नही उत्पन्न करता, वह परम्परागत मोक्ष का कारण है। जैसे अज्ञानियो के पुण्य का ल मद उत्पन्न करने वाली विभूति है, वैसे सम्यग्दृष्टियो के नही है। वे सम्यग्दृष्टि पुण्य के पात्र हुए चक्रवर्ती आदि की विभूति पाकर मद अहकारादि विकल्पो को छोड़ कर मोक्ष को गये अर्थात् सम्यग्दृष्टि जीव चक्रवर्ती बलभद्र पद मे भी निरहकार रहे। ऐसा ही कथन आत्मानुशासन ग्रथ मे श्री गुणभद्राचार्य ने किया है, कि पहले समय मे ऐसे सत्पुरुष हो गए है जिनके वचन मे सत्य, बुद्धि मे शास्त्र, मन मे दया, पराक्रम रूप भुजाओ मे शूरवीरता, याचको मे पूर्ण लक्ष्मी का दान, और मोक्ष मार्ग मे गमन है, वे निरभिमानी हुए, जिनके किसी गुण का अहकार नही हुआ। उनके नाम शास्त्रो मे प्रसिद्ध हैं, परन्तु अब बडा अचम्भा है, कि इस पचम काल मे जिनके लेश मात्र भी गुण नही हैं, तो भी उनके उद्धतपना है, यानी गुण तो रचमात्र भी नही, और अभिमान मे बुद्धि रहती है।

देव सत्थह मुणिवरहं भत्तिए पुण्णु हवेइ ।
कम्म-क्खउ पुणु होइ णवि अज्जउ सति भणेइ ॥

सम्यक्त्वपूर्वक जो देव गुरु शास्त्र की भक्ति करता है, उसके मुख्य

तो पुण्य ही होता है, और परम्परागत मोक्ष होता है। जो सम्यक्त्व रहित मिथ्यादृष्टि हैं, उनके भाव भक्ति तो नही है, लेकिन बाहरी भक्ति होती है, उससे पुण्य का ही बन्ध है, कर्म का क्षय नहीं है। ऐसा कथन सुनकर श्री योगीन्द्रदेव से प्रभाकर भट्ट ने प्रश्न किया—हे प्रभो ! जो पुण्य मुख्यता से मोक्ष का कारण नही है, तो त्यागने योग्य ही है, ग्रहण योग्य नही है। जो ग्रहण योग्य नही है, तो भरत, सगर, राम, पांडवादिक महान् पुरुषों ने निरन्तर पंचपरमेष्ठी के गुण-स्मरण क्यो किये ? और दान पूजादि शुभ क्रियाओं से पूर्ण होकर क्यो पुण्य का उपार्जन किया ? तब श्री गुरु ने उत्तर दिया—कि जैसे परदेश में स्थित कोई रामादिक पुरुष अपनी प्यारी सीता आदि स्त्री के पास से आये हुए किसी मनुष्य से बातें करता है—उसका सन्मान करता है, और दान करता है, ये सब कारण अपनी प्रिया के निमित ही हैं, कुछ उसके प्रसाद के कारण नही है। उसी तरह वे भरत, सगर, राम, पांडवादि महान् पुरुष वीतरागपरमानन्द रूप मोक्ष रूपी लक्ष्मी को प्राप्त करते हैं। वे अमृत रस के प्यासे हुए संसार की स्थिति के छेदने के लिए विषय कषाय से उत्पन्न हुए आर्त रौद्र खोटे ध्यानों के नाश के कारण श्री पंचपरमेष्ठी के गुणो का स्मरण करते है, और दान पूजादिक करते हैं, परन्तु उनकी दृष्टि केवल निज परिणति पर है, पर वस्तु पर नही है। पंचपरमेष्ठी की भक्ति आदि शुभ क्रिया को परिणत हुए जो भरत आदिक है, उनके विना चाहे पुण्यप्रकृति का आस्रव होता है। जैसे किसान की दृष्टि अन्न पर है, तृण भूसादि पर नही है। विना चाहा पुण्य का बन्ध सहज मे ही हो जाता है। वह उनको ससार मे नही भटका सकता है। वे तो शिव-पुरी के ही पात्र हैं।

दान करना, शास्त्र स्वाध्याय करना, सत्य वचन बोलना, व्रतो का पालन करना, कष्ट सहिष्णु बनना और स्वार्थ का त्याग कर निष्काम कर्म करते जाना ही मानव जीवन का ध्येय है। जो व्यक्ति अपने इस ध्येय को पूरा करता है, वह अपना कल्याण कर ही लेता है। जीवन मे

जब तक भौतिकता रहती है, खाना-पीना और आनन्द करना यही जीवन का ध्येय रहता है, तब तक शान्ति मिल नही सकती। परोपकार करना लौकिक दृष्टि से जीवन का एक उच्च ध्येय है।

प्रत्येक व्यक्ति को दान अवश्य करना चाहिए, इससे जीवन मे मोह कम हो जाता है, भावनाएँ परिष्कृत और विशुद्ध हो जाती हैं। धन और विषयो की आसक्ति कम हो जाती है, तथा व्यक्ति स्वार्थ के सकुचित दायरे से हट कर परोपकार के विस्तृत क्षेत्र मे पहुँच जाता है। स्वाध्याय करना तो मानव जीवन के लिए बहुत ही आवश्यक है। जो प्रति दिन ज्ञानार्जन करता है, वह ससार के विषयों की भयकरता से बच सकता है। स्वाध्याय सबसे बड़ा तप है, क्योकि जितने समय तक स्वाध्याय किया जाता है, उतने समय तक परिणाम विशुद्ध रहते है। भावनाएँ पवित्र बनी रहती हैं, मन मे एकाग्रता आती है, विषयो से अरुचि उत्पन्न होती है तथा भौतिकता की निस्सारता प्रतीत होती है।

ज्ञान के समान संसार मे कोई बड़ा पदार्थ नही है, क्योकि ज्ञान ही लोक-परलोक और आत्मा-परमात्मा का यथार्थ स्वरूप अवगत कराता है। सच्चे ज्ञान का एक कण भी इस जीव के लिए महान् उपकारी हो सकता है, एक छोटी सी बात भी इस जीव को ऊँचा उठा सकती है। इसलिए महा पुरुषो ने स्वाध्याय को ससार-सागर से पार करने के लिए नौका बताया है, कषाय वन को दग्ध करने के लिए दावानल कहा है। स्वाध्याय से भेद विज्ञान होता है, क्योकि विषयो से अरुचि इसी से हो सकती है। तत्त्व चर्चा, प्रथमानुयोग करणानुयोग आदि का ज्ञान इस जीव को शान्ति प्रदान करता है, राग, द्वेष, मोह प्रभृति विकारो का सबसे बड़ा इलाज वीतराग प्रभु के वचन है, इन वचनो की प्राप्ति शास्त्र ज्ञान से ही हो सकती है। स्वाध्याय का रस आ जाने पर सारी आकुलता दूर हो जाती है, वस्तु का यथार्थ मर्म मालूम हो जाता है। अनादि काल से चली आयी कर्म कालिमा स्वाध्याय से दूर हो सकती है। सम्यग्ज्ञान के मिल जाने से इस जीव को सब प्रकार से सुख और शान्ति

मिलती है। आत्मा की विभाव परिणति का ज्ञान हो जाता है, परपदार्थों की लिप्सा हट जाती है। रागादि का उपशम होने से जीव की अनेक उलझनें स्वाध्याय से दूर हो जाती है।

स्वाध्याय को तप इसलिए माना गया है, कि कोई भी व्यक्ति शास्त्र पठन मे अपने मन को एकाग्र कर कर्मो की अधिक से अधिक निर्जरा कर सकता है। उपयोग का स्थिर करने के लिए स्वाध्याय से बढ़कर दूसरा कोई अन्य साधन नही है। इसका महत्त्व इसीलिए विशेष है कि वस्तु स्वरूप का यथार्थ ज्ञान हो जाने से पर परिणति को दूर किया जा सकता है। अन्तरग और बहिरग परिग्रह की मूर्छा दूर करने के लिए यह रामबाण है। व्यक्ति को कर्त्तव्यनिष्ठ यही बना सकता है। अतः प्रत्येक स्त्री पुरुष को प्रतिदिन स्वाध्याय अवश्य करनी चाहिए। यदि जीवन मे दो-चार शब्द या बाते भी यथार्थ जान ली तो फिर कभी न कभी कल्याण करने का अवसर मिल ही जायगा। शास्त्र स्वाध्याय से चारित्र की भी प्राप्ति होती है।

सत्य वचनो का भी जीवन मे बड़ा भारी महत्व है। जो सत्य बोलता है, उसकी वाणी मे बडी भारी शक्ति आ जाती है। वचनों का प्रभाव अन्य लोगो पर जादू जैसा पडता है, आत्मा की शक्ति का विकास हो जाता है। अहिसा व्रत की रक्षा भी सत्य, अचौर्य, ब्रह्मचर्य और अपरिग्रह व्रतों से ही हो सकती है। अत प्रत्येक व्यक्ति को व्रतो का पालन यथाशक्ति करना चाहिए।

वास्तव मे व्रतो का सम्बन्ध आत्मज्ञान और चारित्र से है। व्रती व्यक्ति अपने ज्ञान को बढाता हुआ चारित्र को प्राप्त करता है, क्योकि सम्यग्दर्शन हो जाने से आत्मविश्वास तो पहले ही आ गया है, अब केवल विवेक और चारित्र को प्राप्त करना है। यह कार्य व्रतों से पूर्ण होता है। गृहस्थ अणुव्रतो द्वारा आंशिक चारित्र का पालन करता है और मुनि महाव्रतो के आचरण द्वारा पूर्ण चारित्र को प्राप्त होता है। अपनी शक्ति के अनुसार प्रत्येक गृहस्थ को भी व्रतों का पालन करना

चाहिए। व्रतो के पालन से जीवन मे सयम आता है तथा जीवन व्यवस्थित होता है। व्रतो के अभाव मे जीवन पशुवत् ही समझना चाहिए।

भगवान न भाव पूजा से खुश है और न द्रव्य पूजा से

उळियि गेय्यद चैत्य मदिरदोळिद्दटी योगिगळ्तारदा-
जळदिं तेयद गंधदिं तोळेयदे नांदक्किर्यिदेत्तदा ॥
तळिर्पू विदंडदन्नदिं सुडददीपोद्धपदिं कोय्यदा।
फळदिंदर्घ्यदे निम्मनर्चिपरहो रत्नाकराधीश्वरा ॥९७॥

हे रत्नाकराधीश्वर!

विधिवत् आपकी मन्दिर मे प्रतिष्ठा कर न लाए हुए पानी से, न घिसे हुए चन्दन से, पानी मे नही धोये हुए अक्षतो से, न तोड़कर लाए हुए पुष्पो से, न पकाये हुए अन्न (नैवेद्य) से और तोड़कर न लाये हुए फलो और अर्घो से त्यागी आपकी पूजा करते हैं, यह कितना आश्चर्यजनक है। अर्थात् भावपूजा द्वारा भी त्यागी पुरुष अपना कल्याण करते है।

पूजा दो प्रकार की है—भाव पूजा और द्रव्य पूजा—

दयाभसा कृतस्नान, संतोष-शुभवस्त्रभृत्।
विवेक-तिलकभ्राजी, भावना-पावनाशय· ॥
भक्ति श्रद्धान घुसणोन्मिश्रपाटी रज द्रवै.।
नव ब्रह्मागतो देव, शुद्धमात्मानमर्चय ॥
क्षमा पुष्पस्रज धर्म, युग्म क्षौमद्वयं तथा।
ध्यानाभरणसार च, तदगे विनिवेशय ॥
मदस्थान भिदा त्यागैर्लिखाग्रे चाष्ट मगली।
ज्ञानाग्नौ शुभ सकल्प, काकतुड च धूपय ॥

प्राग् धर्म लवणोत्तारं, धर्मसन्यास वन्हिना ।
कूर्वन् पूरय सामर्थ्यं, राजन्नी राजना विधि ॥
स्फुरन् मंगलदीपं च, स्थापयानुभवं पुरः ।
योग नृत्य परस्तौर्यं, त्रिक संयमवान् भव ॥
उल्लसन्मनस. सत्य, घंटां वादयतस्तव ।
भावपूजा-रतस्येत्थं, करक्रोडे महोदयः ॥
व्यपूजोचिता भेदोपासना गृहमेधिना ।
भावपूजा तु साधूनामभेदोपासनात्मिका ॥

दो प्रकार की पूजा हैं। भाव और द्रव्य। शुद्ध लक्ष्य से जो भगवान् का पूजन किया जाता है अर्थात् अष्ट द्रव्य से सामग्री लेकर के जो पूजन किया जाता है वह द्रव्य पूजा कहलाती है। वह द्रव्य पूजा भाव के लिए कारण होती है। द्रव्य पूजा के लिए गृहस्थ अधिकारी है। और मुनिजन भाव पूजा करते है। परन्तु गृहस्थ भी शुद्ध लक्ष्यपूर्वक द्रव्य के द्वारा भाव को साध लेता है। उससे वह गृहस्थ भी भाव पूजा का आगे चल करके अधिकारी वन जाता है। इसलिए उचित कर्तव्य समझ करके जिसको जो पूजा करनी है उसको कभी भी द्रव्य पूजा मे प्रमाद नही करना चाहिए। वह शुद्ध लक्ष्यपूर्वक आत्म समर्पण करते हुए अन्य भाव को भी शुद्ध वना लेता है। जो अष्ट द्रव्य से पूजन किया जाता है वह लोभ कषाय को कम करने के लिए किया जाता है। यह सभी भाव-शुद्धि के लिए होता है। यदि गृहस्थ को द्रव्यपूजा करने मे अत्यधिक आनन्द आ जाय तो वह भावो मे मुनि के समान हो जाता है। केवल भाव शुद्धि के लिए गृहस्थ द्रव्य का त्याग करके लोभ कषाय को कम करता है। मुनि लोग अन्य प्रकार की द्रव्य पूजा करते है। वे निर्मल दया जल से स्नान करके सन्तोष रूपी शुद्ध वस्त्र धारण कर विवेक तिलक लगाते हैं। बाह्य के द्वारा पवित्र आशय बना करके भक्ति रूपी केशर घोलते हैं। श्रद्धा रूप चन्दन लगाते है। उसी प्रकार अन्य उत्तम गुण रूपी

कस्तूरी और ब्रह्मचर्य रूपी नैवेद्य से देवाधिदेव की भाव से पूजा करते हैं।

पुष्प-क्षमा रूपी सुगन्ध पुष्पमाला तथा धर्म रूपी वस्त्र धोती दुपट्टा पहन करके वे हमेशा प्रभु का पूजन करते हैं। इस तरह प्रभु की अपने भीतर स्थापना करके सद् गुण रूपी चावल चढाते है। त्याग रूप अष्ट मंगल चढाते हैं। वे ज्ञानाग्नि मे शुभ अध्यवसाय रूप धूप चढ़ाते हैं।

शुद्ध धर्म रूपी अग्नि मे अशुद्ध धर्म रूपी घी चढाते हैं। घी चढा कर दैदीव्यमान वीर्य उल्लास रूपी आरती उतारते हैं। अर्थात् वीतराग व्रत धारण करते है। वीतराग दशा शुद्ध आत्म धर्म है। इसलिए अशुद्ध आत्म दशा को त्याग करके शुद्ध आत्म दशा को प्राप्त होते है।

शुद्धात्म अनुभव रूप मंगलमय दीपक को प्रभु के आगे रखते हैं। और योग निरोध रूप नृत्य करते हैं। सुसंयम रूप विविध बाजे बजाते हैं। अर्थात् सद्बुद्धि तत्व परीक्षा करके शुद्ध अनुभव जगाते है। और उसके द्वारा प्रमाद को दूर करके सावधान होकर शुद्ध समय के सेवन करने मे दत्तचित्त होते हैं।

श्री वीतराग वचनानुसार प्रवृत्ति करने वाले, स्वात्म स्वरूप मे लीन होने वाले, पवित्र आज्ञा को अखण्ड रूप से पालन करने वाले भाव पूजा के पूर्ण अधिकारी हो करके अनन्त कर्मों की निर्जरा करते हैं। परमार्थ पद के सुख को पाने के अधिकारी बन जाते हैं। परन्तु स्वेच्छा-चारी कलुषित हृदय वाले इस पद को प्राप्त नही हो सकते। इस प्रकार जो भव्य जीव भाव पूजा करते हैं, वे परम पद को प्राप्त हो जाते है। ऐसे व्यक्ति शास्त्र स्वाध्याय मे हमेशा रत रह करके कषाय रहित होकर अप्रमत्त अवस्था में प्रवर्तत है। सचमुच भाव पूजा मुनि लोगो के हृदय मे चौवीस घंटे रहती है। द्रव्य पूजा मुख्य रूप से व्यवहार सम्यग्दृष्टि गृहस्थ के होती है। भाव पूजा मुख्य रूप से निश्चय से मुनि के होती है। इस तरह से जो श्रद्धान पूर्वक पूजा करता है वह थोड़े ही समय मे अपने सम्पूर्ण कर्मो की निर्जरा करने का साधन बना कर ससार से

विरक्त हो जाता है।

पूजा दो प्रकार की होती है—भाव पूजा और द्रव्य पूजा। अष्ट द्रव्यो से भगवान् की पूजा करना भाव पूजा है और विना द्रव्य के स्तोत्र पढना एव भगवान के गुणो का चिन्तन करना भाव पूजा है। द्रव्य पूजा मे आठो द्रव्यो का आधार रहता है, जिससे पूजक अपने मन को स्थिर कर सकता है। सुन्दर पूजा-द्रव्य को चढ़ाते समय पूजक के मन मे अपार हर्ष होता है, उसका मन भगवान के गुण-चिन्तन मे रम जाता है। आत्मा की महत्ता, उसके शुद्ध गुण एव ससार परिभ्रमण के कारण उसके समक्ष स्पष्ट होने लगते है। इस ससारी जीव को भगवान की पूजा संसार से पार करने के लिए नौका के समान है, क्योकि पूजक को उपासना द्वारा अपनी आत्मा का साक्षात्कार होता है। पूजक दीनता की भावना का अनुभव नही करता, वल्कि अपने को योग्यता की दृष्टि से परमात्मा समझता है।

भगवान की पूजा विना द्रव्य के भी हो सकती है। जल, चन्दन, अक्षत, पुष्प, नैवेद्य, दीप, धूप और फल इन आठ द्रव्यों की भाव पूजा के लिए आवश्यकता नही। भाव पूजा केवल भगवान के गुणो का चिन्तन और मनन करने से ही हो सकती है, इसमे भावनाओ का अवलम्ब वाहरी द्रव्य नही होता, किन्तु स्वय अपनी भावनाएं ही अवलम्व पडती है। पचपरमेष्ठी, जो कि आत्मा के परिणमन की पॉच अवस्थाए है, उनके गुणो का चिन्तन करके कल्याण करना है। अर्हन्त भगवान मे चार घातिया कर्म नही है, उनके दिव्य उपदेश से ही ससार के प्राणी सुख और शान्ति प्राप्त कर सकते है, संसार का सन्ताप उन्ही के दिव्य उपदेश से शान्त हो सकता है। प्रत्येक जीव मे परमात्मा बनने की योग्यता है, उद्यम कर कोई भी व्यक्ति इस पद को प्राप्त कर सकता है। भाव पूजा से आत्मानुभूति प्राप्त करने का अधिक अवसर मिलता है। भगवान के दर्शन से, स्तवन से और उनके भाव पूजन से आत्म प्रतीति नही हुई तो सव विडम्वना मात्र है।

पूजन काल मे शुभोपयोग रहता है, पाप या बुरी वासनाए उतने काल तक आत्मा मे नही आने पाती है। पूजक की भावनाओ मे इतनी शुद्धि आ जाती है जिससे पुण्य का बन्ध होने से लौकिक दृष्टि से भी प्राणी को दीनता, रोग, शोक, निर्धनता आदि बाते नही सताती है। चित्त में भगवान के दर्शन, स्तवन और पूजन से अपूर्व शान्ति मिलती है। आत्मा अनुभूति के रस से भर जाती है। पर पूजन के समय दो बातो का ध्यान रखना आवश्यक है—निष्काम—फल की आकाक्षा के बिना पूजन करना और उपयोग—मन, वचन और काय को स्थिर कर पूजन करना। यदि फल की आकाक्षा से या किसी कार्य को पूरा करने की आकाक्षा से पूजा की जायेगी तो कर्तृत्व भाव का आरोप हो जाने से अथवा निदान बाधने से सम्यक्त्व विशुद्ध करने के स्थान मे मिथ्यात्व का पोषण होगा। पूजा करने का जो वास्तविक ध्येय है, उसकी सफलता नही हो सकेगी। पूजन का फल अचिन्त्य होता है, थोडे से फल की आकाक्षा कर उसकी सीमा निर्धारित कर देना कितनी बड़ी मूर्खता है। फल की आकांक्षा कर पूजा करने वाला कल्पवृक्ष को प्राप्त कर उससे भी चने की सूखी रोटिया मागने वाले के समान है। अत सर्वदा भावपूर्वक शुद्धि के साथ भगवान की पूजा निष्काम होकर करनी चाहिए।

पूजा करते समय उपयोग को स्थिर रखना भी आवश्यक है, उपयोग के स्थिर न रहने से पूजा करने मे आनन्द, शान्ति और रस नही आ सकते हैं। पूजा करने का सच्चा मर्म एकाग्र चित्त वाला ही जान सकता है। जिसका चित्त बंदर के समान चंचल है, वह पूजा से क्या शान्ति प्राप्त करेगा? मन, वचन और काय के स्थिर हो जाने से पूजा द्वारा ध्यान की सिद्धि भी की जा सकती है। चचल इन्द्रियो और मन की सरलतापूर्वक विजय की जा सकती है। त्यागी आरम्भ और परिग्रह छोड देने के कारण भाव पूजा करते है।

द्रव्यपूजा भी मोक्ष का कारण है—

आवं माडिद भावपूजे विनवंगोर्वगे ळेसल्ळिगा ।
सावद्यं रहितं सुमंतु सुजनसंद्रस्तुविंपूजिसल् ।।
सावद्यं कळेयल्के तीरदोडमें तत्पूजेयं कंडु के—
ळ्देवेळ्वें पलरुं सुखंबडेयरे रत्नाकराधीश्वरा ।।६८।।

हे रत्नाकराधीश्वर !

जिस प्रकार किसी योगी को भाव पूजा करने से श्रेय या कल्याण मिलता है उसी प्रकार श्रेष्ठ पदार्थो से जो सत्पुरुप पूजा करते है उनका पूजा से उत्पन्न अल्प दोप दूर होकर महान् कल्याण होता है। पूजा से उत्पन्न होने वाले अल्प दोप यदि दूर न होते हो तो पूजा करने वाले सभी सत्पुरुषो को देख सुन कर क्या कहा जाय ! क्या वे लोग सुख को प्राप्त नही करेगे ?

त्यागी व्रती पुरुप भगवान की भाव पूजा करते है, क्योकि इस पूजा मे पूजन सामग्री मे उत्पन्न होने वाली हिसा नही होती है। राग-द्वेष का विनाश होकर चित्त मे एकाग्रता उत्पन्न हो जाती है । भावपूजा बड़ी भारी कल्याणकारी है, अन्तरग के निर्मल होने से रत्नत्रय की दीप्ति प्रकट हो जाती है। भक्त को मोक्ष मार्ग भक्ति के बल से मिल ही जाता है। भावपूजा के समान द्रव्यपूजा करने वालो को भी फल मिलता है। यद्यपि द्रव्यपूजा करने मे आरम्भजन्य पाप होता है। भक्त अपने भावो को स्थिर रखने के लिए सुन्दर पूजा के उपकरण, जल चन्दन आदि सामग्री एकत्रित करते है तथा वाद्य एकत्रित कर मधुर स्तुति पढते है। इन कार्यों मे एकेन्द्रियादि जीवों की हिंसा होती है, पर पूजा के फल के सामने वह नगण्य है। पूजा करने से भावों की महान् विशुद्धि होती है, जिससे पुण्य का वन्ध होता है। यह पुण्य समुद्र के समान है और यह आरम्भजन्य हिंसा कणिका के समान है, अतः पुण्य

की अधिकता रहने से हिंसाजन्य पाप दब जाता है।

जहां लाभ अधिक होता है और हानि कम होती हैं, वहा बुद्धिमानो को वह कार्य गुण रूप ही मालूम होता है। महान लाभ के लिए थोडी हानि भी सहन की जाती है। पूजन प्रारम्भ करते समय यत्नाचार तथा दयाभाव से व्यवहार करते समय कुछ अल्प हिंसा हो भी जाय तो उसकी कोई गणना नही है। यह हिंसा भी इतनी कम होती है कि महान् पुण्य के साथ वन्धने पर पुण्य रूप ही दिखलायी पड़ती है। जैसे मीठे जल के समुद्र में एक डली नमक की डाल देने पर भी उस समुद्र के जल का रस मीठा ही रहता है, खारी नही होता, इसी प्रकार महान् पुण्य के साथ अल्प पाप का बन्ध होने पर भी उसका कुछ प्रभाव नही होता है। जो श्रावक आरम्भी हिंसा के भय से द्रव्यपूजा नही करना चाहते है, वे बडी गलती करते हैं, क्योकि भावपूजा मे मन अधिक समय तक स्थिर नही रह सकता है। जैसे विना बाजे के गवैया का मन नही लगता है उसी प्रकार द्रव्यादि सामग्री के विना मन अधिक समय तक स्थिर नही रह पाता है।

द्रव्यपूजा के समय, भावपूजा की अपेक्षा मन अत्यधिक लगाना पड़ता है, जिससे अधिक समय पुण्यार्जन के लिए मिलता है। परिणामो की उज्ज्वलता यो तो भावपूजा मे ज्यादा होती है, पर इसमे परिणाम अधिक देर तक नही लग सकते है। जब तक श्रावक के मन मे इतनी दृढता और विरक्ति नही आती, जिससे वह अपने मन को किसी एक ही विषय मे अधिक समय तक लगा सके, तब तक उसे द्रव्यपूजा ही करनी चाहिए। मन की चंचलता को रोकने के लिए ही पूजा, पाठ, स्वाध्याय और सामायिक आदि क्रियाएँ बताई गई है। इन क्रियाओ से मन की चंचलता के साथ-साथ राग-द्वेप की प्रवृत्ति भी रुकती है। गृहस्थ धर्म के वर्णन मे आचार्यो ने कहा है कि सुन्दर शिखरवद्ध मन्दिर बनवाना, मन्दिर मे मूर्ति स्थापित करना, प्रतिष्ठा करना, भगवान् की प्रतिदिन-पूजा करना ये गृहस्थ के कर्तव्य है। इन कार्यों से धर्म तो होता ही है,

साथ ही कीर्ति भी मिलती है। अतएव प्रत्येक श्रावक को अपनी शक्ति के अनुसार अपने धन का सदुपयोग करना चाहिए, उसे भगवान की पूजा, प्रतिष्ठा मे धन का व्यय अवश्य करना चाहिए।

उदासीन, त्यागी, व्रती भावपूजा करते है, उनका कल्याण उसके द्वारा होता है, पर गृहस्थ द्रव्यपूजा से भी अपना उतना ही कल्याण कर सकते है जितना उदासीन भावपूजा से करते हैं। मोक्ष प्राप्त करने का अधिकारी पूजक शीघ्र बन सकता है। नित्य प्रति पूजा करने वाले की भावनाए विशुद्ध होती रहती है, जिनसे उसे कल्याण करने की प्रेरणा सहज रूप मे मिलती रहती है। पूजा करने से पुण्य का संचय होने से अनायास मोक्ष का द्वार मिल जाता है।

अभिप्राय यह है कि पूजा रागांश होने पर भी कर्मबन्धन का नाश करने मे कारण है। जितने काल तक गृहस्थ पूजा करता है, उतने समय तक वह अनात्मिक भाव—विकार और कषायों से दूर रहता है। अतः मन को एकाग्र करने मे सहायक होने से भगवत् पूजा जीवन के उत्थान के लिए आवश्यक है। हा, जिनका मन पूजा करते समय भी इधर-उधर भटकता रहे, उन्हे पहले मन को स्थिर करने का ही उपाय करना चाहिए। पूजन के समय चित्त मे शान्ति रखना तथा कपायो का आविर्भाव न होने देना नितान्त आवश्यक है।

त्यागी व्रती के द्वारा की हुई पूजा से पाप का वन्ध नहीं होता

मुनिगळ्माडुव भावपूजेरुच्चियो ? सद्भव्यसंतानव—
च्चंनेगेयवुत्तमवस्तुपूजेरुचियो ? पेळय्य नीनेके सु—॥
म्मनेयिर्पेयिदरंदमं तिळिदेनै निष्कांक्षकं नीनवर् ।
मनमं निम्मोळिडल्के साधिपरला रत्नाकराधीश्वरा ॥६६॥

हुई और उस कन्या का नाम पद्मावती रखा और बड़ी प्रसन्नता से उसका लालन-पालन करने लगी। पद्मावती जब जवान हुई, तब उसके सौन्दर्य की धूम चारो ओर मच गई। उसके रूप लावण्य और गुणो की प्रशसा सुनकर दन्तिपाल नामक राजकुमार कुसुमपुर मे आया और माली से पद्मावती के सम्बन्ध मे पूछा। माली ने राजकुमार से सारी बातें प्रकट कर दी। राजकुमार अत्यन्त प्रसन्न हुआ और उसने पद्मावती के साथ व्याह कर लिया। पद्मावती भी अपने पति की प्राणवल्लभा बन गई। दन्तिवाहन भी समयानुसार राजसिंहासन पर बैठा। एक दिन पद्मावती ने अपने पति से स्वप्न मे जो देखा था सो कहा। तब राजा ने कहा कि हाथी, सिंह और सूर्य के देखने से पुण्यवान पुत्र होगा। स्वप्न का ऐसा सुन्दर फल जानकर, पद्मावती बडी प्रसन्न हुई। तेरपुर का ग्वाला भी तालाब मे स्नान करते हुए शैवाल मे फँसकर मर गया और जिससे वसुमित्र सेठ को बडा शोक हुआ और उसने उसकी अन्त्येष्टि क्रिया कर वैराग्य धारण किया एव तपस्या करके स्वर्ग धाम पाया। वह ग्वाला, मरने के बाद पद्मावती के गर्भ मे आया। एक दिन की बात है कि रानी ने राजा से कहा, कि "मेघ घिरा हो, बिजली चमकती हो, उस समय आपके साथ हाथी के ऊपर सवार होकर नगर के बाहर घूमने की मेरी इच्छा होती है। राजा रानी के साथ नर्मदातिलक नामक हाथी पर बैठ कर रानी की इच्छा पूर्ण करने को भ्रमण के लिए निकले। हाथी एकाएक रास्ते मे बिगड गया एवं लोगो को देखते ही भागना शुरू किया। राजा तो किसी प्रकार पेड़ की शाखा पकड कर बच गये किन्तु रानी नही बचाई जा सकी। रानी को पीठ पर लेकर हाथी भागता ही गया। लोग हाथ मल कर, पछता-कर रह गये। राजा हाय-हाय करके रह गया और सब लोगो के देखते-देखते हाथी सबकी आँखो से ओझल हो गया। वह हाथी पद्मावती को अपनी पीठ पर बैठाये, अनेक देशो को लाघता हुआ दक्षिण की ओर जा पहुँचा। हाथी भी दौड़ते-दौडते थक चुका था, और वही एक

तालाव के किनारे बैठ गया । वनदेवी ने पद्मावती की रक्षा की। पद्मावती सरोवर के किनारे वैठ कर अपने भाग्य पर रोने लगी। भट नामक माली को पद्मावती के रोने पर दया आयी, उसने उसे अपने घर चलने को कहा । पद्मावती ने कहा "तू कौन है जो मेरी भलाई करना चाहता है ?" माली ने कहा—बहिन ! मैं दुखियों के दु ख को दूर-करना चाहता हूँ, तुम निर्भय होकर मेरे घर चलो।" पद्मावती ने इस प्रकार के आश्वासन पर माली के घर जाना स्वीकार कर लिया और माली उसे हस्तिनापुर मे ले आया और लोगों से पद्मावती को अपनी बहन बताया। किन्तु माली की स्त्री बड़ी दुष्टा थी, माली की अनुप-स्थिति मे उसने पद्मावती को अपने घर से निकाल दिया। पद्मावती रोती-पीटती, असहाय होकर श्मशान में जा पहुँची और वही उसने पुत्र प्रसव किया। पुत्र उत्पन्न होने के बाद ही, एक चाण्डाल ने आकर कहा कि आप मेरी स्वामिनी है। पद्मावती ने पूछा—मैं कैसे तेरी स्वामिनी हूँ। चाण्डाल ने कहा—"मैं विद्युत्प्रभ नामक राजा का पुत्र हूँ और मेरा नाम बलदेव है। एक दिन मैं अपनी स्त्री के साथ, दक्षिण की तरफ क्रीडा करने जा रहा था, कि मार्ग मे श्री वीर भट्टारक के अवस्थान करने के कारण, मेरा विमान उनके ऊपर से नही जा सका। मुझे क्रोध आया, मैंने समझा कि इन्होने मेरे विमान को रोका है। मैने उपसर्ग किया किन्तु उनके पुण्य प्रताप के कारण मेरी विद्या ही नष्ट हो गयी अत: मैंने प्रणाम कर देवी से निवेदन किया कि वह मेरी विद्या पुन मुझे लौटा दे। देवी ने कहा कि हस्तिनापुर के श्मशान मे तू जिस बालक को देखेगा, उसी के राज्य मे, तेरी विद्या तुझे प्राप्त हो जायेगी। अत उसी दिन से मैं श्मशान की देखभाल कर रहा हूँ और आज मेरी मनोकामना पूर्ण हुई है। पद्मावती ने चाण्डाल के मुह से भेद-भरी कहानी सुनकर अपने नवजात शिशु को लालन पालन के लिए उसे दे दिया। चाण्डाल ने प्रसन्नता के साथ नवजात शिशु को लाकर अपनी स्त्री को दे दिया। लड़के का नाम करकण्डु रखा गया । पद्मावती ने

भी ब्रह्मचारिणियो के आश्रम मे रहकर समाधिगुप्त नामक मुनि से दीक्षा लेने की इच्छा प्रकट की। इस पर मुनि ने कहा कि तुमने तीन बार दीक्षा लेकर अपने व्रत को भग किया है, अत तुम पर तीन विपत्ति आयेंगी। इसके बाद जब तुम अपने पुत्र को राज्य करते हुए देखोगी, तब तक तुम्हारी तीनो विपत्ति भी दूर हो जायेंगी, तब मैं तुम्हे दीक्षा दूंगा। पद्मावती ने सन्तोष की सास ली और अपने पुत्र करकण्डु को देखकर समय व्यतीत करने लगी। करकण्डु और बलदेव भी उस श्मशान मे आनन्द पूर्वक रहने लगे। एक दिन सयोगवश जयभद्र और वीरभद्र नामक दो आचार्य श्मशान मे आये। उस समय एक मुर्दे के नेत्रो मे से तीन बास उगते दिखलाई दिये। उन्हे देखकर एक यति ने आचार्य से इसका कारण पूछा। आचार्य ने कहा, "इसमे कोई आश्चर्य की बात नही। इस नगर का जो राजा होगा, इन तीनो बासो से उसके अंकुश, छत्र और ध्वजा के दण्ड बनाये जायेंगे। सयोग से, करकण्डु के हाथ मे वे बास आ गये। कुछ दिनो के बाद उस नगर का राजा मर गया। वह नि सन्तान था। अत राज परिवार के लोगो ने राजा बनाने के लिए एक हाथी को छोड़ा और घोषणा कर दी कि हाथी की पीठ पर जो सवार होकर आयेगा, वही राजा होगा। हाथी ने करकण्डु को अपनी पीठ पर बैठाकर महल मे प्रवेश किया। सब लोग, आनन्द मनाने लगे। करकण्डु राजा हुआ, बलदेव को पुन विद्या भी मिल गई। वह राजा को प्रणाम कर घर गया। इधर करकण्डु ने अपने शत्रुओ का नाश कर राज्य शासन-भार ग्रहण किया। करकण्डु के प्रताप को सुनकर दन्तिवाहन ने उसे अपनी आधीनता स्वीकार करने को कहा। करकण्डु ने क्रोधित होकर दूत से कहला भेजा कि स्वामी और भृत्य का निर्णय रणभूमि मे ही होगा। बस फिर क्या था दोनो ओर की सेना सग्राम भूमि मे अपने-अपने भाग्य के निर्णय के लिये आ डटी। रणभेरी बज चुकी थी, युद्ध होने मे केवल कुछ ही क्षणो की देरी थी, कि पद्मावती ने अपने पुत्र से कहा—"पुत्र! युद्ध बन्द करो, ये तुम्हारे पिता हैं, शत्रु

नही ।" माता की बात सुनकर करकण्डु हाथी से उतर पडा और पिता के चरणो मे पडकर क्षमा याचना की । पिता और पुत्र का अभूतपूर्व सम्मिलन था, बडा ही द्रावक दृश्य था । क्षण भर मे ही लड़ने वाली दोनों सेनायें स्नेह की गगा मे अवगाहन करने लगी । जहाँ क्षण भर पहले सग्राम का भीपण निनाद हो रहा था, घोर कोलाहल मचा हुआ था, वहाँ शान्ति की अपूर्व छटा छा गई । सबसे बढकर अज्ञात पुत्र का अपने प्रिय पिता के साथ सम्मिलन हुआ जिसे देखकर स्वर्ग और मृत्युलोक मे भी खुशियाँ छा गईं । तत्पश्चात् दन्तिबाहन करकण्डु को ही अपना राज्य दे पद्मावती के साथ भोगविलास करता हुआ अपना समय आनन्द के साथ व्यतीत करने लगा । करकण्डु ने भी सुचारु रूपेण राज्य-शासन करना आरम्भ किया । कुछ दिनो बाद उसके मन्त्रियो ने चेरम, पाण्ड्य और चोल आदि देशो को जीतकर अपने आधीन करने की सलाह दी । इसकी सूचना उक्त देश के अधीश्वरो को दी गई । दोनो ओर से खूब घमासान युद्ध हुआ । सध्या का समय हो जाने से लड़ाई बन्द कर दी गयी । प्रात काल होते ही पुन. युद्ध आरम्भ हुआ । इस बार करकण्डु की सेना मे शिथिलता आ गई थी. अतः स्वय करकण्डु हाथ में तलवार लेकर शत्रुओ पर शेर की भाँति झपट पड़ा और बात की बात मे समस्त राजाओ को बन्दी बना लिया । राजाओ के सिर पर पैर रखते हुए उनके मुकुटो मे जैसे ही उसने जिन भगवान की प्रतिमा देखी तो उसे बड़ा ही दु ख हुआ और उसने उन समस्त राजाओ से अपनी भीपण भूल के लिए क्षमा की प्रार्थना की और उन्हे विदा कर आप वही ठहर गया । इसी बीच मे धारा और शिव नामक दो भीलो ने आकर राजा से निवेदन किया—हे महाराज ! यहाँ से छ' कोस की दूरी पर, पर्वत के ऊपर धाराशिव नामक एक नगर है, वहाँ एक हजार जिनालय हैं । पर्वत के शिखर पर साँप की बावी है । सबसे आश्चर्य की बात तो यह है कि एक सफेद हाथी प्रतिदिन सरोवर से जल और कमल लाकर तीन बार परिक्रमा कर बांवी के ऊपर जल चढाता है । राजा ने यह सुनकर

भीलों को इनाम दिया और वावी को खुदवाने का हुक्म दिया। खोदे जाने पर उसमें से भगवान् पार्श्वनाथ की रत्नमयी प्रतिमा निकली। राजा अत्यन्त प्रसन्न हुआ और उसका नाम अर्गलदेव रक्खा एव उसकी स्थापना करा दी। मूर्ति के आगे एक ऊंची जगह देखकर, राजा ने कारीगरो से कहा कि इसे काटकर साफ कर दो। कारीगरो ने कहा—राजन् ! यह जल की नाली है, साफ करने से जल निकलने का डर है। किन्तु राजा ने उनकी वात अनसुनी कर उसे तुडवाने का हुक्म दिया। तोडे जाने पर जल का ऐसा स्रोत फूट चला जो किसी प्रकार वन्द नही किया जा सका। राजा घवडाया और कुशासन पर वैठकर स्रोत वन्द करने के निमित्त सन्यास धारण कर लिया। इसी बीच एक नागकुमार ने प्रकट होकर कहा—राजन् ! कालचक्र के कुप्रभाव से इस रत्नमयी प्रतिमा की रक्षा होना असम्भव है। अत. जल बन्द करने का हठ छोड़ दो। राजा ने कहा— देव ! इसे किसने बनाया, और वावी मे प्रतिमा किसने स्थापित की, इसका वृत्तान्त वर्णन कीजिए। तव नागकुमार ने कहना प्रारम्भ किया—"इस विजयार्द्ध की उत्तर श्रेणी मे नभस्तिलकपुर नामक एक नगर है, उसमे अमितवेग और सुवेग नामक दो राजा राज्य करते थे। एक समय की वात है कि वे मलयगिरि मे रावण के वनाये हुए जिन मन्दिरो मे वदना करने गये। वे जहाँ-तहाँ भ्रमण करने लगे। वहीं पर भ्रमण करते हुए उन्होने पार्श्वनाथ भगवान की एक प्रतिमा देखी, तो उसे ले आये तथा इसी स्थान पर उसे रख दिया। थोड़ी देर के वाद जव वे उसे उठाने के लिए गये तो वह मजूषा रचमात्र भी न टल सकी। दोनो वडे हैरान हुए और तेरपुर जाकर अवधिवोध नामक महामुनि से इसका कारण पूछा। मुनि ने कहा, "तुममे से यह सुवेग मरकर जन्मान्तर मे हाथी होगा। उस समय जव राजा करकण्डु वहाँ आकर मंजूषा को उखाडकर पूजा करेंगे, तव वह हाथी मर कर स्वर्ग को जायेगा। दोनो ने फिर प्रश्न किया—अच्छा, यह प्रतिमा का लयण

किसने बनाया है ? मुनि ने कहा—पूर्व समय मे विजयार्द्ध की दक्षिण श्रेणी के रथनूपुर नगर मे नील नाम के राजा थे। एक समय लड़ाई मे शत्रुओ से हार कर, जब उनकी विद्या नष्ट हो गई तब उन्होने यह लयण बनाया था, तभी उन्हे विद्या भी प्राप्त हो गयी थी और वे स्वर्गधाम को सिधारे थे। इस वृत्तान्त को सुनकर, दोनो वही दीक्षित हो गये। क्रम से अमितवेग तो ब्रह्मोत्तर स्वर्ग को गया और सुवेग मरकर हाथी हो गया। इसके बाद अमितवेग, जो देव हुआ था, एव सुवेग के जीव को, जो हाथी हुआ था, उसे समझाने के लिए आया एव कहा कि, यदि कोई आकर इस बाल्मीक (बांबी) को खोदे तो तुम सन्यास ले लेना। अत हे राजन् ! यही कारण है कि जब तुमने उस बांबी को खुदवाया तब उक्त हाथी ने सन्यास ग्रहण कर लिया। आप भी अपने पूर्व जन्म मे, एक ग्वाले थे, किन्तु जिन भगवान की पूजा के प्रताप से राजपद पाया है। यही लयण के सम्बन्ध का इतिहास है। इस प्रकार कथा कह कर नागकुमार चले गये और राजा ने हाथी को धर्म-कथा सुनाई और वह अपना शरीर छोड़ स्वर्ग-धाम को गया। फिर करकण्डु ने अपनी माता और अर्गलदेव के तीन लयण बनवाये और माता पद्मावती सहित दीक्षा ग्रहण करली। अन्त मे करकण्डु ने अपने विशिष्ट तप के प्रभाव से, सहस्रार लोक को गमन किया और दन्ति-वाहनादि भी अपने-अपने तप के बल से स्वर्गलोक गये।

अत जब, एक साधारण ग्वाला भी जिन भगवान की पूजा के प्रताप से स्वर्गाधिकारी बन गया, तब अन्य लोग, जो निष्ठा के साथ जिन भगवान की पूजा करेगे, क्यो नही स्वर्ग के अधिकारी बनेगे ? अवश्य बनेंगे।

दान

उपचारवकुडलीबवंगुणबिडलमत्त नोळ्दीयनो ।
उपमातीतने निम्म बिंबवनलंपिदर्चिसल्संपदं ॥

बिपुळानंददे निम्म रूपिन मुनींद्रगंन्नमं नीडुवं-
गपवर्ग निजदुर्गमप्पुदरिदे ? रत्नाकराधीश्वरा॥१०३॥

हे रत्नाकराधीश्वर !

दुखियो को उपचार के लिए दवा, पहनने के लिए वस्त्र और खाने के लिए भोजन देने से कौन सी वस्तु प्राप्त नही होती ? आदर्श रूप से रहने वाले भगवान् ! आपकी मूर्ति की भक्तिपूर्वक पूजा करने से सम्पत्ति प्राप्त होती है। जो मुनिश्रेष्ठ आपके रूप को धारण करता है, ऐसे मुनि को सन्तोष पूर्वक आहार देने वाले व्यक्ति को क्या मोक्ष तथा आत्मरक्षण के लिए स्थान का मिलना असाध्य है ?

ससार मे दुखियो को सभी सम्भव उपायो से सहायता करने पर व्यक्ति के विकार और उसकी कषाये कम हो जाती है। ससार मे जो कषाय-पुष्टि के लिए अपने व्यवहार को आडम्बर रूप मे परिणत करता है तथा दूसरो को दिखाने के लिए अपने को निर्दोष बताता है, वह सबसे पहले अपनी आत्मा को धोखा देता है, वह आत्मवचक है अपने तथा दूसरो के लिए खतरनाक ऐसे व्यक्ति से समाज का विशेष कल्याण नही हो सकता हैं तथा वह स्वय भी अपने को नरक का कीडा बनाता है। जो व्यक्ति धन से ममत्व दूर कर लेता है तथा अपने परिणामो मे निर्मलता ले आता है, वह दान, पूजा और परोपकार के कार्यो की ओर विशेष रूप से अग्रसर होता है।

ससार मे सबसे बड़ा पाप परिग्रह को इसलिए माना गया है कि इसके द्वारा ही सबसे बडी अशान्ति होती है। नाना प्रकार के झगडे बखेडे होते है और एक दूसरे का गला काटा जाता है। क्रूरतापूर्वक हत्याएँ भी इसी के कारण होती है। राष्ट्रो मे अशान्ति का दावानल भी इसी परिग्रह के कारण धधकता है। अत इस परिग्रह से मोह दूर करने के लिए दान देना आवश्यक है। जैनागम मे गृहस्थ के लिए स्पष्ट रूप से आदेश दिया गया है कि वह न्यायपूर्वक अपनी आजीविका का

अर्जन करे। यहाँ न्यायवृत्ति का अर्थ राज्य व्यवस्था का उल्लघन न करना तो है ही, पर साथ ही अधिक सचयवृत्ति को छोड़ना भी है। जो व्यक्ति आवश्यकता से अधिक सचय करता है वह सामाजिक दृष्टि से दण्डनीय है। ऐसे व्यक्ति को समाज से प्रारम्भ में भले ही आदर मिले, पर पीछे तो उसे घृणा ही मिलती है।

दान देने और भगवान की पूजा में धन व्यय करने से धन विषयक मोह बुद्धि हटती है। यदि उक्त दोनो वृत्तियों से धन सम्बन्धी ममत्व घटने के स्थान मे बढता ही हो तो फिर ये दोनो क्रियाएँ पापवर्धक ही मानी जायँगी, क्योकि इन दोनों क्रियाओ का कार्य तो मूर्छा को घटाने का है। यदि इनसे मूर्छा का घटाना तो अलग रहा, वह और बढे तो निश्चय ही अधर्म होगा। जो लोग ऐसा समझते है कि भगवान की पूजा करने से लक्ष्मी की प्राप्ति होती है, घर मे सभी प्रकार के सुख उत्पन्न हो जाते हैं तथा समस्त ऐहिक कामनाएँ परिपूर्ण हो जाती है, वे बिल्कुल गलत सोचते है। क्योकि प्रभु-भक्ति या पूजा किसी भी प्रकार की लौकिक सामग्री प्राप्त करने के लिए नही है। किन्तु यह तो विकार और कषायो को दूर करने में परम सहायक है।

दान देना और मन मे हर्ष विषाद के समय साम्यभाव रखना विकार और कषायो को घटाने की सर्व प्रथम सीढी है। जो व्यक्ति अनायास मोक्ष प्राप्त करना चाहता है, उसे सत्पात्रों को दान और भगवान जिनेन्द्र की पूजन सर्वदा अवश्य करनी चाहिए। एक बात यहाँ स्मरण रखने की यह है कि कषाय पुष्टि या पूँजीवादी मनोवृत्ति का आश्रय दान मे कभी नही लेना चाहिए।

जो चार प्रकार के दान है वे पुण्य के कारण है। और इस पुण्य के कारण से चक्रवर्ती, देव पद, उत्तम कुल प्राप्त होता है। अन्त में तपश्चर्या करके स्वर्ग और मोक्ष प्राप्त करने की शक्ति दान के द्वारा ही होती है। इसलिए प्रत्येक भव्य श्रावको को स्व और पर के कल्याण के लिए अर्थात् कर्म-क्षय करने की भावना रख करके ये दान हमेशा देना

चाहिए। दानो मे दया दान, क्षमा दान, नीति दान और सत्पात्र दान, इनमे सत्पात्र दान ही सर्वश्रेष्ठ माना गया है। पात्रो मे उत्तम पात्र, मध्यम पात्र और जघन्य पात्र ये तीन प्रकार के पात्र कहे गये है। इनमे मुनि उत्तम पात्र है, ऐलक मध्यम पात्र और क्षुल्लक जघन्य पात्र है। बाकी कीर्ति दान, क्षमा दान, करुणा दान ये जो दान है, ये केवल अपनी कीर्ति के लिए या जीवो का उपकार करने के लिए किये जाते है इसलिए इनको दया दान कहते हैं। अत यह पुण्योत्पादक न हो करके कीर्ति को उत्पन्न करने वाला है। इसलिए समय के अनुसार गृहस्थ को अपने धन का सदुपयोग करके इह और परलोक का साधन कर लेना चाहिए।

ध्यान और अध्ययन मे लीन रहने वाले श्री मुनिराज को हमेशा ही भक्ति पूर्वक दान देना चाहिए।

विज्ञानं क्षमे शक्तिभक्ति दये निर्लोभं दृढ़ंगूडिया--
त्मज्ञानान्वितयोगिगन्नमनलंपिदित्तवं कूडे तां—
सुज्ञानं वडेदं सुखं वडेद नोळ्पं पेर्रोने मातो स—
र्वज्ञा निम्मने कंडनिन्नुळिद्दुवे ? रत्नाकराधीश्वरा।१०४।

हे रत्नाकराधीश्वर !

विशेष ज्ञान, शान्त गुण, सामर्थ्य, भक्ति, कृपा से युक्त आशा रहित रहने वाले तथा परमात्मा मे भली भाँति लीन रहने वाले मुनि को भक्तिपूर्वक आहार देने वाला मनुष्य शीघ्र ही उत्तम ज्ञानी हो जाता है और उत्तम सुख तथा योग्यता को प्राप्त करता है। कितनी अच्छी बात है यह ! सर्वज्ञ ! वह आप ही के दर्शन मे लीन रहने वाला बन जाता है।

गृहस्थ अपना सर्वांगीण विकास गृहस्थी मे अलिप्त भाव से रहता हुआ कर सकता है। गृहस्थ के प्रमुख दैनिक कृत्यो मे दान, पूजा, स्वाध्याय और सयम को प्रधानता प्राप्त है। यों तो गृहस्थ करुणा और

ममतावश भी दान देता है। करुणा दान के समय वह पात्र और अपात्र का विचार नही करता, क्योकि उस समय उसके हृदय मे दया का समुद्र उमडा रहता है, जिसे किसी भी दुखी जीव को वह सभी सम्भव उपायों से अपनी शक्ति के अनुसार सहायता करता है। वास्तव मे सत्पात्र को दिया गया दान ही सार्थक होता है, क्योकि उससे पात्र और दाता दोनो की ही भलाई होती है।

मुनि या त्यागी उत्तम पात्र बताये गये है, उनको जो व्यक्ति आदरपूर्वक दान देता है तथा सयम को धारण करने मे सहायक शरीर के सचालन के लिए आहार प्रदान करता है, वह व्यक्ति बहुत ही प्रशसा का पात्र होता है। सत्पात्र को सम्यक् विधिपूर्वक आहार दान देने से पचाश्चर्य सम्पन्न होते है तथा भावनाओ के विशुद्ध होने से जीव को महान् पुण्य का बन्ध होता है। इस जीव का चरम लक्ष्य वीतरागता की प्राप्ति है। पर यह वीतरागता तभी मिल सकती है, जब जीव विकार और कषायो को अपने से पृथक् कर देता है। श्रेष्ठ मुनियों को आहारदान देने से अपनी आत्मा मे विशुद्धि तो आती ही है, क्योकि पदार्थों से मूर्छा दूर होती है।

जैनाचार्यो ने यतिधर्म के निर्वाह के लिए निर्ममता और स्वावलम्बन को आवश्यक माना है। यति अपनी किसी भी क्रिया को पराधीन नही रखता है, वह शरीर के अतिरिक्त ससार के समस्त पदार्थों से अपनी रागरूप प्रवृत्ति को हटा लेता है। यद्यपि शरीर के साथ सम्बन्ध रहने के कारण उसकी कतिपय प्रवृत्तियां शरीराधीन होती है तथा देखने में भी यह प्रतीत होता है कि शरीर के साथ इसका सम्बन्ध है, पर वास्तव में वह शरीर से अपने को भिन्न ही समझता है तथा व्यवहार भी भेद विज्ञान को लेकर करता है। उसकी दृष्टि मे शरीर एक जुदा द्रव्य है तथा आत्मा पृथक् द्रव्य है, इन दोनों का आपस में निश्चयत कोई सम्बन्ध नही। व्यवहार मे ये दोनो सम्बद्ध प्रतीत होते हैं तथा इन दोनों का सयोग सम्बन्ध दिखलाई पड़ता है।

गृहस्थ के जीवन की सार्थकता उपर्युक्त प्रकार से दान देने पर ही हो सकती है। दान मुनियो को तो देना ही चाहिए परन्तु अपने साधर्मी भाइयो की भी सहायता करनी चाहिए। जो धनी मानी है, उनका प्रधान कर्त्तव्य है कि वे अपने साधर्मी और सहयोगियो की भरपूर सहायता करें। यद्यपि इस प्रकार की सहायता सुदान मे परिगणित नही की जायगी फिर भी दान तो इसे भी माना जायगा। दान की प्रवृत्ति प्रशसा के लिए नही होनी चाहिए, वल्कि स्व और पर के उपकार के लिए दान देना चाहिए।

इसका भावार्थ यह है कि जो सच्चा साधु है, वह हमेशा ध्यान और अध्ययन मे लीन इहलोक और परलोक की वाछा से रहित स्व और पर कल्याण के लिए अपनी आत्मा मे रत रहता है। इसी को ससार, भोग, इन्द्रिय विषयो मे उदासीनता कहा जाता है। वे किसी भी वस्तु की इच्छा नही रखते हैं। हमेशा आत्मा के अन्दर रत रहकर शरीर, भोग-सम्बन्धी निर्ममत्व भावना रखते है। ऐसा विचारते है कि—

कृमिजालशताकीर्णे जर्जरे देहपञ्जरे ।
भुज्यमाने न भेतव्य, यतस्त्व ज्ञानविग्रह ॥

हे आत्मन् ! तुम तो ज्ञान रूप शरीर वाले हो फिर क्यो इस देहरूपी पञ्जर के नष्ट होने पर भय कर रहे हो। क्योकि यह देह पञ्जर कीडों के पुज से भरा हुआ है तथा जर्जरित है। ऐसा विचार कर महापुरुष मरण से भय नही करते है।

इस प्रकार साधु हमेशा अपने आत्मा मे मग्न रहते है। ऐसे साधु को आहार दान दे करके श्रावक अपने मनुष्य पर्याय को या धन को फलीभूत वना लेता है और यह पुण्य का वन्ध कर लेता है। वह श्रावक धन्य है।

रत्नत्रय स्वावलम्बन स्वरूप होता है—

ओडलं दंडिसुतिंद्रियंगळ पोडर्प कुंदिसुत्तं गुण—

त्रिडियुत्त मनदेळगेयं तडेयुतं तन्नात्म नोळ्ताने भा—
नुं डियुत्तं भजकर्गं मुक्ति पथमं तोरुत्तं नोवक्तिर्यि ।
पडे गेय्दा चरिपातने शिवनला रत्नाकराधीश्वरा !

हे रत्नाकराधीश्वर !

शरीर से कष्ट सहते हुए, स्पर्शन, रसना इत्यादि इन्द्रियो को जीतते हुए आत्मिक गुणो को ग्रहण करने वाला, मन के स्वेच्छाचार का निरोध करने वाला, अपनी आत्मा मे ही स्थित रहने वाला तथा रत्नत्रय स्वरूप मोक्ष मार्ग का सेवन करने वाला और दु:ख को सतोष से नष्ट करके आगे वढने वाला क्या मंगल स्वरूप नही होता ?

ससार में सहिष्णु सयमी और रत्नत्रय का आराधक ही सब प्रकार से पूज्य और वन्दनीय होता है। इस प्रकार के व्यक्ति की अपनी आवश्यकताएँ अत्यल्प रहती हैं तथा वह शरीरजनित क्रियाओ को छोड़ अन्य वाह्य क्रियाओ मे सलग्न नही होता। आत्मा के सिवा अन्य सभी वस्तुओं को पर समझता है तथा वह अपने जीवन मे पूर्ण स्वावलम्वन ले आता है। जव तक जीव स्वावलम्वन को नही अपनाता है, तभी तक वह इन्द्रिय और मन की आधीनता मे रहता है। जीवन मे स्वावलम्वन आते ही पर प्रवृत्तियाँ दूर हो जाती है

रत्नत्रय स्वावलम्वन स्वरूप ही होता है। जव यह विश्वास हृदय मे उत्पन्न हो जाय कि मैं स्वतन्त्र द्रव्य हूँ, और मेरा सम्बन्ध इन पर वस्तुओं से बिल्कुल नही है अत. मेरा प्रत्येक प्रयत्न अपने स्वरूप की प्राप्ति के लिए ही होगा। धन, दौलत, स्त्री, पुत्र, महल, मकान ये सभी पदार्थ अपने स्वरूप मे स्वतन्त्र रूप से अवस्थित है अत: मुझे अपने स्वरूप की प्राप्ति का ही प्रयत्न करना चाहिए। इस प्रकार की प्रतीति ही तो सम्यग्दर्शन की कोटि मे आती है। जव जीव का प्रयत्न इस प्रतीति को सार्थक करने के लिए आगे वढता है तथा वह स्वेच्छाचार को छोड आंशिक या पूर्ण स्वावलम्वन की ओर अग्रसर होता है तो

वह सम्यग्ज्ञान और सम्यक्चारित्र का धारक माना जाता है। वास्तव मे स्वावलम्बन का नाम ही तो रत्नत्रय है। निर्वाण मे पूर्ण स्वावलम्बन प्राप्त हो जाता है, आत्म द्रव्य अपने स्वरूप मे स्थित हो जाता है।

स्वावलम्बन प्राप्ति के लिए आचार्य ने तीन बातें बतलायी हैं— पहली चीज है सहिष्णु होना अर्थात् संयोगी पर द्रव्य को दूर करने के लिए कष्ट सहिष्णु बनना, तपश्चर्या, उपवास आदि के द्वारा अपना शोधन करना, जिससे कषाय उत्पन्न न होने पावे। सहिष्णु व्यक्ति अपने मार्ग मे कभी असफल नही होता है। जब तक जीवन मे सहन-शीलता नही आती तब तक कोई व्यक्ति किसी भी कार्य मे सफल नही हो सकता है। सहनशीलता सफलता प्राप्ति का बहुत बड़ा साधन है।

दूसरी वस्तु सयम है। सयम के द्वारा इंद्रिय और मन को वश कर विकार और कषायो से अपनी रक्षा की जाती है। सयम जीव को सब प्रकार का स्वावलम्बन का पाठ पढाता है, सयम के ही द्वारा जीव रत्नत्रय मार्ग का अवलम्बन करने मे समर्थ हो सकता है। मन, वचन और काय की प्रवृत्तियो को नियन्त्रित करना भी सयम के भीतर परि-गणित है। संयमी जीव अपने मन की चचलता को रोकता है, वचनो का प्रयोग भी व्यर्थ मे अधिक नही करता है, तथा अपनी प्रत्येक क्रिया को इस प्रकार करता है, जिससे किसी भी प्राणी को रचमात्र भी कष्ट नही होने पाता है। राग भाव सयमी के हृदय से बिल्कुल हट जाता है।

तीसरी वस्तु रत्नत्रय मार्ग का अनुसरण करना क्योकि इस मार्ग का अनुसरण करने पर ही प्राणी स्वावलम्बन का पाठ सीख सकता है तथा जीवन मे स्वावलम्बन प्राप्त कर सकता है।

काम की अग्नि को शान्त करो—

कडेगिन्नेतो भवाग्नितापवकटा ! कामग्नियं नोळ्पडा-
सिडिलं शेषन दाडेयें बडवनें कालाग्नियें श्रृंगिये ॥

तडेदांतग्गळेयं गडं मदननें पापारियें कालनें ।
मृडनें मृत्युवदें निलल्नेरेगुमे रत्नाकराधीश्वरा !

हे रत्नाकराधीश्वर !

यदि कामरूपी अग्नि के सताप को क्रूर कहा जाय तो ससार रूपी अग्नि की प्रखरता को क्या कहा जायेगा ? ससार रूपी अग्नि का सताप जब प्रतिकूल होकर व्यथित करने लग जाता है तब बिजली, शेषनाग के दांत, बडवानल, प्रलयकाल की अग्नि और तीक्ष्ण सीग वाले जन्तु भी उसको रोक रखने मे समर्थ नही हो सकते । ससार के प्राणियो को स्ववश करने वाला महान् शूरबीर मन्मथ भी क्या समर्थ हो सकता है ? यमराज, रुद्र और स्वय मृत्यु भी कुछ नही कर सकती ।

कवि ने इस श्लोक मे काम की चेष्टा को आधीन कर ससार, इन्द्रिय भोग को प्रशान्त करने को बताया है । यह काम कैसा है, इसके बारे मे एक कवि ने बताया है कि—

प्रथमे जायते चिन्ता द्वितीये दृष्टुमिच्छति ।
तृतीये दीर्घनि श्वासश्चतुर्थे ज्वर आविशेत् ॥
पचमे दह्यते गात्र पष्ठे भक्त न रोचते ।
सप्तमे च भवेत्कम्प उन्मादश्चाष्टमे भवेत् ॥
नवमे प्राणसन्देहो दशमे मरण भवेत् ।

सबसे पहले स्त्री की चिन्ता होती है, दूसरी बार फिर इच्छा होती है कि उसका स्पर्श किया जाये । तीसरे मे दीर्घ श्वास लेता है, चौथे मे ज्वर से पीडित होता है, पाँचवे मे सम्पूर्ण शरीर ज्वर के कारण तप जाता है, छटे मे अन्न खाने मे रुचि नही रहती है, सातवे मे कम्प की तीव्रता होती है, आठवें में उन्मत्त चेष्टा होती है, नवे मे प्राणो का सन्देह होता है और दसवे मे मरण हो जाता है ।

इस प्रकार जो काम के वशीभूत होता है उसका मरण शीघ्र हो

जाता है। भोगोपभोग पदार्थों की इच्छा करना वृथा है क्योंकि उनसे तृप्ति नही होती है। कवि ने कहा है कि—

> भोज भोजमपाकृता हृदय ये भोगास्त्वयानेकधा ।
> तांस्त्व कांक्षसि किं पुन पुनरहो तत्राग्निनिक्षेपिण ।
> तृप्तिस्तेपु कदाचिदस्ति तव नो तृष्णोदय विभ्रत ।
> देशे चित्रमरीचिसचयचिते वल्ली कुतो जायते ।।

यहाँ पर आचार्य ने भोगासक्त मानव की भोगो की वाछा को धिक्कारा है। इस जीव ने अनन्तकाल हो गया, चारो ही गति के भीतर भ्रमण करते हुए अनेक शरीर धारण करके उनमे अनेक प्रकार के इन्द्रियो के भोग भोगे और छोडे। उनके अनन्तकाल भोग लेने से भी जब एक भी इन्द्रिय तृप्त नही हुई तब अब भोगों के भोगने मे इन्द्रियाँ कैसे तृप्त होगी ? वास्तव मे जैसे अग्नि मे ईधन डालने से अग्नि बढती चली जाती है वैसे इन्द्रियो के भोगो के भोगने से तृष्णा की आग और बढती चली जाती है। तृष्णावान प्राणी कितना भी भोग करे परन्तु उसको इन भोगो से कभी भी तृप्ति नही हो सकी है, जैसे अग्नि मे या धूप से तपे हुए जलते स्थान मे कोई भी बेल या वृक्ष नहीं उग सकता है। इसलिए बुद्धिमानो को बारबार भोगो को भोग कर छोड़े हुए भोगो की फिर इच्छा न करनी चाहिए। क्योंकि जो तृष्णा रूपी रोग भोगो के भोगने रूप औषधि सेवन से मिट जावे तब तो भोग को चाहना मिलाना व भोगना उचित है परन्तु जब भोगो के कारण तृष्णा का रोग और अधिक बढ जावे तब भोगो की दवाई मिथ्या है यह समझ कर इस दवा का राग छोड देना चाहिए। वह सच्ची दवा ढूंढनी चाहिए जिससे तृष्णा का रोग मिट जावे। वह दवा एक शान्त रसमय निज आत्मा का ध्यान है जिससे स्वाधीन आनन्द जितना मिलता जाता है उतना उतना ही विषय भोगो का राग घटता जाता है। स्वाधीन सुख के विलास मे ही विषय भोग की वाछा मिट

जाती है। अतएव इद्रिय सुख की आशा छोड़कर अतीन्द्रिय सुख की प्राप्ति का उद्यम करना चाहिए।

स्वामी अमितगति सुभाषितरत्नसन्दोह मे कहते है :—

सौख्यं यदत्र विजितेन्द्रियशत्रुदर्प:
प्राप्नोति पापरहित विगतान्तरायम्।
स्वस्थ तदात्मकमनात्मधिया विलभ्यं,
कि तद्दुरन्तविषयानलतप्तचित्त. ॥

जिस महात्मा ने इन्द्रिय रूपी शत्रु के घमण्ड को मर्दन कर दिया है वह जैसा पाप रहित तथा अपने आत्मा मे ही स्थित अनात्मज्ञानी जीवो से न अनुभव करने योग्य आत्मीक सुख को पाता है वैसे सुख को वह मनुष्य कदापि नही पा सकता है जिसका चित्त भयानक विषयो की अग्नि से जलता रहता है।

काम-विषय-वासना रूपी अग्नि बड़ी भयंकर होती है, यह मनुष्य को बेचैन कर देती है। एक क्षण के लिए भी मनुष्य को शान्ति नहीं मिलती। मनुष्य का हृदय दिन रात परेशान रहता है। काम का आवेग आने पर खाना पीना, सोना उठना बैठना आदि सभी बुरे मालूम पड़ते हैं। मन मे नाना प्रकार के संकल्प विकल्प उत्पन्न होते हैं, एक क्षण के लिए भी शान्ति नही मिलती। जिस प्रकार भयकर कामाग्नि किसी भी पदार्थ को तुरन्त जला कर रख देती है, उसी प्रकार यह अग्नि भी जीव के स्वाभाविक गुणो को भस्म कर देती है।

वासनाएँ जितनी अधिक बढती जाती है, जीव को उतनी ही अधिक अशान्ति का सामना करना पडता है। वास्तव मे शान्ति त्याग रूप मे ही मिलती है, क्योकि पर वस्तुओं की ममता जितने अंश मे रहती है, अशान्ति जीव को उतने ही अश मे अधिक मिलती है। जब त्याग की ओर प्रवृत्ति हो जाती है तो कोई भी व्यक्ति स्वावलम्बन की ओर बढने लगता है। धन और कामिनी जीव को स्वावलम्बी बनने मे सबसे बड़े
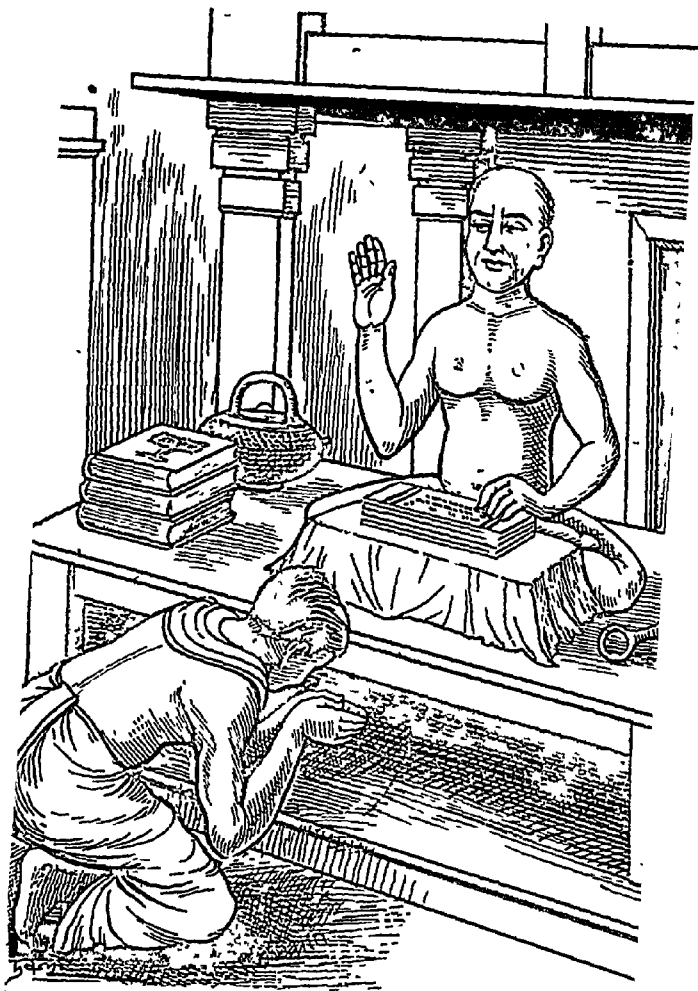
एक भक्त श्रावक मुनि-वन्दना करता हुआ

बाधक हैं। स्वावलम्बी जीव की भौतिक आकांक्षाएँ और विकारात्मक वासनाएँ समाप्त-प्राय हो जाती हैं। आचार्य ने उपर्युक्त पद्य मे काम रूपी अग्नि की भयंकरता का चित्रण किया है। यह एक भयंकर रोग है, जिसका इलाज संयम और त्याग से ही हो सकता है। आत्मा की अपार शक्ति का विकास भी इस मदन ज्वर के दूर करने पर ही होता है। सांसारिक लुभावनी वस्तुओ मे सबसे प्रमुख स्थान नारी का इसी-लिए माना गया है कि वह राग-वृद्धि का साधन है तथा इसी के निमित्त को लेकर कामज्वर की वृद्धि होती है।

सुख और शान्ति तभी प्राप्त हो सकती हैं, जब जीव अपने यथार्थ स्वरूप को अवगत कर ले। पराधीनता भी अशान्ति का दूसरा नाम है, तथा इसकी उत्पत्ति भी विकार और कषायो से होती है। जब तक जीव विकारग्रस्त रहता है, अपने चारो ओर अशान्ति ही अशान्ति देखता है। उसे सर्वत्र सघर्ष और द्वन्द्व ही दिखलाई पड़ते है, किन्तु जब वह विकारों से दूर हो जाता है तो उसे एक भी द्वन्द्व या संघर्ष का सामना नही करना पड़ता है। विकारो की प्रचुरता ही जीव को राग और द्वेष-बुद्धि की ओर अग्रसर करती है, जिससे वह शत्रुता और मित्रता की कल्पना करता है। अतएव संक्षेप मे जीव का हित विकारों को दूर करने में ही है। आहार, भय, मैथुन और परिग्रह की संज्ञाएँ-वांछाएँ भी विकारो के कारण ही उत्पन्न होती है। विकारों को शान्त करने के लिए ही जीव, उक्त चारो सज्ञाओ का सेवन करता है, वस्तुतः विकार रहित जीव के लिए ये संज्ञाएँ बाधक नही होती हैं। जीव का पुरुषार्थ इन संज्ञाओं को छोडने के लिए ही होता है, क्योकि इनके सेवन करने की प्रवृत्ति अनि-ष्टकर ही है।

गुरु कौन हो सकता है ?

**श्रुतमं नोळ्प तदर्थमं तिळिव तन्मयदियोळ्पोप सु-
व्रतमंपालिप काममं तुळिव मायाजाड्यमं झाडिपु-**

स्नतकारुण्यदोळाळ्व जोवहितमं पेळ्वातने सद्गुरु ।
श्रुतयोगीश्वरनिर्ङ नाळिन शिवं रत्नाकराधीश्वरा !
॥१०७॥

हे रत्नाकराधीश्वर !

शास्त्र पढने वाला, शास्त्र का अर्थ जानने वाला, शास्त्र के अनुसार चलने वाला, अहिंसा आदि श्रेष्ठ व्रतो का पालन करने वाला, भोग की इच्छा पर विजय प्राप्त करने वाला, अज्ञान रूपी जड़ता को दूर करने वाला, दयारूपी रस मे अत्यधिक मग्न रहने वाला, प्राणियो के हित की बातें समझाने वाला यति ही मेरा गुरु है। वह आज "श्रुतयोगीश्वर" है और कल मगलात्मा अर्थात् मोक्षात्मा योगीश्वर ही वन्दनीय है।

ग्रन्थकार ने इस श्लोक में विवेचन किया है कि गुरु कौन हो सकता है ? उत्तर मे इस प्रकार बतलाया है कि जिनके हृदय के अन्दर दया, सत्यता, अनुकम्पा, ससार के भोग से विरक्त, सम्पूर्ण प्राणियो पर समान भाव अपने आत्मा में रखकर भव्य जीवों को हमेशा कल्याण का मार्ग बताने वाला और आप भी उसी मार्ग पर रत रहने वाला साधु हो सकता है और वही गुरु हो सकता है। अमितगति आचार्य ने भी गुरु के बारे मे कहा है कि जो वीतरागी है, निर्मोही है, आत्मा मे हमेशा रत रहता है वह ही कर्म का क्षय करके अखण्ड लक्ष्मी को प्राप्त कर सकता है।

अभ्यस्ताक्षकषायवैरिविजया विध्वस्तलोकक्रियाः ।
बाह्याभ्यंतरसंगमांशविमुखाः कृत्वात्मवश्यं मनः ॥
ये श्रेष्ठं भवभोगदेहविषयं वैराग्यमध्यासते ।
ते गच्छन्ति शिवालयं विकलिला बुद्ध्या समाधिं बुधाः ॥

इस श्लोक में आचार्य ने बता दिया है कि मोक्ष का उपाय अभेद रत्नत्रय

या समाधि या स्वात्मानुभव है या शुक्लध्यान है। जब तक शुक्लध्यान की अग्नि नही जलती है तब तक न मोह का नाश होता है और न घातिया कर्मों का नाश होता है और न यह अघातिया कर्मों से छूटकर सिद्ध पद पा सकता है। उस शुक्लध्यान की सिद्धि उसी महात्मा को हो सकती है जो शरीर के खण्ड-खण्ड किये जाने पर भी ममता न लावे व वेदना से त्रसित न हो। जिसकी ममता विल्कुल शरीर से हट गई हो। जो सर्दी-गर्मी डास मच्छर की वाधाएँ सह सके। इसलिए साधु को वह सब कुछ वस्त्र त्याग देना पड़ता है जो उसने स्वाभाविक शरीर की अवस्था को ढकने के लिए धारण कर रक्खे थे। यहाँ पर आचार्य ने मुक्ति के योग्य जो पात्र हो सकते है उन साधुओ का वर्णन किया है। पहली जरूरी बात तो यह बताई है कि उन्होने इन्द्रियो की इच्छाओ को जीतने का व क्रोधादि कषायो के दमन का भले प्रकार अभ्यास कर लिया हो, क्योकि ये इन्द्रियाँ ही प्राणी को कुमार्ग मे डाल देती हैं व कर्मो का वन्ध कषायो से ही होता है। जिस सम्यग्दृष्टि ने आत्मा के वीतराग विज्ञानमय स्वभाव का निश्चय कर लिया है वही आत्मिक सुख के मुकावले मे इन्द्रिय सुख को तुच्छ जानता है, इसलिए वही इन्द्रियो का जीतने वाला हो सकता है। जिसने अपने आत्मा का स्वभाव वीतराग है ऐसा समझ लिया है, वही कषायो को जीतने का पुरुषार्थ करेगा। दूसरी वात साधु मे यह जरूरी है कि उसने सब लोक व्यवहार छोड दिये हों। अनेक प्रकार के व्यापार आरम्भ करके पैसा कमाना, मकान मठ बनवाना, खेती करना, शरीर रक्षार्थ सामान जोडना, रसोई वनाना-वनवाना, व्याह शादी के व जीवन मरण के विकल्पो मे पड़ना व ग्रहस्थो के रोग, शोक आदि कष्ट मिटाने को यन्त्र मन्त्रादि करना आदि कार्यो को आत्मोन्नति मे विघ्न-कारक व मन को आकुलित करने वाले जानकर छोड़ दिया हो। तथा आरम्भ के कारणभूत जो दश प्रकार के बाहरी परिग्रह है उनका भी जिसने त्याग कर दिया हो। अर्थात् जिसके स्वामित्व मे न खेत हो, न

मकान हो, न चाँदी हो न सोना हो, न गौवंश हो, न अन्नादि हो, न दासी हो, न दास हो, न कपड़े हो न वर्तन हो। तथा जिसने मोहजनित सर्व परिणतियो से भी ममता छोड दी हो अर्थात् १४ प्रकार की अन्तरग परिग्रह भी न रखता हो। अर्थात् जिसने मिथ्यात्व, क्रोध मान माया लोभ, हास्य, रति, अरति, शोक, भय, जुगुप्सा, स्त्रीवेद, पुंवेद, नपुंसकवेद इन १४ बातो से ममता हटा ली हो। तथा जिसने अपना मन अपने आधीन किया हो, जिसका मन चचल न हो, ऐसा वश में हो कि साधु चाहें तब उसे ध्यान व स्वाध्याय मे लगाया जा सके तथा मन मे यह वैराग्य हो कि ससार असार है, मोक्ष ही सार है। इन्द्रियो के भोग क्षणभगुर व अतृप्तिकारक है व आत्म सुख ही सच्चा भोग है, शरीर नाशवन्त व मलीन है, आत्मा अविनाशी व पवित्र है। ऐसे ही साधु जब स्वात्मानुभव का अभ्यास करते-करते शुक्लध्यान पर पहुँचते है तब कर्मों का सहार कर मुक्त हो जाते है।

आत्मिक उत्थान या स्वतन्त्रता प्राप्ति के अनेक साधनों में से शास्त्र स्वाध्याय करना, महाव्रतो को पालना, पूर्ण संयम का धारण करना, हित मित प्रिय वचन बोलना, मन वचन काय की स्वच्छन्द प्रवृत्तियो को रोकना एव आचार और व्यवहार को पूर्ण अहिंसक बनाना प्रधान है। कोई भी व्यक्ति उपर्युक्त साधनो का उपयोग कर अपना कल्याण कर सकता है तथा अपने विकास को प्राप्त कर सकता है। शास्त्र स्वाध्याय से अज्ञान की निवृत्ति होती है तथा सद्विवेक जाग्रत होता है, जिससे मनुष्य को सदाचार की प्रेरणा निरन्तर मिलती रहती है।

एक बात यह भी है कि जितने समय तक स्वाध्याय किया जाता है, उतने काल तक जीव अपने स्वभाव मे स्थित रहता है तथा परभावो से पृथक् रहता हुआ अपने ज्ञानस्वरूप का आस्वादन करता है, जिससे पर प्रवृत्ति कम हो जाने से जीव को आत्मानन्द की प्राप्ति होती है। इस आत्मानन्द मे रमण करने से आत्मा मे निर्मलता तो आती ही है, पर अशुभ प्रवृत्ति के रुक जाने से आगामी कर्मो का बन्धन भी दृढ नही

होता, जिससे वह जीव निरन्तर विकास करता हुआ किसी दिन अपने निजी गुणो को प्राप्त कर ही लेता है। स्वाध्याय करना प्रत्येक दृष्टि से मानवमात्र के लिए आवश्यक है। परन्तु स्वाध्याय काल मे इस बात का ध्यान रखना आवश्यक है कि स्वाध्याय करते समय विकार और वासनाओ को हृदय मे स्थान न मिले। जीव अपने उत्थान को प्रेरणा ज्ञानार्जन से प्राप्त करता रहे।

महाव्रतो का पालन करने से व्यक्ति अपनी पूर्ण स्वतन्त्रता की ओर बढता है। हिंसा, झूठ, चोरी, कुशील और परिग्रह ये पाँच पाप जो व्यक्ति और समाज दोनो के लिए महान् अनर्थकारी है, जिनके कारण उत्थान-मार्ग मे बाधाएँ आती है, जीव की निर्मलता प्रच्छन्न होती है, आदि दुर्गुण व्रतो के पालन करने से दूर हो जाते है। मन, वचन और शरीर की शुद्धि इन व्रतो से ही हो सकती है। व्रती जीव मन मे घृणित बातो को स्थान नही देता है तथा घृणित वचनो का भी उपयोग नही करता है। उसका हृदय इतना पवित्र हो जाता है जिससे विकार उसके पास भी फटकने नही पाते है। वह अविकारी, निर्दोष और स्वात्मरत हो जाता है।

सयम को धारण करने के कारण साधु का जीवन पूर्ण स्वतन्त्र हो जाता है। वह जमीन शोधकर अपने उपकरणो को रखता है, भूमि देखकर चलता है और शरीर धारण के लिए निर्दोष भोजन लेता है। इस प्रकार अपने आचरण को शुद्ध रखने से साधु का जीवन निर्दोष हो जाता है। विकार और कषाये क्षीण हो जाती है तथा उसका व्यक्तित्व प्रभावक और स्वावलम्बी बन जाता है। ज्ञान, ध्यान और आत्मशोधन ही उसके जीवन के प्रधान अग होते हैं, अत वह सर्वथा पूज्य होता है।

दूसरे के सुख-दु ख को अपना सुख-दु ख मानने वाला ही मेरा गुरु है—

परसंतोषमे सौख्यमेव परदुःखं तन्न नोववें तां ।
परनेंबंदमनितुटेंब परलोकं तन्न नाडेंब त—
त्परमज्ञानिजगद्गुरु' देवेंद्रकीर्तिव्रती—
श्वरनातं पेरनल्तु नीने पेळ्वें ? रत्नाकराधीश्वरा !

हे रत्नाकराधीश्वर !

दूसरे के दुःख को अपना दुःख, दूसरे का आनन्द अपना आनन्द, दूसरे का सुख अपना सुख, अपने को शरीर से अलग मानने वाला तथा परलोक को अपना देश कहने वाला इस लोक का गुरु तथा उत्कृष्ट ज्ञानी है। वही मेरा भी गुरु है। वह ज्ञानी देवेन्द्रकीर्ति मुनीश्वर है, अधिक क्या कहा जाय।

जो व्यक्ति प्रशम, यम, समाधि, ध्यान, विनय, भेदविज्ञान, और समताभाव को प्राप्त होते है, वे संसार मे महान् है तथा पूज्य है। ऐसे व्यक्ति ससार मे बहुत थोड़े ही होते है, क्योकि उक्त गुणों के धारण करने से आत्मा का पूरा विकास होता है। प्रशम गुण के आ जाने से जीव कषाय भावो से रहित हो जाता है। राग और द्वेष जो कि संसार मे सबसे बडे शत्रु थे, जिनके कारण इस जीव को नाना प्रकार की इष्टानिष्ट कल्पनाएँ होती रहती थी, जिनसे संसार के पदार्थो को सुख-मय समझता था, वे सब धराशायी हो जाते हैं। प्रशमगुण आत्मा को निर्मल बनाता है, चित्त के विकारो को दूर करता है और मन को समस्त विकल्पो से रहित बनाता है। रागभाव ही इस जीव के लिए सबसे बडा बाधक है। ज्ञानार्णव में श्री शुभचन्द्राचार्य ने कहा है—

स्वतत्त्वानुगतं चेतः करोति यदि सयमी ।
रागादयस्तथाप्येते क्षिपन्ति भ्रमसागरे ॥
आत्माधीनमपि स्वान्त सद्यो रागैः कलंक्यते ।
अस्ततन्द्रैरतः पूर्वमत्र यत्नो विधीयताम् ॥

अयत्नेनापि जायन्ते चित्तभूमौ शरीरिणाम् ।
रागादय. स्वभावोत्थज्ञानराज्याङ्गघातका. ।।
इन्द्रियार्थनपाकृत्य स्वतत्त्वमवलम्बते ।
यदि योगी तथाप्येते छलयन्ति मुहुर्मन ।।

नयमी मुनि निजरूप का अनुभव भी कर लेता है, पर रागादि भावो के आ जाने से वह पुनः भ्रम मे पड़ जाता है । अपने आधीन किया गया मन भी रागादि भावो के उत्पन्न हो जाने से तत्काल कलकित हो जाता है, अत. सबसे प्रथम मुनि को प्रमाद रहित होकर रागादि भावो को दूर करने का प्रयत्न करना चाहिए । जीव के स्वाभाविक ज्ञान, दर्शन आदि गुणो को घातने वाले रागादि भाव चित्त रूपी भूमि मे अपने आप उत्पन्न हो जाते है, जिससे जीव का महान् अकल्याण होता है । इन्द्रियों के विषयो के रोकने पर तथा निज रूप मे रमण करने पर भी रागादिभाव निरन्तर उत्पन्न होते हैं, जिससे जीव विकार-ग्रस्त होता रहता है ।

प्रशम गुण जीव की इस विकृत अवस्था को दूर करता है तथा रागादि भावो को पृथक् कर इस जीव को शुद्ध अवस्था मे ला उपस्थित करता है । त्याग वृत्ति का उत्पन्न होना भी आवश्यक है, बिना त्याग वृत्ति के जाग्रत हुए व्यक्ति अपना कल्याण नही कर सकता है ।

समाधि—आत्मस्वरूप मे रमण करना भी मुनि या साधु के लिए परमावश्यक है, इससे जीव अपने निजी रूप को प्राप्त कर लेता है । ध्यान और विनय भी आत्मशुद्धि मे सहायक है । इनसे जीव समताभाव को प्राप्त होता है । राग-द्वेष का अभाव इसी समता के द्वारा होता है ।

भेद विज्ञान—अपना और पर द्रव्य के सम्बन्ध तथा स्वरूप का ज्ञान करना तथा अनुभव मे लाना स्वावलम्बन प्राप्ति का एक साधन है । भेदविज्ञानी जीव अपने स्वरूप को जानकर उसमें लीन होने का प्रयत्न करता है । अत. जो मुनि या योगी उक्त गुणो का धारी है, वह अवश्य पूज्य है ।

व्यवहारं व्यवसायमोकगमिवं माडेवरं माडे मे—
च्चुवरं माळ्परनेल्लियु पडेयळु दुरोळिनन्नंते मो—
क्षवनोंदं नेगळेवरं नेगळे हो लेसेंवरं नच्चि मा—
ळ्पवरं निन्नवरल्लदेल्लि पडियें रत्नाकराधीश्वरा !

हे रत्नाकराधीश्वर !

कलह, आरम्भ, सभा इत्यादि काम को करो ऐसा कहने वाले को, करने से मानने वाले को और स्वयं करने वाले को सब जगह आनन्द के साथ कष्ट प्राप्त होता है। पर मोक्ष—साधन जैसे कार्य के लिए परामर्श देने वाला, यह कार्य अच्छा है ऐसा विश्वास दिलाने वाला और विश्वास रखकर करने वाला आपके सिवा अन्य कोई मुझे प्राप्त नही हुआ। आप ही जीवों को हितकारक उपदेश देने वाले है।

सासारिक झगडे, कलह और विषाद इस जीव को हितकारी नही हो सकते। यद्यपि प्रारम्भ मे यह इन कार्यो मे आनन्द का अनुभव करता है और अपने को सुखी बनाने का उपक्रम करता है, परन्तु पीछे ये सारी चीजें कष्टप्रद होती है। जो व्यक्ति इनका उपदेश देता है, वह भी आनन्द के स्थान मे कष्ट का अनुभव करता है। राग-द्वेष और मोह के कारण ही इस जीव को अनेक प्रकार के कष्ट होते है तथा वह अपने को बड़ा तथा अन्य को छोटा समझता है जिसके फलस्वरूप कलह और विषाद आरम्भ होते है। इस मोह की महिमा भी विचित्र है, यह सर्वत्र अपना प्रभाव फैला कर जीव को कष्ट देता है। मोह से ही वस्तु प्रिय लगती है तथा मोह के दूर हो जाने पर उसमे रस नही आता है। मोह और विकार ही तो इसकी पराधीनता के कारण है।

मोक्ष के साधन सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान और सम्यक्चारित्र है। इनका उपदेशक और आचरण करने वाला दोनो ही जीवन के लिए

अनुकरणीय है। जीव का वास्तविक ध्येय तो मोक्ष को प्राप्त करना ही है, इसके आचरण करने मे भले ही कुछ कठिनाई जीव को प्रतीत हो, पर वास्तव मे यही जीव के लिए शाश्वत, नित्य और प्राप्य है। इधर उधर जीव इसलिए भटकता है कि वह भ्रमवश अन्य को अपना समझता है। यदि इसे वास्तविकता का ज्ञान हो जाय तो फिर वह इधर-उधर भटके नही। कविवर बनारसीदास ने जीव की इसी पर वस्तु का वर्णन करते हुए कहा है कि—

जब लगु जीव शुद्ध वस्तु को विचारे ध्यावै,
तब लगु भोगसो उदासी सरवग है।
भोग मे मगन तब ज्ञान की जगन नाहि,
भोग अभिलाप की दशा मिथ्यात अग है।
ताते विपै भोग में मगन सो मिथ्याति जीव,
भोग सो उदासि सौ समकिति अभग है।
ऐसी जानि भोगसो उदासि ह्वै मुगति सावै,
यहै मन चग तो कठोत माहि गग है॥

जब तक जीव शुद्ध वस्तु का विचार करता है, ध्यान करता है, तब तक वह विषय भोगो से विरक्त रहता है। जब जीव विषय भोगो मे लग जाता है, तब ज्ञान की दशा नही रहती है विपयाभिलाषा ही तो मिथ्यात्व का अग है। अत विषय भोगो मे रत रहना मिथ्यात्व है और विपयभोगो से विरक्त होना सम्यक्त्व है। क्योकि जीव के लिए पर वस्तु विषय भोग है, जो इनमे रत रहता है वह पर को अपना समझता है, अत भ्रमबुद्धि होने के कारण मिथ्यात्वी है। विषय भोगो से उदास होने पर भी मोक्ष की प्राप्ति हो सकती है। विषय चाह इस जीव को अपने स्वरूप से च्युत कराती है, अत. इसका त्याग करना आवश्यक है। जाति, कुल, आचार ये सब धर्म नही है, धर्म तो जीव का स्वभाव ही है। जब तक जीव अपने स्वभाव मे रमण करता है,

धर्मात्मा कहलाता है, स्वभाव से च्युत होने पर वह धर्महीन हो जाता है। अन्तर्वृत्ति जीव की इसलिए धर्म के निकट है कि, वह जीव के स्वभाव रूप पडती है। अतः अपने स्वरूप मे लीन होने का प्रयत्न ही सब कुछ है।

मनुष्य पर्याय को व्यर्थ मत खोओ—

विंध्या कुक्कुटनोंदु संक्रमणमं पोर्देल्लिं मेय्‌वण्णमं।
वंध्यं माडदे माडिकोळ्वदु गडा योगीश्वरर्निच्चलुं॥
संध्याकालमनासेवट्टदरोळीर्याशुद्धियिंस्तोत्र जा—
प्यं ध्यानंगळ माडे सिद्धियरिदे रत्नाकराधीश्वरा॥११०

हे रत्नाकराधीश्वर !

जगल की मुर्गियाँ जिस प्रकार मकर सक्रान्ति के समय को व्यर्थ व्यतीत न कर अपने शारीरिक वर्ण का परिवर्तन कर लेती हैं, उसी प्रकार मुनीश्वर त्रिकाल सन्ध्या समय ईर्यापथ शुद्धि से स्तोत्र, जप तथा ध्यानादि प्रक्रियाओ से परमात्म स्थिति को प्राप्त कर लेते है। यह उनके लिए असाध्य नही है।

राग-द्वेष, विषयभोगाकांक्षा, स्त्रीपुत्रादि के साथ प्रेम ये सब जीव के दोष हैं, क्योकि इनके होने से मनुष्य नित्य सुख को प्राप्त नही कर सकता है। उपर्युक्त दोप आकुलता, अज्ञान और बुद्धिविपर्यास उत्पन्न करते है, जिससे इस जीव को तनिक भी चैन नही मिलती है।

शास्त्रो मे गुण उसी को माना गया है जो साक्षात् या परम्परया वास्तविक शान्ति को देता है, जिससे जीव अपने निज स्वतन्त्र रूप को प्राप्त करता है। आत्मज्ञान, दर्शन, सुख, वीर्य आदि गुणो के प्रादुर्भूत होने से सांसारिक जंजाल से आत्मा विरत हो जाती है। जो माया, मोह, आकुलता, और दु:ख को बढ़ाने वाले थे, उनसे यह जीव अलग हो जाता है। साधु या मुनीश्वर भी साधारण व्यक्ति नही होते, ये

अपने पुरुषार्थ द्वारा तपश्चरण की ओर प्रवृत्त होते है तथा त्रिकाल सामायिक, आत्मचिन्तन आदि के द्वारा अपनी कर्मकालिमा को हटा देते है। तपश्चर्या करने से ही शरीर से मोह छूटता है और आत्मतत्व की पहचान होती है। कायक्लेशादि द्वारा जब शरीर की शक्ति क्षीण हो जाती है तो विकार उत्पन्न नही होते और न दुष्ट भावनाएँ ही उत्पन्न होती हैं। रसों का सेवन न करने से इन्द्रियो की शक्ति भी क्षीण हो जाती है, क्योकि इन्द्रियो को रससेवन से ही बल मिलता है, जिससे वे विषयो मे प्रवृत्ति करती है।

आत्मचिन्तन से मन पवित्र हो जाता है, गन्दे और बुरे विचार रुक जाते है तथा धीरे-धीरे ज्ञानानन्दमय स्वभाव की प्राप्ति हो जाती है। विषयाधीन रहने वाले मन और शरीर स्वतन्त्र हो जाते है। विषय वास्तव मे व्याध के समान हैं, जैसे व्याध अपने जाल मे पक्षियो को फसा लेता है और उन्हे पराधीन कर नाना प्रकार से कष्ट देता है, इसी प्रकार विषय भी अपने चगुल मे जीवो को फसाते है, उन्हे पराधीन बनाते हैं तथा सन्ताप, वेदना और नाना प्रकार की अशान्ति उत्पन्न करते है।

सजग प्राणी सर्वदा अपनी आत्मालोचना और तपश्चरण द्वारा अनादि काल से चली आयी कर्मपरम्परा को दूर कर देते है, क्योकि क्रोध, मान, मायादि कषाय इस तप के द्वारा ही भस्म होते है। विकार और कषाय ही तो ससार परिभ्रमण के कारण है। जब तक ये लगे रहते हैं, जीव दु ख उठाता रहता है। इनको वश करना या जीतना तपश्चरण से ही सम्भव है। अनशन, ऊनोदर, व्रतपरिसख्यान, रसपरित्याग, कायक्लेश, विविक्तशय्यासन आदि द्वादश तपो द्वारा इन्द्रिया और मन वशीभूत हो जाते है, जिससे विषय वासना छूट जाती है तथा विकारो और कषायो का धीरे-धीरे बीज भी नष्ट हो जाता है। विषय वासना के न होने से ज्ञानाभ्यास, विषय व्याकुलता हटने से शान्ति, अनशनादि तपो के करने से शरीर से ममत्वबुद्धि का त्याग तथा स्व की पहिचान, त्रिकाल सामायिक करने से आत्मानुभूति, ईर्यापथ शुद्धि के

पालने से समताबुद्धि एव मन-वचन-काय के आधीन करने से विश्व-बन्धुत्व तथा स्वावलम्बन की प्रवृत्ति होती है। अत योगीश्वर अपने आत्मकल्याण मे प्रवृत्त होकर निर्वाण को प्राप्त कर लेता है। वह इस मनुष्य जीवन को व्यर्थ नही खोता है।

इस श्लोक का समुदायार्थ इस प्रकार है—गुरु महाराज शिष्य को लक्ष्य कर उपदेश देते है, कि असख्यवर्ष नयुत पल्योपम एव सागरोपम स्वरूप हो जाते है। इतनी विशिष्ट आयु ज्ञान एव क्रियायुक्त मुनि की देवलोक मे होती है, तथा काम भी वहाँ सर्वोत्कृष्ट होते है। इस बात को जिनेश्वर की आज्ञा का पालन करने वाले जानते है।

अज्ञानी प्राणी स्वल्प आयु सपन्न इस मनुष्य भव मे तुच्छ मनुष्य पर्याय के सुखो मे लोलुप बनकर धर्मक्रिया का आचरण नही करते हुए उस स्थिति-आयु को और उन कामों-सुखों को हार जाते है। अर्थात् देवस्थिति से और देव सुखों से वे विहीन बन जाते है। इसीलिए सूत्रकार ने ऐसे प्राणियो को दुर्मेध कहा है।

दृष्टान्त और दृष्टान्त की योजना इस प्रकार जाननी चाहिए—मनुष्य आयु और मनुष्य के सुख अति स्वल्प होने से काकिणी एव आम्र फल जैसे है। देवो की आयु और वहाँ के सुख अतिप्रभूत होने से सहस्र दीनार एवं राज्य तुल्य है, इसलिए जैसे दरिद्री ने एक काकिणी के निमित्त हजारो दीनारो को, और आम्रफल के लिए राजा ने अपने राज्य को खो दिया, इसी तरह ये दुर्मेध-दुर्बुद्धि व्यक्ति भी अल्पतर मनुष्यायु और अल्पतर सुख के निमित्त प्रभूत देवायु एव उनके सुखो को हार जाते है।

ससार मे इस दृष्टान्त के अनुसार तीन प्रकार के प्राणी है। उनमे एक प्राणी ऐसे है जो मूलधन-मनुष्य भव से लाभ देवगति की प्राप्ति कर लेते है। एक ऐसे है जो अपने मूल की रक्षा करते है—पुन मनुष्य भव प्राप्त करते है। कितनेक ऐसे है जो अपने मूलधन मनुष्य भव को भी नष्ट कर हार कर नरक तिर्यच गति उपजाते है।

अस्ताद्रि स्थकदल्लि कंडुरविय़ं ताराळियंकन्वितं ।
निस्तेजक्केडेयाद तारेगळकंडकदियं काण्विनं ,।
विस्तारंगिडे मेय्नेळलमगुळे विस्तारक्के तोर्पन्नेग ।।
सुस्तोत्रं गेये निम्म काण्वुदरिदे रत्नाकराधीश्वरा !

हे रत्नाकराधीश्वर !

अस्ताचल के पीछे जाते हुए सूर्य के समय से तारे निकलने तक, तारो के निकलने से तारो के निस्तेज होने तक अर्थात् सूर्योदय तक और सूर्योदय से सूर्यास्त तक जो आपकी भक्ति पूर्वक स्तुति करते है, क्या वे आपको देखने मे असमर्थ रहेगे ?

यह ससार परिवर्तनशील है, इसमे सभी पदार्थ प्रतिक्षण अपने रूप को वदलते रहते हैं । प्रात काल जो अमनचैन के साथ अपने धवल प्रासाद मे निवास करता है, सन्ध्या समय वही श्मशान भूमि मे देखा जाता है । धन की अवस्था भी यही है । आज जो धनिक दिखलायी पडता है, कल एकाएक वही निर्धन हो जाता है । प्रात काल जहाँ मागलिक गायन होते देखे जाते है, सन्ध्या समय वही पर रोदन होता दिखलाई पडता है । अत इस प्रकार के परिवर्तनशील संसार मे जीव को धर्म सेवन का सदा ध्यान रखना चाहिए । सुप्रभाचार्य ने अपने वैराग्यसार-प्राकृत दोहा वन्ध मे ससार की इस स्थिति का सुन्दर विश्लेषण किया है—

सुप्पउ भणइ रे धम्मियहु मा खसहु धम्मणियाणि ।
जे सूणामि धवल हरिते अथवण मसाणि ।।

हे धर्मिणो लोका जिनधर्मात् दशविधधर्मात् मा खसहु मा चलन्तु, अपरमिथ्यामार्गे मा पतन्तु तथा मरणपर्यन्तमपि जिनधर्ममार्गात् मा चलन्तु, कुत अत्र ससारे ये लोका सूर्योदये धवलगृहे तिष्ठन्ति ते लोका· अस्तगते सूर्ये श्मशाने दृश्यन्ते लोकैरिति शेप ।।

त्रिकाल शुद्धात्मा की स्तुति करने से आत्मिक गुणो की प्राप्ति होती है । आत्मा अपने स्वरूप को अवगत कर स्वावलम्बन की ओर प्रवृत्त

होता है। भगवान जिनेन्द्र की स्तुति मे प्रवृत्त होने से तत्काल शान्ति की प्राप्ति होती है। यद्यपि प्रारम्भ मे अल्प सुख ही होता है, पर परिपाक अवस्था मे इससे पूर्ण सुख की प्राप्ति हो सकती है। भगवच्चरणो का ध्यान और अपनी शुद्धावस्था का चिन्तन ये दोनो एक ही वस्तु है। प्रभु के चरणो का ध्यान करने से अपनी अवस्था की स्मृति आती है, बहुत समय तक प्रभु चरणो को देखने से कर्मकलक नष्ट हो जाते हैं। आत्मा धीरे-धीरे परमानन्द की ओर बढता है। शुद्धात्मा का ध्यान अधिक काल तक नही किया जा सकता है, अत. तीर्थंकर भगवान की मूर्ति के समक्ष बैठकर ध्यान करने से स्थिरता आती है। प्रभु के गुणो का स्मरण और वर्णन करने से जीव को अपने शुद्ध स्वरूप की प्राप्ति होने मे विलम्ब नही होता है।

अभिप्राय यह है कि यह आत्मा ससारावस्था मे जीवात्मा कही जाती है, किन्तु अन्तरग तथा बाह्यस्वरूप द्रव्य, क्षेत्र, काल, भावरूप सामग्री के प्राप्त होने पर यह सम्यग्दर्शन सम्यग्ज्ञान और सम्यक्चारित्र को प्राप्त करती है इसका पुरुषार्थ इस रत्नत्रय की प्राप्ति के लिए ही होता है। बहिरात्मा अवस्था तभी तक रहती है, जब तक यह जीव अपने वास्तविक स्वरूप से अपरिचित रहता है तथा शरीर को ही आत्मा समझता है। जब यह अन्तरात्मा बनता है, अर्थात् आत्मा की स्व शक्ति को प्राप्त करता है तथा पर द्रव्य से अपने को भिन्न समझने लगता है तब यह अन्तरात्मा बन जाता है। अन्तरात्मा की स्थिति मे यह जीव प्रभु के गुणो को प्राप्त होता है। इस अवस्था मे इस जीव की आत्मिक शक्ति उद्बुद्ध हो जाती है और वह त्रिकाल स्तुति एवं सामायिक द्वारा एवं निजी रूप का अनुभव करता हुआ अपने पथ मे अग्रसर होता है।

भगवान की वाणी ही कर्म रूपी सिह को हराने वाली है—

सिंहं नास्ति भटाळि सिंहखमं माडलगजं वेचुंगुं।
सिंहाकार मनं किसल्नरर वेन्नोळ् हस्तिरोगं हरं॥

सिंहारूढने ! निम्म मंत्रदे भवच्छ्रीविवंदे पीडेगल् ।
संहारंगळनेय्दुवे सकलवें रत्नाकराधीश्वरा ! ॥११२॥

हे रत्नाकराधीश्वर !

योद्धाओ के सिंहनाद से हाथी भयभीत होकर भाग जाते है । मनुष्य की पीठ पर सिंह का चित्र बनाने से "आनेगज्जी" (हाथी-खुजली) नाम का रोग नष्ट होता है । इसलिए सिंह के लांछन से युक्त हे भगवन् ! तुम्हारे नामाक्षर रूप मंत्र और तुम्हारी शोभामयी मूर्ति से सभी बाधाएँ नष्ट हो जाती है । अनेक साधनो की आवश्यकता नही पड़ती ।

कवि ने इस श्लोक मे भगवान् की स्तुति की महिमा बतलायी है भगवान की वाणी मे कितनी शक्ति है यह मानतुंगाचार्य ने भगवान की स्तुति के महत्व को बतलाते हुए कहा है कि—

वल्गत्तुरंगगजगर्जितभीमनाद-
माजौ बलं बलवतामपि भूपतीना-
मुद्यद्दिवाकरमयूखशिखापविद्धं ।
त्वत्कीर्तनात्तम इवाशु भिदामुपैति ॥ ४२ ॥

हे भगवन् ! युद्ध क्षेत्र मे उछलते हुए घोड़े, भीषरण गर्जना करते हुए मत्त हाथी, बलशाली राजाओ की बलशाली सेना की अपरिमित शक्ति भी आपके यशोगान से क्षणभर मे नष्ट हो जाती है—जैसे उगते हुए सूर्य की प्रखर किरणो के अग्रभाग से विद्ध होकर घन अन्धकार क्षणभर मे नष्ट हो जाता है ।

रक्तेक्षणं समदकोकिलकण्ठनीलं ।
क्रोधोद्धतं फणिनमुत्फणमापतन्त-
माक्रामति क्रमयुगेन निरस्तशक-
स्त्वन्नामनागदमनी हृदि यस्य पुंसः ॥४१॥

हे पुरुषोत्तम ! लाल-लाल आँख वाले मदयुक्त नीलकण्ठ कोयल के

समान श्याम, क्रोध से उद्दण्ड, फग को ऊपर उठाये हुए वेग से सम्मुख आते हुए भीषण विषधर सर्प को भी वह मनुष्य भय एव शंका रहित लाघ जाता है जिसके हृदय मे आपके नाम गान रूपी नागदमनी मत्र है।

अन्तिम तीर्थ कर भगवान महावीर स्वामी का लाछन सिह है तथा जैनागम मे सिह निर्भयता का सूचक भी बताया गया है। भगवान महावीर के नाम मे इतनी बडी शक्ति वर्तमान है कि कोई भी संसार का कार्य सफल हो सकता है। वीतरागी प्रभु के नाम स्मरण मात्र से ही आत्मा मे पवित्रता आ जाती है तथा आत्मा रागद्वेष से रहित होकर अपने स्वरूप को प्राप्त करता है। कविवर बनारसीदास ने भक्ति का वर्णन करते हुए कहा है कि—

ताको आय मिले सुख सपत्ति, कीरति रहे तिहूँ जग छाय।
जिनसो प्रीत बढै ताके घट, दिन दिन धर्म बुद्धि अधिकाय॥
छिन छिन ताहि लखै शिवसुन्दर, सुरग सपदा मिलै सुभाय।
बानारसि गुनरास सघ की, जो नर भगति करै मनलाय॥

जो व्यक्ति मन लगाकर प्रभु के चरणो की भक्ति करता है, उसे तीनो लोक की सभी सुख सामग्रियाँ मिल जाती हैं, उसका यश समस्त लोक मे व्याप्त हो जाता है तथा सभी लोग उससे स्नेह और उसका आदर करने लगते है। मोक्ष लक्ष्मी उसकी ओर प्रतिक्षण देखती रहती है, स्वर्ग की सम्पत्तियाँ उसे अपने आप मिल जाती है तथा समस्त गुण उसे प्राप्त हो जाते है। अभिप्राय यह है कि भगवान की भक्ति मे अपूर्व गुण वर्तमान है, जिससे उनकी भक्ति करने से सभी सुख सामग्रियाँ अपने आप प्राप्त हो जाती है। यद्यपि जैनागम मे भक्ति को दासता की निशानी नही माना है और न भक्ति दीनता भरी याचना ही है। बल्कि भक्ति को आत्मविशुद्धि का प्रधान कारण माना है।

भक्त भगवान के सामने अपने को तुच्छ और भगवान को महान् शक्तिशाली मानने का उपक्रम नही करता है, बल्कि आगम मे बताया
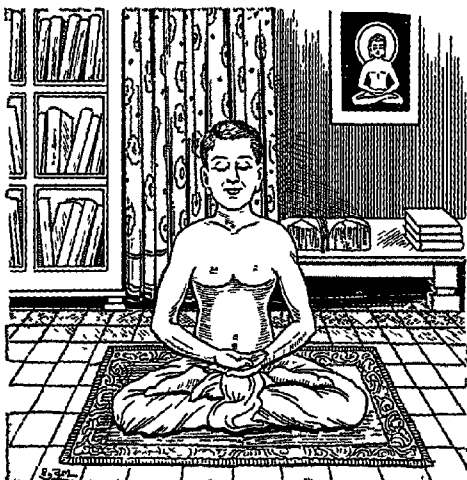
सामायिक करता हुआ एक सद्गृहस्थ

स्वाध्यायरत एक श्रावक

यह गया है कि कि जितनी शक्ति द्रव्य की अपेक्षा से भगवान-मे है उतनी ही जीव मे भी है। अन्तर इतना ही है कि भगवान की शक्ति प्रकट हो चुकी है और भक्त की शक्ति अभी प्रच्छन्न है। भक्त प्रभु चरणो का आधार पाकर अपने अव्यक्त गुणो को प्रकट करता है। वह द्रव्य की अपेक्षा से जैसे नित्य, अविनाशी गुणों का धारी रहता है, वैसे ही पर्याय की अपेक्षा से भी उन्ही गुणो को प्राप्त करना चाहता है।

इस युग के अन्तिम तीर्थंकर भगवान महावीर स्वामी की स्तुति और पूजा करने का कथन उपर्युक्त पद्य मे कवि ने किया है। कवि बतलाना चाहता है कि प्रभु भक्ति का आधार लेकर व्यक्ति अपना उद्धार कर सकता है। भक्ति राग का अंश है, फिर भी उसका आधार पाकर भव्य जीव अपना विकास कर लेते है। सेव्य-सेवक भाव की कल्पना जैन भक्ति मे नही है, किन्तु यहाँ भक्ति का अर्थ केवल अपनी भावनाओ को पवित्र करना है। अत सामान्य व्यक्ति कडी साधना न कर भक्ति से ही अपने कल्याण का मार्ग प्राप्त कर लेता है।

भगवान को श्रद्धापूर्वक ध्यान करने से
कर्मों का नाश हो जाता है।

गरुडोच्चारणमंत्रदिं विषविनाशंयक्षिणी मंत्रदिं ।
दोरेकोळ्गु बहुविद्यॆगळ्गरुडयक्षर पूज्यपादाब्जनं ॥
गुरुवे निम्मनलंपिनिं तेनिवंगावादकष्टंगळ
लिलरवावावमनोरथं फलिसदो रत्नाकराधीश्वरा! ।११३

हे रत्नाकराधीश्वर !

गरुड-मत्र से विष उतर जाता है। देव-सिद्धि मत्र से अनेक कला-कौशल और वस्तुओं की प्राप्ति होती है। गरुड देवता और यक्ष देवता द्वारा पूजनीय आपके चरण-कमल का भक्तिपूर्वक स्मरण करने वालो को किसी प्रकार की आपत्ति नही होती तथा अनेकानेक इष्टार्थ

की सिद्धि भी होती है अर्थात् भगवान की पूजा करने से सभी मनोकाम-नाएँ सिद्ध होती हैं।

सम्यग्दर्शन की शुद्धि मे जिनेन्द्र पूजन भी कारण है। भगवान की पूजा करने से सम्यग्दर्शन गुण वृद्धि को प्राप्त होता है। जिनेन्द्र प्रभु की पूजा यक्ष देव, किन्नर आदि देव, ज्योतिषी कल्पवासी और इन्द्र धरणेन्द्र आदि सभी करते है क्योकि प्रभु पूजन करने से शुभ परिणति प्राप्त होती है, जिससे जीव कालान्तर मे शुद्ध परिणति को भी प्राप्त कर सकता है। कविवर वनारसीदास जी ने अपने नाटक समयसार मे सम्यक्त्व की महिमा तथा मिथ्यात्व से होने वाली हानि का निरूपण करते हुए इस जीव को सावधान किया है तथा बताया है कि हे जीव ! सर्वदा प्रमाद को छोड़कर ऐसे कार्य कर, जिनसे सम्यक्त्व की वृद्धि हो और मिथ्या-दर्शन का नाश हो जाय। प्रभु पूजा, दान आदि कार्य भी सम्यक्त्व की वृद्धि मे सहायक है। जीव का वास्तविक सुधार इस सम्यग्दर्शन से ही सम्भव है—

ज्ञानदृष्टि जिनके घट अन्तर, निरखे दरव सुगुन परजाइ ।
जिनके सहज रूप दिन दिन प्रति, स्यादवाद साधन अधिकाइ॥
जे केवल प्रतीत मारग मुख, चिते चरन राखे ठहराइ।
ते प्रवीन करि छिन्न मोहवल. अविचल होइ परम पद पाइ॥

चाकसो फिरत जाको संसार निकट आयो,
पायो जिनि सम्यक मिथ्यात नाश करिके॥
निरदुन्द मनसा सुभूमि साधिलीनी जिजि,
कीनी मोख कारन अवस्था ध्यान धरिके॥
सोई शुद्ध अनुभौ अभ्यासी अविनाशी भयो,
गयो ताको करम भरम रोग गरिके॥

मिथ्यामति आपनो सरूप न पिछाने तामे,
डोले जगजाल मे अनन्तकाल भरिके ॥

अर्थात्—जिनके हृदय में ज्ञान की दृष्टि प्रकट हो गयी है तथा जिन्हें गुण पर्याय सहित सभी द्रव्यों का वोध हो गया है, स्याद्वाद के द्वारा जो वस्तु के स्वरूप का यथार्थ ज्ञान कर रहे हैं तथा जिनके हृदय में तत्वो की प्रतीति हो चुकी है और जो मोक्ष मार्ग के पथिक वन गये हैं, वे अपनी चतुराई से मोह को नष्ट कर परमपद को प्राप्त करते है।

चक्र के समान घूमता हुआ जिनका ससार निकट आ गया है तथा मिथ्यात्व को नाशकर जिन्होने सम्यक्त्व को प्राप्त कर लिया है तथा जिन्होने पूर्ण रुप से मन को शुद्ध कर लिया है और ध्यान करने का अभ्यास जिन्हे हो गया है, वे शुद्ध आत्मानुभव के अभ्यासी समस्त कर्मो के जाल को नाश करने वाले होते है। अभिप्राय यह है कि सम्यग्दर्शन के उत्पन्न हो जाने से इस जीव को ससार से छुटकारा मिल जाता है तथा अविनाशी सुख को प्राप्त कर लेता है। मिथ्यात्व के कारण यह जीव अनन्त काल से सुख से वंचित है।

अतएव भगवान की भक्ति, स्तुति, अर्चा, दान, स्वाध्याय आदि से सम्यग्दर्शन गुण को प्राप्त करना चाहिए। क्योकि यह आत्मा का गुण प्रभु भक्ति करने से प्रकट होता है।

सांसारिक कामों में प्रमाद नहीं आता, किन्तु
भगवान की भक्ति के समय प्रमाद आता है।

गेडेगोंडाडुव ळोकवार्तेगळाळेन्लंगायतं तुंबिदा।
कोडदंतिपुंदु निम्म मंत्रजपमंमाळ्पागंळुमीर्दक-
ण्विडुनीर् मेय्मुरिवागुळिक्केगळिवे दुष्कर्मबंधं सडि-
ल्दोडेदे सौंदंपुदेंबुदं नुडियवे रत्नाकराधीश्वरा!।११४।

हे रत्नाकराधीश्वर !

स्नेह के साथ संसार के समाचार पर बातचीत करते समय मेरे शरीर की दशा भरे हुए घडे की तरह रहती है । किन्तु जब आपके नामाक्षर रूप मंत्र का जाप किया जाता है उस समय आँखों से पानी चलना, अँग मोड़ना आदि आलस्य के चिन्ह दिखायी पड़ने लग जाते हैं । पाप रूपी बन्धन से बधाते हुए डोरी ढीली होकर, टूट कर गिरते हुए पानी को क्या इन आंखों का पानी नही कहते है ?

इस श्लोक मे कवि ने भगवान की महिमा को बताया है कि जब तक यह जीव भगवान के नामस्मरण, उनके मंत्र की जाप तथा श्रद्धानपूर्वक भक्ति नही करता है तब तक ससार रूपी अग्नि मे भ्रमण करता है । जो आपके नाम का श्रद्धापूर्वक स्मरण करता है, वह इस ससार रूपी समुद्र से शीघ्र ही पार हो जाता है । जैसे वादिराज ने कहा है कि—

प्रापद्दैव तव नुतिपदैर्जीवकेनोपदिष्टैः ।
पापाचारी मरणसमये सारमेयोऽपि सौख्यम् ॥
क सदेहो यदुपलभते वासवश्रीप्रभुत्वम् ।
जल्पञ्जाप्यैर्मणिभिरमलैस्त्वन्नमस्कारचक्रम् ॥

जब आपकी भक्ति कुत्ता जैसे पापी प्राणी का भी उद्धार करने मे समर्थ है, उसे तिर्यंच गति के दु.खो से छुडा कर स्वर्ग सुख का अनुभव कराती है उस भक्ति से यदि इन्द्र-सम्पत्ति की प्राप्ति हो तो इसमे क्या आश्चर्य है ।

शुद्धे ज्ञाने शुचिनि चरिते सत्यपि त्वय्यनीचा ।
भक्तिर्नो चेदनवधिसुखावचिका कुंचिकेयम् ॥
शक्योद्घाट भवति हि कथं मुक्तिकामस्य पुंसो ।
मुक्तिद्वार परिदृढमहामोहमुद्राकपाटम् ॥

कोई उत्तम ज्ञानी है, निरतिचार चारित्र का पालन भी करता है, परन्तु वह श्री वीतराग देव की सच्ची भक्ति से रहित है अर्थात् उसकी जिनदेव, जिनगुरु और जिनोपदिष्ट जीवादि पदार्थो मे दृढ श्रद्धा नही है, तो उसे मुक्ति के दरवाजे का मोह रूपी ताला खोलना अत्यन्त कठिन ही नही, अशक्य है। उस ताले के खोलने के लिए भगवान वीत-राग सर्वज्ञ देव के विषय मे दृढ श्रद्धा ही कारण है।

ससार के बन्धनो मे डालने वाली वातो मे जीव का मन विशेष लगता है। यह जीव रागवर्धक चर्चाए प्रेम से करता है तथा इस प्रकार की चर्चाए करते समय इसे तनिक भी आलस्य या कष्ट नही होता है। विषय कषायो की वातो से यह कभी अघाता नही है, इसकी रुचि इनकी ओर अपने आप हो जाती है। परन्तु भगवान के गुणों का स्मरण या चिन्तन करने से ही शरीर मे आलस्य आता है, मन शिथिल हो जाता है, आँखो से पानी गिरने लगता है। यह सब कर्म-बधन की महिमा है। कर्मो के कारण इस जीव मे कितना विकार आ गया है जिससे यह अपने उत्थान की ओर ध्यान भी नही देता है अथवा उत्थान की ओर दृष्टिपात करते ही उत्साह समाप्त हो जाता है, यह कितने बड़े आश्चर्य की वात है।

मनीषी व्यक्ति अपने पुरुषार्थ द्वारा अपने मन को समस्त विषयो से रहित और समस्त विकल्पों से वर्जित करने का प्रयत्न करते हैं। राग-भाव ही इस जीव को विषय की ओर खीचता है, तथा यही प्राणी को संसार के पदार्थो से स्नेह कराता है।

मोह के कारण ही जीव अपने मन के विरुद्ध वात या कार्य कर क्रोध करता है, द्वेष करता है, राग करता है तथा नाना प्रकार के सवध स्थापित करता है, पर जव मोह घट जाता है तो जीव अपने स्वरूप में अवस्थित होने का प्रयत्न करता है। मोह रूपी वीज से राग द्वेष रूप वृक्ष की उत्पत्ति होती है, इसी के फल सुख दुःख रूप हैं, जिनका आस्वा-दन जीव अहर्निश करता रहता है। ससार की विषय कषाय की वातें

इस जीव को राग द्वेष और मोह के कारण ही तो अच्छी लगती हैं तथा यह जीव पांच इन्द्रियां, चार विकथायें, चार कषायें, निद्रा और प्रणय— इन पन्द्रह प्रमादों के आधीन हो जाता है ।

यदि गहराई मे प्रवेश कर विचार किया जाय तो प्रतीत होगा कि जीव का कल्याण अपने स्वरूप मे अवस्थित होने पर ही हो सकता है। राग-द्वेष और मोह के निकलने पर ही जीव में साम्यभाव आ सकता है, तथा यह साम्यभाव ही समस्त पदार्थों में समता उत्पन्न करने वाला है। साम्यभाव के आ जाने से आशाएँ आकाक्षाएं तत्काल दूर हो जाती हैं तथा चंचल मन जो सर्प के समान सर्वत्र विचरण करता था, शान्त हो जाता है।

ससार और विषय भोगों से विरक्ति, शारीरिक आवश्यकताओ से आसक्ति एव विकार और कषायो की पूर्ति करने की वांछा साम्यभावना के द्वारा ही दूर की जा सकती है । अत. प्रत्येक व्यक्ति का विकार और कषायों को जीतने का अवश्य प्रयत्न होना चाहिए । इनके जीते बिना आत्मोत्थान के मार्ग मे प्रवृत्ति नही हो सकती है।

णमोकार मत्र का जाप

वणिजं पंचसरंगळं पिडिदु मुक्ताजालमं तां परी-
क्षणे गेय्वंतिरे पंच पंत्रदोळाडंबट्टक्षरत्रातमं ।
पणेयोळ्जाणिसि चर्मदृष्टिमुगिल्सुज्ञानसदृष्टियिं-
देणिसुत्तांगळेकाण्बने रिसियला रत्नाकराधीश्वरा! ।११५।

हे रत्नाकराधीश्वर !

जिस प्रकार जौहरी मोती की केवल पांच लड़ियों को देखकर समूचे मोती समूह की परीक्षा कर लेता है उसी प्रकार पांच मत्र से सम्बन्ध रखने वाले अक्षर समूह को श्रेष्ठ मुनि ललाट मे ध्यान करके पहले चर्मचक्षुओं से देखकर पुनः ज्ञान चक्षु से देखते है । उस समय

उनको अपने स्वरूप का दर्शन होता है।

कवि ने इस श्लोक में णमोकार मंत्र का महत्व वतलाया है। इस श्लोक मे यह वतलाया है कि जैसे जौंहरी जवाहरात को हाथ मे रत्न की माला लेकर परीक्षा करता है उसी प्रकार साधु पंच नमस्कार मत्र को अपने ललाट मे रख करके धीरे-धीरे स्मरण करके बीज रूप आत्म-स्वरूप का अभ्यास करता है। वह अभ्यास करते-करते पच णमोकार अक्षर रूप पद का ध्यान करता है, वह पदस्थ ध्यान कहलाता है। उस पदस्थ के बाद पिण्डस्थ और पिण्डस्थ से रूपस्थ मे पहुँच जाता है। जब रूपस्थ मे पहुँचता है तो वह आत्म प्राप्ति के साधन ध्यान मे रत होकर सम्पूर्ण कर्म की निर्जरा करके मोक्ष को प्राप्त कर लेता है। इस-लिए भगवान का स्मरण करने वाले भव्य प्राणी को संसार का बन्धन तोड़ कर मोक्ष जाने मे क्या देर लगती है ? और व्यवहार में भी णमो-कार मंत्र का महत्व बहुत है। इस मंत्र का जाप जो संसारी मानव करते हैं, उनको इष्ट कार्य की सिद्धि होती है।

मूल णमोकार मंत्र

णमो अरिहंताणं

णमो सिद्धाणं ।

णमो आयरियाणं

णमो उवज्झायाणं

णमो लोए सव्वसाहूणं ।

यह मंत्रराज नवकार मंत्र है। इससे बढ़कर तीन लोक में कोई भी मंत्र नहीं है। पूर्व या उत्तर दिशा को मुख करके पवित्र भाव से एक माला प्रतिदिन फेरने से सब प्रकार का आनन्द मंगल रहता है, सब संकट दूर हो जाते हैं ।

नवाक्षरी मत्र

ॐ ह्री अर्हम् नमः क्षी स्वाहा ।

पहले नौ वार नवकार मत्र पढ़कर वाद मे इस मंत्र की नौ मालायें फेरे। निरन्तर २१ दिन तक जाप करने से सव प्रकार का राज सम्बन्धी या अन्य भय सकट दूर हो जाता है ।

प्रेमभाव वर्द्धक मंत्र

ॐ ह्रीं णमो लोए सव्वसाहूणं ।

पूर्व दिशा की ओर मुख करके इस मंत्र का जाप करे। एक वार मत्र का जाप करे और नये कपड़े मे एक गांठ लगा दे। इस प्रकार एक सौ आठ वार जाप करे और नये कपडे मे एक सौ आठ गांठ लगा दे। ऐसा करने से घर में, परिवार मे किसी के साथ कलह या अनवन हो तो सव क्लेश शान्त हो जाता है, आपस मे प्रेम भाव वढ़ जाता है।

रोग निवारण मंत्र

ॐ नमो सव्वोसहि-पत्ताणं, ॐ नमो खेलोसहि
पत्ताणं, ॐ नमो जलो सहि पत्तणं,
ॐ नमो सव्वो सहि पत्ताणं स्वाहा ।

इस मंत्र की प्रति दिन एक माला फेरने से सब प्रकार के रोगो की पीडा शान्त हो जाती है, रोगी का कष्ट कम हो जाता है।

ग्रहपीड़ा नाशक मंत्र

सूर्य और मंगल की पीड़ा हो तो--ॐ ह्री नमो सिद्धाण, चन्द्रमा और शुक्र की पीड़ा हो तो--ॐ ह्री नमो अरिहंताणं, बुध की पीड़ा हो तो--ॐ ह्री नमो उवज्झायाणं, गुरु-वृहस्पति की पीड़ा हो तो--ॐ ह्री नमो आयरियाणं, तथा शनि, राहु और केतु की पीड़ा हो तो--ॐ ह्री नमो लोए सव्व साहूणं, मंत्र का जाप करना चाहिए। जितने दिनो तक ग्रह पीड़ा के रूप

मे रहे, उतने दिन तक प्रति दिन ऊपर लिखे मंत्रों का एक हजार जाप करना उचित है। इन मन्त्रो के जाप से किसी भी प्रकार से ग्रह पीडा हानि नही पहुँचाएगी।

परिवार रक्षा मन्त्र

ॐ अरिहय सर्वं रक्ष रक्ष हुं फट् स्वाहा ।

इस मन्त्र के द्वारा परिवार की रक्षा के लिए ध्यान करना चाहिए। परिवार पर आए सब आपत्ति सकट दूर हो जाते है। एक माला प्रात काल और एक सायंकाल फेरनी चाहिए।

ऐश्वर्यदायक मंत्र

ॐ ह्री वरे सुवरे अ सि आ उ सा नमः

इस मन्त्र का एकान्त स्थान मे प्रतिदिन सुबह, दुपहर और शाम को एक सौ आठ बार जाप करने से अर्थात् तीनो काल मे एक-एक माला करके तीन माला फेरने से सब प्रकार की सम्पत्ति, लक्ष्मी और ऐश्वर्य प्रभाव की प्राप्ति होती है। किसी भी पद आदि की उन्नति के लिए इसका जाप किया जा सकता है।

मगल मन्त्र

ॐ अ–सि–आ–उ–सा नमः

इस मंत्र का सूर्योदय के समय सूर्य की ओर मुख करके १०८ बार जाप करने से गृह कलह दूर हो, शान्ति हो और धन सम्पत्ति की प्राप्ति हो।

द्रव्य प्राप्ति मन्त्र

ॐ ह्री नमो अरिहताण सिद्धाणं आयरियाण उवज्झायाणं साहूण मम ऋद्धि वृद्धि समीहितं कुरु कुरु स्वाहा।

इस मंत्र का नित्य प्रति प्रात.काल मध्यान्ह और सायकाल को प्रत्येक समय मे बत्तीस बार मन मे ही ध्यान करे। सब प्रकार की सुख समृद्धि धन का लाभ और कल्याण हो।

सप्ताक्षरी मंत्र

ऊँ ह्रीं श्रीं अर्हं नमः ।

यह बहुत प्राचीन और प्रभावशाली मंत्र है। सब प्रकार के सुख सम्पत्ति सम्बन्धी मनोरथ इससे पूर्ण हो जाते हैं ।

हृदय जप

जहां हृदय है वहां मन के संकल्प से ही पांच पंखुड़ी का कमल बनाना चाहिए। पहली पखुड़ी सफेद रंग की, दूसरी लाल रंग की, तीसरे पीले रंग की, चौथी हरे रंग की, और पांचवी काले रंग की। कमल के बीच मे अर्हम् का ध्यान करे और ऊपर लिखी पंखुड़ियो में क्रमश. नमो अरिहंताण आदि पाँच पदों का मन से ही जाप करे। इस प्रकार नौ बार नवकार मत्र का जाप करने से आध्यात्मिक फल बढ़ता है।

ॐ का जप

ॐ नवकार मंत्र के पांच पद का वाचक है। पिछले हृदय जप मे बताये गये सफेद लाल आदि पांचों रंगो मे ॐ का क्रमशः ध्यान करना चाहिए।

अ सि आ उ सा के मंत्र मे भी ॐ रहा हुआ है। अतः नाभिकमल में अ, मस्तक कमल में सि, मुख कमल मे आ, हृदय कमल में उ, और कण्ठ कमल मे सा अक्षर का ध्यान करने से सब प्रकार से आनन्द मंगल रहता है।

सोऽहम् का जप

सः का अर्थ वह अर्हन्त देव है और अहम् का अर्थ मैं है। दोनो का मिलकर अर्थ होता है कि मैं अर्हन्त देव हूँ। इस मंत्र का जाप सांस के साथ करना चाहिए। ऊपर की सांस आवे तब सो बोलना और जब अन्दर की सांस आए तब हम कहना चाहिए। यह मंत्र निश्चय दृष्टि का है।

अर्हम् का ध्यान

सुवर्ण कमल जिसके सब ओर निर्मल सुनहरी किरणें निकलती हो, उसके बीच में श्वेत रंग मे अर्हम् का ध्यान करना चाहिए। यह ऊंचे आकाश मे चमकता हुआ विचार करे। बाद मे मुख मे प्रवेश करता हुआ, भ्रकुटि मे भ्रमण करता हुआ, अन्त मे भाल मण्डल मे स्थिर होता हुआ सोचे।

नवपद का ध्यान

आठ पखुड़ी का कमल बनाना, चार पंखुड़ी चार दिशाओ मे और चार पंखुड़ी चार विदिशाओ मे। बीच मे नमो अरिहृताण का ध्यान करना। फिर चार दिशाओ वाली पंखुड़ियो पर क्रम से नमो सिद्धाणं, नमो आयरियाण, नमो उवज्झायाण, नमो लोए संव्वसाहूण का ध्यान करना। इसके बाद चार विदिशाओ वाली पखुड़ियो पर क्रमश· नमो नाणस्स, नमो दंसणस्स, नमो चरित्तस्स, नमो तवस्स का ध्यान करना चाहिए। दिशाएँ पूर्व, दक्षिण, पश्चिम और उत्तर का क्रम है। और विदिशाएँ ईशान, अग्नि कोण आदि का क्रम है।

भावार्थ—इस मंत्र का महत्व यही है कि इस मत्र के द्वारा अपने आत्म-स्वरूप को प्राप्त करनेवाला यह सबसे बड़ा ध्यान है। ध्यान करने के अनेक नियम हैं तथा अनेक प्रकार से ध्यान किया जाता है। सबसे सरल और साध्य नियम तो यह है कि पद्मासन लगाकर वीतरागी प्रभु की मूर्ति के सामने बैठ जाय और एकटक दृष्टि से उस मूर्ति को जितनी देर देख सके, देखता रहे, पश्चात् आंखों को अर्द्धोन्मीलित (आधी खुली और आधी बन्द) कर नासाग्र दृष्टि कर भीतर उस मूर्ति का दर्शन करे। जब ध्यान भीतरी मूर्ति के दर्शन से इधर-उधर उचटे तो पुन. सामने की मूर्ति पर अपने ध्यान को स्थिर करे। इस प्रकार कुछ दिन तक ध्यान करने से स्थिरता आयेगी।

स्थिरता प्राप्त होने पर निराकार ज्ञान दर्शन रूप आत्मा का ध्यान करे तथा आत्मानन्द निर्झर जिसका प्रवाह भीतर तक बह रहा है, उसमे

डुबकियाँ लगावे। आत्मानन्द का पान करने से अद्भुत तृप्ति होती है तथा ध्यान करने की शक्ति भी आती है। जो प्रारम्भिक साधना करना चाहते है, उन्हे तो केवल एकांत मे बैठकर कुछ समय तक आत्मानन्द का पान करने का अभ्यास करना चाहिए तथा अपने को सभी द्रव्यो से स्वतन्त्र अनुभव करना चाहिए। ध्यान करने की विशेष विधि का निरूपण प्रथम भाग मे किया गया है, यहाँ पर सिर्फ णमोकार मंत्र का ध्यान कैसे करना चाहिए तथा इसके करने से क्या लाभ होगा, बताया जायगा।

स्फुरायमान निर्मल चन्द्रमा की कान्ति समान हृदयस्थ आठ पत्रो से सुशोभित कमल की कणिका पर 'णमो अरहताण' पद का चिन्तन करे। उस कणिका के बाहर के आठ पत्रो मे से दिशाओ के चार दलों पर क्रमश 'णमो सिद्धाण, णमो आइरियाणं, णमो उवज्झायाणं, णमो लोए सव्व साहूण' इन चार मंत्र पदो का चिन्तन करे तथा विदिशाओं के चार पत्रो पर 'सम्यग्दर्शनाय नम, सम्यग्ज्ञानाय नम, सम्यक्चारित्राय नम, सम्यक्तपसे नम' इन चार मंत्रो का ध्यान करे। इस प्रकार अष्ट दल कमल और कणिका मे नव मंत्रो का स्थापन कर चिन्तन करे। णमोकार मंत्र के ध्यान करने की यह विधि सर्वसाधारण के लिए उपयोगी है। इस विधि से मन स्थिर हो जाता है।

इस मत्र के ध्यान से समस्त पाप दूर हो जाते है, आत्मा पवित्र हो जाती है और मोक्ष लक्ष्मी के प्राप्त करने मे विलम्ब नही होता है। इस णमोकार मत्र मे ऐसी ही विचित्र शक्ति है, संसार का बड़े से बडा काम इसके स्मरण मात्र से सिद्ध हो जाता है। जो व्यक्ति भक्तिभाव पूर्वक प्रतिदिन इस मंत्र का जाप करते है, उनको ऐहिक सुखो के साथ पारलौकिक सुख भी प्राप्त होते है। संसार का परिभ्रमण चक्र इससे समाप्त होता है और आत्म स्वतन्त्रता की प्रेरणा होती है। इस मत्र की अचिन्त्य महिमा का वर्णन करते हुए कहा गया है—

प्रभावमस्य निःशेषं योगिनामप्यगोचरम् ।
अनभिज्ञो जनोब्रूते यः स मन्त्रेऽनिलार्दितः ॥

अर्थात्—इस मत्र का प्रभाव मुनीश्वरो के भी अगोचर है, उनके द्वारा भी इसके प्रभाव का वर्णन नही हो सकता है, अनभिज्ञ जन जो इसके प्रभाव का वर्णन करते हैं, वे सन्निपात से पीडित होकर ही ऐसा करते हैं।

पुन. इसी मत्र को बतलाते है—

मूवत्तैदु शुभाक्षरं तुदिगे वंदोंकारमोंदादिगि-
ली वर्णक्तदे मूलमंत्रबदु तानेळंगवाय्ता दोडे-
ल्ला वोंदे असिआउसायेनलिदे पंचाक्षरं भाविसल् ।
कैवल्यांगनेकूडि केय्विडियळे रत्नाकराधीश्वरा! ॥११६॥

हे रत्नाकराधीश्वर !

पैंतीस मगल कारक अक्षर हैं और एक ओंकार है जिसे पहले आना चाहिए। इस अक्षर से कहा हुआ पैंतीस अक्षरो का एक मूल मत्र है जो सात विभागो मे विभक्त है (१) णमो अरिहताण, णमो सिद्धाण, णमो आइरियाण, णमो उवज्झायाण, णमो लोए सव्वसाहूण, अरहत, सिद्ध आइरिया, (२) उवज्झाया, साहू (३) अरिहत, सि सा, (४) अ सि आ उ सा, (५) असि साहू, (६) असा, (७) ऊ। अर्हं यह सब मिलकर एकार्थवाचक है। अ सि आ उ सा ऐसा कहने से भी पचाक्षर मत्र होता है। इसके स्मरण से मोक्ष रूपी लक्ष्मी भक्त का हाथ पकड़ लेती है अर्थात् उसे अंगीकृत कर लेती है।

ॐ और पैंतीस अक्षरो का णमोकार मत्र, इस प्रकार कुल छत्तीस अक्षरो का ध्यान, स्मरण, मनन एवं चिन्तन करने मे जीव को सभी सुख सामग्रियां प्राप्त होती हैं। आगम में वर्णमातृका के चिन्तन का विधान किया है, क्योंकि समस्त शब्दो की रचना इसी से हुई है। ध्यान

करने वाला व्यक्ति नाभिमण्डल पर स्थित सोलह दल (पत्तों) के कमल मे प्रत्येक दल पर क्रम से अ आ, इ ई, उ ऊ, ऋ ॠ, ए ऐ, ओ औ, अं अ. इन अक्षरों का चिन्तन करे। पश्चात् वह हृदय स्थान पर कर्णिका सहित चौबीस पत्तो का कमल विचारे और उसकी कर्णिका तथा पत्तों मे क ख ग घ ङ च छ ज झ ञ ट ठ ड ढ ण त थ द घ न प फ ब भ म—इन पच्चीस अक्षरों का ध्यान करे।

पश्चात् आठ पत्तो के मुख कमल के प्रत्येक पत्ते पर भ्रमण करते हुए य र ल व श ष स ह इन आठ वर्णों का ध्यान करे। इस प्रकार वर्णमातृका का निरन्तर ध्यान करने से योगी समस्त श्रुतज्ञान का पार-गामी होता है। इस वर्णमातृका का विधिपूर्वक ध्यान करने से क्षय-रोग, अरुचिपना, अग्निमन्दता, कुष्ठ, उदर रोग, कास श्वास आदि रोग दूर हो जाते हैं। वचन सिद्धि हो जाती है, जिससे जो मुंह से निकलता है, अवश्य पूरा हो जाता है।

जैनागम मे अर्हं को मंत्रराज बताया गया है। इस मंत्रराज का ध्यान करने वाला योगी कुंभक प्राणायाम से मोह की लताओं मे स्फुरायमान होता हुआ, मुख कमल में प्रवेश करता हुआ, तालु के छिद्र से गमन करता हुआ एव अमृत मय जल से झरता हुआ चिन्तन करे। पश्चात् नेत्र के पलकों पर स्फुरायमान होता हुआ, ज्योतिषियो के समूह में भ्रमण करता हुआ एवं चन्द्रमा के साथ स्पर्द्धा करता हुआ चिन्तन करे। पश्चात् दिशाओं में संचरण करता हुआ, आकाश मे उछलता हुआ, कलक के समूह को छेदता हुआ, केशो मे स्थिति करता हुआ, संसार के भ्रम को दूर करता हुआ, परम स्थान को प्राप्त हुआ एवं मोक्ष लक्ष्मी से मिलाप करता हुआ ध्यान करे। इस मंत्रराज को उच्चारण के लिए अर्हं पद से कहा जाता है। इस मंत्र का ध्यान एकाग्रता के साथ करने से बड़ी ही अलौकिक सिद्धियां प्राप्त होती हैं। इस मंत्र के ध्यान करने की विधि और भी तरह से ग्रन्थान्तरो मे दी गयी हैं। परन्तु व्यवहार में कार्य करने वाली विधि यही है कि एकान्त स्थान मे बैठकर ललाट के

मध्य में—भौंहो के बीच मे इसका चिन्तन करे। मन जितनी देर इस पर ठहर सके, रहने दे। यदि जल्दी ही मन ऊब जाता हो तो हृदय मे कमल की कर्णिका के मध्य मे इसका ध्यान करे। इस मत्र के ध्यान से सभी प्रकार से सुख मिलते है।

नळिनीनाळके मूलदिं तुदिवरं संपूर्णदिं स्वच्छदिं-
दोळगोंतिपुं दु तंतुवंते नरगं केवज्जेयिं नेत्तिमु-
ट्टळेतं तप्पदे मूर्ति तुंबि पळुकिं गेय्दिसदं निम्मोंदु नि-
र्मळविबोपमनात्मनिर्दपनला रत्नाकराधीश्वरा! ॥११७॥

हे रत्नाकराधीश्वर !

कमल के डण्ठल मे नीचे से लेकर ऊपर तक जिस प्रकार सर्वांगीण रूप से निर्मल तन्तु व्याप्त रहते है, उसी प्रकार मनुष्य के अंगूठे से लेकर मस्तक तक समस्त शरीर मे आत्मा व्याप्त है। स्फटिक मणि की मूर्ति को जैसे स्थापित किया गया हो, उसी प्रकार निर्मल आत्मा समस्त शरीर में व्याप्त है।

आत्मा का अस्तित्व समस्त शरीर मे है, शरीर का ऐसा कोई भी भाग नही है, जिसमें आत्मा न हो। यह आत्मा अखण्ड, अविनाशी, निराकार, चिदानन्द स्वरूप है। इसमे संकोच और विस्तार की शक्ति है, जिससे यह जैसे छोटे या बड़े शरीर में पहुँचती है, उसी के प्रमाण हो जाती है। आत्मा को जैनाचार्यों ने इसीलिए शरीर प्रमाण माना है, वह व्यापक या अणुमात्र नही है। इसमे अनेक शक्तियों के साथ शरीर प्रमाण रहने की शक्ति भी है।

स्वभाव से आत्मा निर्मल और शाश्वत है, इसमें किसी भी प्रकार का मल नहीं लगा है। अनादिकाल से कर्मों के बन्धन मे पड़ जाने के कारण आत्मा विकृत हो गयी है, परन्तु मूल स्वभाव इसका शुद्ध ही है, उसमे किसी भी प्रकार का विकार नही आया है। बात यह है कि शुद्धात्मानुभूति के अभाव के होने पर यह आत्मा शुभ अशुभ उपायो से

परिणमन करके जीवन, मरण, शुभ अशुभ कर्म बन्ध को करती है और शुद्धात्मानुभूति के प्रकट होने पर शुद्धोपयोग से परिणत होकर मोक्ष को प्राप्त करती है तो भी शुद्ध पारिणामिक स्वस्वभाव ग्राहक शुद्ध द्रव्यार्थिक नय की अपेक्षा से न बन्ध की कर्त्ता है और न मोक्ष की। शुद्धात्मा चेतन स्वभाव है, जड़ रूप नही है उपाधि रूप नही है। काम क्रोध प्रभृति विकार पर हैं, अपने नही है। यद्यपि ससारावस्था मे अशुद्ध निश्चय नय की अपेक्षा से यह आत्मा काम, क्रोध रूप हो गयी है पर शुद्ध निश्चय नये की अपेक्षा अभी भी निज भाव को नही छोड़ती। रागादि विभाव परिणाम औपाधिक है, पर के सम्बन्ध से है, निज भाव नही है, इसलिए आत्मा कभी रागादि रूप नही होती।

परमात्मप्रकाश मे जीव की शुद्धाशुद्ध अवस्थाओ का निरूपण करते हुए बताया गया है कि यह जीव इन्द्रियजनित सुख को अशुद्ध निश्चय नय की अपेक्षा से अपना मानता है, वस्तुत. अतीन्द्रिय सुख ही जीव का अपना सुख है। जितनी पर्याये विकार भाव से उत्पन्न होती है, वे सब अशुद्ध है, आत्मा की अपनी वस्तु नही। आत्मा वीतराग निर्विकल्प समाधि में स्थिर होने पर ही अपने वस्तु रूप को पहचानता है। "अनाकुलत्वलक्षणपारमार्थिक-वीतरागसौख्यात् प्रतिकूलं सासारिकसुखदु ख यद्यप्यशुद्धनिश्चयनयेन जीवजनित तथापि शुद्धनिश्चयनयेन कर्मजनित भवति। आत्मा पुनर्वीतरागनिर्विकल्पसमाधिस्थ· सन् वस्तु वस्तुरूपेण पश्यति जानाति च, न च रागादिक करोति। अत्र पारमार्थिकसुखाद्विपरीतं सासारिकसुखदु·खविकल्पजाल हेयम्। अर्थात् आकुलतारहित पारमार्थिक वीतराग सुख से पराङ्मुख संसार के सुख दु ख यद्यपि अशुद्ध निश्चय नय से जीव सम्बन्धी हैं, किन्तु शुद्ध निश्चय नय की अपेक्षा से जीव ने उत्पन्न नही किये है, इसलिए जीव के नही है। कर्म सयोग से उत्पन्न हुए हैं और आत्मा तो वीतराग निर्विकल्प समाधि मे स्थिर हुई वस्तु

णमोकार मंत्र के प्रभाव से अंजन चोर का विद्या-साधन

को वस्तुरूप से देखती है, जानती है, रागादि रूप नही होती, उपयोग रूप है, ज्ञाता-दृष्टा है, परम आनन्द रूप है। पारमार्थिक सुख से विपरीत इन्द्रियजनित सासारिक सुख त्यागने योग्य है। यह आत्मा का वास्तविक स्वरूप नही है। अत प्रत्येक व्यक्ति को रत्नत्रय रूप आत्मा का श्रद्धान करना चाहिए।

आत्मा शुद्ध निर्मल स्फटिक मणि के समान है

नररात्मं स्फटिकोपमंगडमदेनाकारमुं स्वच्छमा-
गिरदेंबर्मिगे केळिमा स्फटिकमेतैवण्णमुं सोंके या-
परियोळ्तोरुगुवंतेमेय्योतोवुं डुंकपोगे तां- ।
करियं कॆंपनेनिप्पनेंदरुपिदै रत्नाकराधीश्वरा ! ॥११८॥

हे रत्नाकराधीश्वर !

मनुष्य की आत्मा स्फटिक मणि के समान निर्मल है। विभिन्न रंगों के साथ उसका सम्बन्ध होने पर जिस प्रकार स्फटिक भी विभिन्न रंग का दिखाई पड़ता है उसी प्रकार काले पीले शरीर के चमडे के कारण लोग आत्मा को भी लाल पीला कहने लग जाते हैं।

आत्मा स्वभाव से निर्मल, विशुद्ध, नित्य, ज्ञान-दर्शन-सुख-वीर्य स्वरूप है। अनादि कर्म कालिमा के कारण यह आत्मा अशुद्ध हो रही है तथा नाना प्रकार के शरीरो को इसे धारण करना पड़ता है। इस आत्मा का कोई रूप रग नही है और न इसकी कोई जाति ही है, यह तो स्वभाव से निराकार है, इसमे शरीर के निमित्त से भेद किये जाते है। जैसे शरीर के आवरण में यह रहती है, इसका व्यवहार भी वैसा ही हो जाता है। कविवर बनारसीदास ने नाटक समयसार मे आत्मा की शुद्धता और उसके रूप का सुन्दर वर्णन किया है—

जैसे वनवारी में कुधातु के मिलाप हेत,
नाना भाति भयो पै तथापि एक नाम है।

कसिकै कसौटी लीक निरखै सराफ ताही,
बानके प्रमान करि लेतु देतु दाम है ॥
तैसे ही अनादि पुद्गलसो सयोगी जीव,
नवतत्वरूप मे अरूपी महाधाम है।
दीसे उनमानसो उद्योतवान ठौर-ठौर,
दूसरौ न और एक आतमाहि राम है ॥
जैसे रविमडल के उदै महिमडल में,
आतप अटल तम पटल विलातु है।
तैसे परमातमा को अनुभौ रहत जो लों,
तो लों कहूँ दुविधा न कहूँ पक्षपातु है ॥
नय को न लेश परमान को न परवेश,
निछेप के बस को विधस होतु जातु है।
जे जे वस्तु साधक है तेऊ तहा बाधक है,
वाकी रागदोप की दशा की कौन बातु है ॥

अर्थात्—सोने के साथ नाना वस्तुओ के मिला देने से सोना एक रूप मे होते हुए भी भिन्न-भिन्न रूप मे हो जाता है, फिर भी उसका नाम सोना ही माना जाता है तथा सर्राफ कसौटी पर कस कर उस सोने का, उसकी अच्छाई और बुराई के आधार पर मूल्य निश्चित कर देता है। उसी प्रकार अनादि काल से यह आत्मा भी पुद्गल के साथ बधी हुई चली आ रही है, फिर भी नौ पदार्थो मे यही चेतन, ज्ञाता दृष्टा के रूप मे मानी जाती है। समस्त प्राणियो मे यह आत्माराम दिखलायी पड़ता है। अभिप्राय यह है कि कर्म सयोग होने के कारण यह आत्मा नर, नारकादि पर्यायो मे दिखायी पड़ रही है, पर वास्तव मे यह शुद्ध नित्य और चैतन्य है । कर्म की उपाधि के कारण इसमे भेद हो गया है।

जिस प्रकार सूर्य के उदय होते ही अन्धकार नष्ट हो जाता है और सर्वत्र प्रकाश फैल जाता है इसी प्रकार आत्मा रूप परमात्मा का अनुभव हो जाने से संशय, अज्ञान, मिथ्यात्व आदि सब नष्ट हो जाते है। नय, प्रमाण, निक्षेप आदि के द्वारा होने वाली भेद चर्चा भी लुप्त हो जाती है, ऐसी अवस्था में राग-द्वेष की वात ही क्या। अर्थात् जव तक भेद-विज्ञान उत्पन्न नही होता है तव तक इस जीव मे औपाधिक भेद दिखलायी पड़ते है, भेद-विज्ञान द्वारा आत्मा और कर्म का यथार्थ ज्ञान होते ही शुद्ध आत्मा की प्रतीति होने लगती है।

कवि ने इस श्लोक मे शुद्धात्मा के स्थान की तरफ आत्मा को झुकाया है। प्रत्येक आत्मा मानव के सम्पूर्ण शरीर मे तिल और तेल के समान व्याप्त है। यह अनुभवगम्य है जब ज्ञानी जीव पर वस्तु से भिन्न अपने को और पर वस्तु को अलग करके देखता है और उसमे लीन होता है तव इन्द्रिय विषयो को पूर्णतया भूल जाता है। हर एक वुद्धिमान मानव स्वाधीनता प्रिय होता है और सुख व शाति को चाहता है। आत्मा और कर्म पुद्गल इन दोनो के परस्पर सहवास से आत्मा की शक्तियाँ पूर्ण विकसित नही हो पाती है तथा आत्मा को अपने वर्तन में वहुत-सी वाधाएं उठानी पड़ती हैं। ससार मे इष्ट का वियोग व अनिष्ट का मयोग होना कर्मो की ही पराधीनता का कारण है। क्रोधादि भावो का झलकना व पूर्ण ज्ञान का न होना कर्मो के उदय का ही कार्य है। जन्म-जन्म मे भ्रमण करना, जरा व मरण के कष्ट उठाना कर्मो की ही देन है। इसलिए हर एक मानव का यह दृढ उद्देश्य होना चाहिए कि वह कर्मो की सगति से छूटकर स्वाधीन हो जावे। कर्मो की सगति राग-द्वेष मोह से हुआ करती है। इसलिए हमें इन भावो को दूर करके वीतरागतामय आत्मज्ञान के पाने का उद्योग करना चाहिए और उसके वल से आत्मा का ध्यान करना चाहिए। आत्मध्यान को हर एक साधु व श्रद्धावान गृहस्थ कर सकता है। आत्मध्यान मे जैन सिद्धान्त के मुख्य सात तत्वो का जानना व श्रद्धान करना और विचारना जरूरी वताया

है। वे तत्व है—जीव, अजीव, आस्रव, बन्ध, सवर, निर्जरा और मोक्ष।

व्यवहार नय से मुनि के या श्रावक के व्रतो को पालना सम्यक्चारित्र है। निश्चय नय से अपने ही शुद्ध स्वरूप मे एकतान हो जाना सम्यक्चारित्र है। निश्चय नय से आत्मा ही सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान व सम्यक्चारित्र रूप एक मोक्ष का मार्ग है।

मुनि निश्चय तथा व्यवहार दोनो ही प्रकार के मोक्ष के मार्ग को आत्म ध्यान मे पा लेते है। इसलिए तुम लोग दत्तचित्त होकर ध्यान का भले प्रकार अभ्यास करो। जब आत्मध्यान मे एकता होती है तब निश्चय रत्नत्रय मे एकता हो ही रही है। उसी समय व्यवहार रत्नत्रय भी पल ही रहा है क्योकि उसके भीतर सात तत्वो का सार ज्ञान व श्रद्धान भरा हुआ है तथा वह आत्मध्यानी हिंसादि पाचों पापो से ध्यान के समय विरक्त है।

आगे कहा है कि जो आत्मा तप का साधन करता है, शास्त्र का ज्ञाता है, व व्रती है, वही ध्यान रूपी रथ को चला सकता है। इसलिए तप, शास्त्र, व व्रत इन तीनो में सदा लीन रहना चाहिए। जो आत्म-ध्यान करना चाहे उसको तप का प्रेमी होना चाहिए, ससार विषयो की कामनाएं मेंट कर निज सुख के रमण का प्रेमी होना चाहिए। जो इन्द्रियों के विषयो के लोलुपी है उनका ध्यान बड़ी कठिनता से जमता है। जैसे-जैसे चित्त बाहरी भोग उपभोगों की तरफ से हटेगा, वैसे-वैसे आत्मध्यान कर सकेगा। ध्यान के अभ्यासी को शास्त्रो का ज्ञान व उनका निरन्तर मनन करना चाहिए। शास्त्रो के द्वारा मन की कुज्ञान से बचकर सुज्ञान मे दृढता प्राप्त होती हैं। जितना साफ व अधिक तत्वो का ज्ञान होगा, उतना ही अधिक निर्मल ध्यान का अभ्यास होगा। इसी तरह ध्यान के अभ्यासी को व्रती भी होना चाहिए। या तो पूर्ण त्यागी साधु हो या एकदेशत्यागी श्रावक हो। व्रती नियमानुसार सर्व कार्य करते है। इसलिए ध्यान के लिए अवश्य समय को निकाल लेते हैं।

निर्मल आत्मा शरीर के वन्धन में कैसे फंसा ?

स्वच्छाकारद जीवनी तनुविनोदळ्तानेके सिळ्किर्दपं? ।
स्वेच्छामार्गदे तानुपार्जिसिद कर्माधीनदिं कर्ममुं ॥
तुच्छं क्रोधदेमानमायेगळिना लोभर्थदिं बन्दुदे ।
म्लेच्छाकार कषायमं सुडे सुखं रत्नाकराधीश्वरा ! ।११९।

हे रत्नाकराधीश्वर !

निर्मल जीवात्मा शरीर के वन्धन मे क्यो फंसा ? अपनी इच्छा के अनुसार किये हुए कार्य के फल स्वरूप ही उसको ऐसा वन्धन प्राप्त हुआ। नीच कर्म, राग, अहंकार और कपट से ही यह परिणाम हुआ। दुष्टो की क्रूरता के समान सभी हेय कपायो को जव तक भस्मसात नही किया जाय तव तक वन्धन से मुक्ति तथा सुख की प्राप्ति नही हो सकती।

इस श्लोक मे कवि ने वताया है कि हे आत्मा ! अनादि काल से शरीर के बन्धन मे पडकर वन्धन को ही अपना मान कर बैठा हुआ है इसलिए अनादि काल से इस जड पदार्थ के मोह से इस संसार मे परिभ्रमण कर रहा है। इसलिए जव यह जीव स्व और पर का ज्ञान कर लेता है तव वह संसार के वाह्य विपयो से मुख मोड़ करके अपने निज स्वरूप की तरफ झुक जाता है तव ससार सम्वन्धी विषय-वासना को दूर कर साधु व्रत धारण करता है। तव वह स्व पर ज्ञान के द्वारा अपने आत्मा को ठीक तरह से पहचानता है। तव वह मन मे विचार करता है कि रागरहित अनादि अनन्त एक वीतराग अवस्था ही मेरा स्वरूप है। ऐसा जिस समय भाव करता है तब संसार से मुक्त होने की सामग्री जुटा लेता है। तव अपने पुरुषार्थ के द्वारा सम्पूर्ण कर्मों को उग्र तपश्चर्या और संयम के द्वारा आत्म वल से या ध्यान के वल से सम्पूर्ण कर्म को जला देता है। इसलिए वीतराग तपस्वी हुए विना कर्म की निर्जरा नही हो सकती है अर्थात् मोक्ष की प्राप्ति नही हो सकती

है। कहा भी है कि—

स्वात्मारोपितशीलसंयमभरास्त्यक्तान्यसाहाय्यकाः ।
कायेनापि विलक्षमाणहृदया' साहाय्यकं कुर्वता ॥
तप्यंते परदुष्करं गुरुतपस्तत्रापि ये निस्पृहा ।
जन्मारण्यमतीत्य भूरिभयदं गच्छंति ते निर्वृतिम् ॥

यहाँ पर आचार्य ने मोक्ष के अधिकारी तपस्वियों का स्वरूप वताया है कि जो शील व संयम पालते हुए भी अपने आत्मा के स्वभाव में लीन होने को ही असली शील व संयम समझते है तथा जिन्होने अपने मन को ऐसा वश मे कर लिया है कि उस मन को दूसरों की मदद नहीं लेनी पड़ती है शास्त्र व गुरूपदेश का सहारा भी छोड़कर जिनका मन स्वरूप मे तन्मय है। यद्यपि इस शरीर की ही मदद से वे अपना आत्म-साधन करते है तथापि इससे अत्यन्त विरागी है—इनका सम्बन्ध मिटाना ही चाहते है। वास्तव मे उनका सारा उद्यम इस शरीर के कारावास से निकल कर स्वतन्त्र होने का है। शरीर को दुष्ट चाकर के समान कुछ थोडा सा भोजनपान देकर जीवित रखते है। ऐसे साधु निर्जन वन, पर्वत, नदी, वृक्षतल आदि कठोर व दुर्गम स्थानो पर खडे हो या बैठकर एकाग्र मन आत्माधीन हो तप तपते है तो भी उस तप में प्रेम नही रखते है, तप करने को वह एक सीढी मात्र जानते है, ध्यान अपने स्वाधीन सुख के लाभ मे ही रखते है। ऐसे वीतरागी आत्मरसी साधु-महात्मा ही कर्मो की निर्जरा करके भयानक ससार-वन से निकल कर परमानन्दमयी मोक्ष में पहुँच जाते है ।

आत्मा का स्वरूप शुद्ध ज्ञान, दर्शन, वीर्य आदि अनन्त गुणात्मक है। ज्ञानवरणीय आदि कर्मो ने आत्मा के स्वरूप को आच्छादित कर दिया है। मोहनीय कर्म ने इस जीव को विपरीत स्वभाव का बना दिया है, इस कारण संसारी आत्मा अपने असली स्वभाव का अनुभव नहीं कर पाता है। जब यह दोष और आवरण आत्मा से हट जाता है तो

आत्मा अपने निज शुद्ध रूप का अनुभव करने लगता है।

आत्मा का कर्मों के साथ बन्ध अशुद्ध अवस्था मे हुआ है। यह अशुद्धि अनादि काल से चली आ रही है। यदि कर्म बन्ध के पहले आत्मा को शुद्ध माना जाय तो बन्ध नही हो सकता है, क्योकि बन्ध अशुद्ध परिणामो मे होता है। अनादिकालीन अशुद्धता माने बिना बन्ध हो नही सकता है। यदि शुद्ध अवस्था मे बन्ध माना जाय तो मुक्तात्माओं को भी कर्मबन्ध का प्रसग आयेगा और ससारी तथा मुक्त जीव मे अन्तर ही नही रहेगा। बन्ध कार्य है, इसके लिए अशुद्धता रूपी कारण की आवश्यकता है, तथा अशुद्धता रूपी कार्य के लिए पूर्व बन्ध रूपी कारण की आवश्यकता है, अत. बीज और वृक्ष के अनादि सम्बन्ध के समान बन्ध और अशुद्धता का भी अनादि सम्बन्ध चला आ रहा है।

कर्मबन्धके कारण आत्मा मे राग-द्वेष की उत्पत्ति होती है, जिससे कर्मबन्ध होता है। कर्मबन्ध से शरीर और इन्द्रिया प्राप्त होती है इन्द्रियों से विषय ग्रहण करने से अशुद्धि आती है इस प्रकार कनकोपल के समान यह आत्मा अनादि काल से अशुद्ध चली आ रही है। अभिप्राय यह है कि आत्मा और कर्मों का बन्ध, केवल दोनो के सम्बन्ध मात्र से नही होता है, बल्कि दोनों के अशुद्ध भावों से होता है तथा दोनों की परस्पर अपेक्षा भी रखता है।

बन्ध दो तरह का होता है। एक तो वह है जो वस्तुओ के मेल हो जाने से ही होता है। जैसे पत्थरो का पत्थरो के साथ सम्बन्ध होने से होता है, यह बन्ध घनिष्ठ नही है। क्योकि सूक्ष्म पत्थर अपने सजातीय सूक्ष्म पत्थर के साथ तादात्म्य रूप से सम्बद्ध नही है। कर्म और आत्मा का यह बन्ध नही होता। दूसरा बन्ध चूने के लगाने से पत्थरो का जो आपस मे घनिष्ठ सम्बन्ध होता है, जिसमे सभी पत्थर एक रूप मे हो जाते हैं, प्रदेशात्मक है। जीव और कर्मों का यही प्रदेशात्मक बन्ध होता है।

जीव मे वैभाविक शक्ति रहने के कारण बन्धने की शक्ति है तथा

पुद्गल रूप कार्माण वर्गणाओं मे जीव को बांधने की शक्ति वर्तमान है। जीव और कर्म इन दोनों में बंधने और बाधने की शक्ति होने के कारण ही आत्मक्षेत्र में बन्ध हो जाता है। कारण स्पष्ट है कि जीव और पुद्गल इन दोनों मे वैभाविकी शक्ति वर्तमान है, जिससे इन दोनों का ही प्रदेशात्मक बन्ध होता है, अन्य द्रव्यो का नही।

आगम में बन्ध के तीन भेद बताये है—भावबन्ध, द्रव्यबन्ध और उभयबन्ध। आत्मा का राग-द्वेष रूप परिणाम भावबन्ध और बन्धने की शक्ति रखने वाली पुद्गल वर्गणाएँ द्रव्यबन्ध कहलाता है। भावबन्ध के निमित्त से पौद्गलिक कर्म और जीव प्रदेशो का एक रूप मे मिल जाना उभयबन्ध है। जीव अपने पुरुषार्थ द्वारा इस कर्मबन्ध तो तोड़ने पर ही स्वतन्त्र होता है।

समवशरण में भगवान आसन से चार अंगुल ऊपर विराज-मान हैं—

नेलदिं मेलोगे दैदुसासिरधनुः प्रामाण्यदोळ्कांचनो-
ज्ज्वलरत्नंगळिनाद मंडपद मध्यस्थानदोळ्सिंहदा।
तलेयोळ्तोर्परुणाब्जकर्णिकेगे चातुष्कागुलोद्देशदो-
ळ्गेलवांतिदे रवींदुकोटिकिरणा रत्नाकराधीश्वरा !

हे रत्नाकराधीश्वर !

आप करोड़ो सूर्य और चन्द्र के प्रकाश को धारण करने वाले है। आपने इस पृथ्वी के ऊपर पांच हजार धनुष के आकार मे सोने और रत्नो के प्रकाश में निर्मित लक्ष्मी-मण्डप के मध्य भाग मे स्वर्णमयी कमल की कणिका से चार अगुल के उन्नत प्रदेश मे, जय को प्राप्त किया था।

कवि ने इस श्लोक मे भगवान के समवशरण की रचना का वर्णन करते हुए अरहन्त का स्वरूप कहा है। कुन्दकुन्दाचार्य ने अरहन्त का

स्वरूप इस प्रकार कहा हैं कि—

णामे ठवणे हि य संदव्वे भावे हि सगुणपज्जाया ।
चउणागदि संपदिमे भावा भावंति अरहंत ॥

नाम स्थापना द्रव्य भाव से चार भाव कहिये कदार्थ हैं ते अरहंतकूं जनावे हैं बहुरि सगुणपर्याया कहिये अरहंत के गुण पर्यायनिसहित बहुरि चउणा कहिये च्यवन अरआगति बहुरि सम्पदा ऐसे ये भाव अरहंतकू जनावे है ।

दंसण अणंत णाणे मोक्खो णट्ठट्ठकम्मबंधेण ।
णिरुवम गुणमारूढो अरहंतो एरिसो होई ॥

जाकै दर्शन अर ज्ञान ये तो अनंत हैं घातियाकर्म के नाशतै सर्व ज्ञेय पदार्थनिकू देखना जानना जाकै है, बहुरि नष्ट भया जो अष्ट कर्मनिका बंध ताकरि जाकै मोक्ष है, इहां सत्व की अर उदय की विवक्षा लेनी केवली कै आठोंही कर्म का बन्ध नाहीं यद्यपि साता वेदनीय का बन्ध सिद्धान्त मे कह्या है तथापि स्थिति अनुभागरूप नाहीं तातै अबंधतुल्य ही है ऐसा आठूंही कर्म बन्ध के अभाव की अपेक्षा भावमोक्ष कहिये, बहुरि उपमारहित गुणनिकरि आरूढ है सहित है ऐसे गुण छद्मस्थमै कहूंही नांही तातै उपमामारहित गुण जामैं है ऐसा अरहंत होय ।

जरवाहिजम्ममरणं चऊगइगमणं च पुण्ण पावं च ।
हंतूण दोसकम्मे हुउ णाणमयं च अरहंतो ॥

जरा कहिये बुढापा अर व्याधि कहिये रोग अर जन्म मरण च्यार गतिनिविषै गमन पुण्य बहुरि पाप बहुरि दोषनिका उपजावनेंवाला कर्म तिनि का नाशकरि अर केवलज्ञानमयी अरहंत हुवा होय सो अरहंत है ।

गुणठाणमग्गणेहिं य पज्जत्तीपाणजीवठाणेहिं ।
ठावण पंचविहेहिं पणयव्वा अरहपुरिसस्स ॥

गुणस्थान मार्गणास्थान पर्याप्ति प्राण बहुरि जीवस्थान इनि पांच

प्रकार करि अरहत पुरुष की स्थापना प्राप्त करनो अथवा ताकूं प्रणाम करना।

तेरहमे गुणठाणे सजोइकेवलिय होइ अरहंतो।
चउतीस अइसयगुणा होंति हु तस्सट्ठ पडिहारा॥

गुणस्थान चौदह कहे है तिनिमै सयोगकेवली नाम तेरहमा गुणस्थान है तिसविषैं योगनिकी प्रवृत्ति सहित केवलज्ञानकरि सहित सयोगकेवली अरहंत होय है, वहुरि चौतीस अतिशय ते है गुण जाकै बहुरि ताके आठ प्रातिहार्य होय है ऐसा तौ गुणस्थानकरि स्थापना अरहत कहिये।

प्रयत्न करने पर कोई भी व्यक्ति निर्वाण प्राप्त कर सकता है। तीर्थंकरो ने भी समवशरण मे जीवो को मोक्ष मार्ग का उपदेश देकर ध्यान द्वारा अघातिया कर्मो को नष्ट कर निर्वाण प्राप्त किया है। उनकी जय निर्वाण प्राप्ति ही है, क्योकि ससार अवस्था में जय नही, जय स्वतन्त्र होने पर ही हो सकती है। मोक्ष का मार्ग रत्नत्रय है इसकी प्राप्ति के बिना मोक्ष नही मिल सकता।

रत्नत्रय मे सबसे पहला स्थान सम्यग्दर्शन का है, क्योकि इसकी प्राप्ति के बिना एक कदम भी इस मार्ग मे नही बढा जा सकता है। यद्यपि सम्यग्दर्शन और सम्यग्ज्ञान साथ साथ उत्पन्न होते है, क्योकि दर्शन मोहनीय कर्म का उपशम, क्षय या क्षयोपशम होते ही कुमति, कुश्रुत आदि अज्ञानो की निवृत्ति हो जाती है, जिससे मतिज्ञान, श्रुतज्ञान आदि सम्यग्ज्ञानों की उत्पत्ति होती है। यो तो सम्यग्दर्शन सम्यग्ज्ञान को उत्पन्न नही करता है, क्योकि सम्यग्ज्ञान की उत्पत्ति ज्ञानावरणीय कर्म के क्षय या क्षयोपशम से होती है, पर ज्ञान में सम्यक्पना सम्यग्दर्शन के होने पर ही आता है। सम्यग्दर्शन की उत्पत्ति चौथे गुणस्थान मे होती है और उसकी पूर्ति सातवे गुणस्थान मे नियमत. हो जाती है, परन्तु ज्ञान की पूर्णता वारहवे गुणस्थान के अन्त मे तेरहवे के प्रारम्भ मे होती हैं।

सम्यक्चारित्र पांचवे गुणस्थान मे उत्पन्न होता है। चारित्र की

पूर्ति तेरहवे गुणस्थान के अन्त मे होती है। यद्यपि स्वरूपाचरण चारित्र सम्यग्दर्शन के उत्पन्न होने पर प्राप्त हो जाता है, पर क्रिया रूप चारित्र पाचवे गुणस्थान मे होता है। यथाख्यात चारित्र की प्राप्ति बारहवें गुणस्थान में हो जाती है। तेरहवे गुणस्थान में योग के रहने के कारण चारित्र निर्दोष नही माना जाता है, क्योंकि कर्म को ग्रहण करनेवाला योग मौजूद रहता है। यद्यपि यहा कर्मो का आस्रव चारित्र को अशुद्ध नहीं बनाता है, फिर भी आत्मा को अशुद्ध करने के समान यहा चारित्र भी अशुद्ध माना गया है। इसी कारण यथाख्यात चारित्र की पूर्णता चौदहवे गुणस्थान मे बतायी गयी है। रत्नत्रय के पूर्ण हो जाने पर उत्तर क्षण मे मोक्ष की प्राप्ति हो ही जाती है। योगशक्ति वैभाविक दशा से शुद्धावस्था मे यही आती है, अत निर्वाण प्राप्ति भी रत्नत्रय की पूर्णता मे होती है।

आत्मा को शुद्ध करने के इस रत्नत्रय के मार्ग का अनुसरण करना आवश्यक है। प्रत्येक व्यक्ति को आत्म विश्वास, आत्म ज्ञान और सदाचार रूप आत्माचरण का पालन करना आवश्यक है। तीर्थंकर भगवान् ने भी इस रत्नत्रय मार्ग का अनुसरण कर ही जय प्राप्त की है।

शरीर आत्मा का स्वरूप नही है—

जोन्नंबोल् नयनक्के तोरि करदिदं मुट्टलिल्लाद सं-
पन्नाकारदोळिर्दपं विमलसिद्धक्षेत्रदोळ्सिद्धन ।
चिछन्नज्ञानसमेतनष्टगुणगांभीर्यात्मनंदिच्छेयिं ।
निन्नं ध्यानिसुवंगे मुक्तयरिदे रत्नाकराधीश्वरा ! ॥१२१॥

हे रत्नाकराधीश्वर !

सम्पूर्ण ज्ञान के साथ रहने वाले, सम्यक्त्व, ज्ञान, दर्शन, वीर्य, सूक्ष्मत्व, अवगाहनत्व, अगुरुलघुत्व और अव्याबाधत्व इन आठ गुणो से युक्त तथा गम्भीर स्वरूप वाले, जिस प्रकार चन्द्र-ज्योत्स्ना आखो द्वारा

देखी जाती है, उसी प्रकार ज्ञानादि सम्पत्ति से युक्त निर्मल और सिद्ध अवस्था में रहने वाले और प्रेम से आपका ध्यान करने वाले को क्या मोक्ष असाध्य है।

समस्त कर्मों को नाश कर मोक्ष की प्राप्ति होती है। मोक्ष प्राप्त कर लेने पर आत्मा मे स्वाभाविक आठ गुण प्रकट हो जाते है। परम सुख, शान्ति और पूर्ण स्वतन्त्रता इस मोक्ष में ही वर्तमान है। इसकी प्राप्ति के लिए ही जीव अनादि काल से जब तब प्रयत्न करता चला आ रहा है। मोक्ष की प्राप्ति रत्नत्रय की पूर्णता होने पर ही होती है तथा इसके लिए मुनिपद धारण करना पडता है। गृहस्थावस्था में रह-कर कोई भी व्यक्ति मोक्ष प्राप्ति के लिए तैयारी कर सकता है। भेद-विज्ञान द्वारा अपने स्वरूप का विचार करना तथा निरन्तर आत्मद्रव्य को ससार के समस्त पदार्थो से भिन्न, अलौकिक शक्तिधारी सोचना और तदनुकूल आचरण करना ही गृहस्थावस्था का पुरुषार्थ है। शरीर और भोगो से परम उदासीनता धारण करना एवं परिणामो मे विरक्ति लाना गृहस्थ जीवन मे स्वतन्त्रता प्राप्ति के लिए साधन है।

ज्ञानी अपनी आत्मा को सदा देखता है कि यह समस्त कर्म बन्धनो से रहित है, किसी से मिली नही है, शुद्ध है, आकाश की तरह निर्मल और परिग्रह से रहित है। अतीन्द्रिय सुख, अनन्तज्ञान, अनन्तदर्शन और अनन्तवीर्य की मूर्ति है। वह सोचता है कि इन्द्रिय सुख अनित्य है, इसमे एक क्षण के लिए भी शान्ति नही। यह सुखाभास है, कालान्तर में दुःख रूप ही परिणमन करता है। आत्मद्रव्य कभी भी अन्य द्रव्य रूप परिणत नही हो सकता है। यह नियम अटल है कि कोई भी पदार्थ किसी भी दूसरे पदार्थ के साथ कभी भी तन्मय नही होता है। प्रत्येक वस्तु अपनी पृथक् सत्ता को धारण किये है। अतः अमूर्तिक आत्मा अपने स्वरूप और आकाश को भी नही छोडती है। शरीर के साथ मिलने पर भी यह आत्मा मूर्तिक नही हो सकती है। यद्यपि शरीर के साथ वन्धी हुई यह आत्मा मालूम पड़ती है, पर वह इसका स्वरूप नही। शरीर

पुद्गल है, जड़ है और न उसमें चेतन क्रिया पायी जाती है।

आत्मा का स्वरूप चेतन है, जानने देखने की शक्ति आत्मा मे ही पायी जाती है, उसी के निमित्त से कार्य होते हैं। अत आत्मा कभी भी शरीर रूप नही हो सकती है और न शरीर ही कभी आत्मरूप हो सकता है। गुणभद्राचार्य ने आत्मानुशासन मे इसी का स्पष्टीकरण किया है :—

न कोप्यन्योन्येन व्रजति समवायं गुणवता,
गुणी केनापि त्व समुपगतवान् रूपभिरमा।
न ते रूपं ते यानुपव्रजसि तेषां गतमति-
स्ततश्छेद्यो भेद्यो भवसि वहुदुःखे भववने॥

अर्थात्—कोई भी द्रव्य अपने स्वभाव को छोड़कर अन्य द्रव्य के स्वभाव को नही प्राप्त होता है, शरीर इस आत्मा का स्वरूप नही है, जो भ्रमवश इस शरीर को अपना मान रहा है, इसी से छेदन, भेदन, आदि नाना प्रकार के कष्ट भोग रहा है। अतः प्रत्येक व्यक्ति को पर द्रव्यों से भिन्न अपने को स्वतन्त्र समझना चाहिए।

**क्षमे माळ्पंते विरोध में कुडुवदेसंतोषमंतत्व शा-
स्त्रमे माळ्पंतेकुशास्त्रमें कुडुवदे सुज्ञानमं मोक्ष रा-
ज्यमे माळ्पंते चतुःस्थळं कुडुवदेसिद्धत्वमं निम्म ध-
र्ममे कावंतेनगन्यरें पोरेवरे रत्नाकराधीश्वरा !॥१२२॥**

हे रत्नाकराधीश्वर !

सहनशीलता से विजय प्राप्त करने में आनन्द आता है। यह आनन्द राग-द्वेष में प्राप्त नही हो सकता। वस्तु स्वरूप का यथार्थ विवेचन करने वाले शास्त्र ही ज्ञान को उत्पन्न कर सकते हैं। मिथ्या शास्त्र ज्ञान नही दे सकते। जिस प्रकार मोक्ष स्थान ही सिद्ध स्वरूप को उत्पन्न करता है उस प्रकार नरक, तिर्यंच, मनुष्य और देव ये चार गतिया सिद्धस्वरूप को उत्पन्न नही कर सकती। अत जिस प्रकार आपका धर्म मेरी रक्षा

कर सकता है क्या उस प्रकार कोई अन्य वस्तु मेरी रक्षा कर सकती है ?

कषाय और विकारो के जीतने से ही वास्तविक आनन्द की प्राप्ति की जा सकती है। इन्द्रिय और पदार्थ के सम्बन्ध से जो ज्ञान होता है, वह असयम या अकल्याणकारी नही किन्तु इन्द्रिय और पदार्थ के सम्बन्ध होने पर जो राग-द्वेष रूप परिणाम होते है, वे ही असंयम करने वाले और अकल्याणकारी है। राग-द्वेष रूप परिणामों को रोकना ही कल्याण मार्ग का पथिक बनना है। संसार से छुटकारा पाने के लिए संयम को धारण करना आवश्यक है, क्योंकि राग-द्वेष रूप प्रवृत्ति को संयम ही रोक सकता है।

संयम के दो भेद हैं—इन्द्रिय संयम और प्राणी सयम। इन दोनो सयमो मे पहले इन्द्रिय संयम धारण करना चाहिए, क्योंकि इन्द्रियो के वश हो जाने पर प्राणियों की रक्षा अपने आप हो जाती है। इन्द्रिय सम्बन्धी लालसाओ का रुक जाना ही इन्द्रिय सयम कहलाता है। षट्-काय के–पृथ्वीकायिक, जलकायिक, अग्निकायिक, वायुकायिक, वनस्पति-कायिक और त्रसकायिक जीवो की रक्षा करना प्राणी सयम है।

इन्द्रियो की लालसा के बढ़ने से ही नाना प्रकार के अनर्थ होते है। इन्द्रियाधीन होकर ही मनुष्य अभक्ष्य भक्षण करता है, निन्द्य पदार्थों का सेवन करता है। जान-बूझ कर भी इद्रियो के आधीन होकर व्यसन सेवन करता है, जिससे भयंकर रोगो का शिकार होता है तथा धन सम्पत्ति बरबाद कर संसार मे कष्ट पाता है, अपकीर्ति होती है। अत इन्द्रिय और मन को आधीन करना चाहिए। अनर्थ की जड़ इन्द्रियाधी-नता को छोडने के लिए सत् शास्त्रोंका अध्ययन करना चाहिए। क्योकि ज्ञान विषय-दावाग्नि को शान्त करने के लिए वर्षा के समान है इससे जीव की सभी आकुलताएँ और व्याधियाँ नष्ट हो जाती है।

कुशास्त्रो के अध्ययन और मनन से राग-द्वेष रूप प्रवृत्ति और अधिक बढती है, तथा जीव अधर्म की ओर चला जाता है। अपने स्वभाव से च्युत होकर परस्वभाव को ग्रहण करता है। कविवर बनारसीदास ने

सच्चे शास्त्र का स्वाध्याय व श्रवण न करने वाले का सुन्दर वर्णन किया है।

ताको मनुज जनम सब निष्फल, मन निष्फल निष्फल जुग कान
गुण अरु दोप विचार भेद विधि, ताहि महा दुर्लभ है ज्ञान ।।
ताको सुगम नरक दु.ख सकट, अगमपथ पदवी निर्वान ।
जिनमत वचन दयारस गर्भित जे न सुनत सिद्धान्त वखान ।।

अर्थात्—उसका मनुष्य जन्म निष्फल है, मन और दोनो कान भी निष्फल है तथा वह गुण और दोपो का भी विचार नही कर मकता है, समस्त दु ख और सकट भी वह सहन करता है जो दया गर्भित जिनागम का स्वाध्याय नही करता।

जिस शास्त्र से जीव की इह लोक और परलोक की गति सुधरे ऐसे शास्त्र का अध्ययन करना चाहिए। वह शास्त्र भी सर्वज्ञ वीतराग भगवान के द्वारा कहा हुआ निदोप होना चाहिए अर्थात् १८ दोप रहित भगवान वीतराग के मुख से निकली हुई जो वाणी है उसी को शास्त्र आगम या जिनवाणी कहते हैं। ये शास्त्र चार प्रकार के अनुयोग के रूप मे विभाजित किये गये है। वे इस प्रकार हैं—प्रथमानुयोग, करणानुयोग, चरणानुयोग, द्रव्यानुयोग। मनुष्य की बुरी आदत या अशुभ कर्म को रोकने के लिए सबसे पहले प्रथमानुयोग शास्त्र का अध्ययन करना चाहिए। प्रथमानुयोग शास्त्र मे पुण्य पुरुपो की कथाएँ, उनके विचार तथा जीवन चरित्र, सच्चे आचरण होते है। उनके पवित्र जीवन पढना चाहिए। इसके पढने से मनुष्य के अन्दर सदाचार वृत्ति जागृत हो कर पाप की वृत्ति रुक जाती है। इसके बाद इन्द्रिय विपय की वासना घट जाती है तब वही सयम के प्रति झुक जाता (चरणानुयोग) है। फिर पाप पुण्य का भली भाँति विचार करके लोक की परिस्थिति, लोक का स्वरूप तथा व्यवस्था विचार करने के लिए करणानुयोग की प्रवृत्ति होती है। इस प्रकार जब लोक की स्थिति समझ लेता है तो वह जगत मे रहने

वाले जितने भी पदार्थ है, वे मेरे आत्मा से भिन्न हैं ऐसी उसकी विचार-धारा मजबूत हो जाती है। इसलिए प्राणी संयम की तरफ इसकी मनोवृत्ति झुक जाती है। तब जीव लोक की स्थिति अच्छी तरह समझने के बाद स्व और पर को जानकर अपने आत्मस्वरूप की तरफ झुकने लगता है और पाप और पुण्य की प्रवृत्ति को हेय समझ कर अपनी आत्मा में रत होकर सम्पूर्ण कर्म की निर्जरा करके मोक्ष की प्राप्ति कर लेता है। (द्रव्यानुयोग)

जो भगवान का ध्यान करता है उसको सब ही अपना देशी मालूम होता है

निन्नं चिंतिसुतिर्पवंगे परदेशं तन्नदेशं परर् ।
तन्निष्टर् पगेगळ्भरदोंरेगलात्मस्नेहि तर्किष्टु आ ।
वन्नं व्याधि सुखं विषं सुधेयनिक्कु नोडे नीनिर्दुभा ।
निन्नांदक्केळसिर्पनेकयकटा रत्नाकराधीश्वरा ! ॥१२३॥

हे रत्नाकराधीश्वर !

जो आपका ध्यान करता है उसको दूसरा देश भी अपना ही देश सा जान पड़ता है। अन्य लोक आत्म इष्ट-सा दीख पड़ता है। युद्ध करने वाला शत्रु राजा मित्र बन जाता है, अग्नि चन्दन सी शीतल हो जाती है। विष अमृत के रूप मे परिवर्तित हो जाता है। इतना महिमान्वित जानकर भी आपको छोड़ कर मनुष्य इधर-उधर क्यो भटकता फिरता है।

तीर्थंकर प्रभु की अपार महिमा होती है। उनकी सेवा और स्मरण से असंभव कार्य भी सिद्ध हो जाते हैं। यद्यपि सभी भव्य आत्माओं में निर्वाण प्राप्त करने की शक्ति वर्तमान है, पर जो रत्नत्रय मार्ग का अनुसरण करते हैं, वे कभी न कभी निर्वाण को प्राप्त कर ही लेते हैं।

संसार के सभी प्राणी सुख चाहते है, और इस सुख के लिए निरतर प्रयत्न करते रहते हैं। परन्तु यह सुख तब तक नही प्राप्त हो सकता

माला फेरता हुआ एक श्रावक

है, जब तक जीव सुखबाधक अनिष्ट कर्म को नष्ट न कर दे। अनिष्ट कर्मो का नाश एकमात्र सच्चे चारित्र से होता है। तथा यह चारित्र भी बिना ज्ञान के प्राप्त नही हो सकता है। ज्ञान भी तभी सच्चा माना जायगा जब आत्म विश्वास उत्पन्न हो जाय और अनात्मिक भावनाएँ जीव से पृथक् हो जायें। जब कोई भी व्यक्ति अपने स्वरूप का विश्वास कर लेता है, अपनी आत्मा को संसार के पदार्थो से भिन्न और स्वतन्त्र अनुभव करता है, उस समय उसे अपूर्व शान्ति मिलती है। कविवर बनारसीदास ने इस बात को स्पष्ट करते हुए बताया है कि :—

करम के चक्र मे फिरत जगवासी जीव
हृ्वै रह्यो बहिर मुख व्यापत विपमता।
अन्तर सुमति आई विमल बढाई पाई
पुद्गल सों प्रीति टूटी छूटी माया ममता॥
शुद्ध नै निवास कीन्हो अनुभौ अभ्यास लीन्हों,
भ्रमभाव छांड़ि दीनो भीनो चित समता।
अनादि अनन्त अविकल्प अचल ऐसो,
पद अवलम्बी अवलोके राम रमता॥

अर्थात्—कर्म के चक्र के कारण यह जीव वहिर्मुख होकर ससार मे जन्म-मरण के दु ख उठा रहा है। जब इसके अन्तरंग मे सुबुद्धि आ जाती है, तो यह बड़प्पन को प्राप्त होता हुआ पुद्गल से माया-ममता को छोड देता है। आत्मानुभूति के आ जाने से यह शुद्ध हो जाता है और समस्त भ्रम भाव दूर हो जाते हैं तथा समता इसके हृदय मे उत्पन्न हो जाती है। जिस दृष्टि की विपमता ने जीव को इतना दुखी बनाया था, जिससे वह अपने स्वरूप को भी नही देख सकता था, वह विपमता निकल जाती है। तथा अनादि, अनन्त, अचल और अविनश्वर अपने स्वरूप मे रमण करता है।

इसमे भेदविज्ञान के आ जाने से राग-द्वेप, मोह, जिनके कारण

आस्रव हो रहा था, की उत्पत्ति नही होती है। चित्तभूमि निर्मल, स्वच्छ और विकाररहित हो जाती है। कर्मचेतना और कर्मफल चेतना इन दोनो का अभाव हो जाता है तथा जीव ज्ञानचेतना का अनुभवी वन जाता है। ज्ञान-चेतना के प्रकट होते ही भ्रम बुद्धि निकल जाती है, जिससे मिथ्यात्व, मोह, अज्ञान आदि दूर हो जाते है। जैसे दीपक काजल को अपने मे से वाहर करता हुआ प्रकाश को फैलाता है, उसी प्रकार भेदविज्ञानी कर्मरूप कालिमा को अपने से वाहर निकालता हुआ स्व-पर ज्ञान का विस्तार करता है। चारित्र, ज्ञान और श्रद्धा ये तीनो ही समुदित अवस्था मे जीव के अनात्मीय भावो का परिष्कार कर उसे स्वावलम्वी वनाते हैं। अतएव रत्नत्रयधारी जीवो का आश्रय लेने से व्यक्ति अपना उद्धार करने मे समर्थ होता है।

उपरोक्त श्लोक मे कवि ने वताया है कि जो मनुष्य अपने आत्मा को अपने आत्मा मे स्थिर करता है, वही अपने आपका मित्र है व जो ऐसा नही करता है वह अपने आत्मा का शत्रु है—

व्यापार परिमुच्य सर्वमपरं रत्नत्रयं निर्मलम् ।
कुर्वाणो भृशमात्मनः सुहृदसावात्मप्रवृत्तोऽन्यथा ॥
वैरी दुःसहजन्मगीतभवने क्षिप्त्वा सदा पातय–
त्यालोच्येति स तत्र जन्मचकितै. कार्यः स्थिरः कोविदै. ॥

यहाँ आचार्य ने वताया है कि वह आत्मा अपने आत्मा का घातक तथा शत्रु है, जो ससार के अनेक व्यापारो मे तो उलझता है परन्तु अपने आत्मा के ध्यान को कभी नही आचरण करता है क्योकि वह जीव नाना प्रकार के पाप कर्मो को वांधकर अपने आत्मा को नरक, निगोद, पशुगति आदि के महान् कष्टो मे डाल देता है। फिर उसको ससार मे सुखी होने का मार्ग कठिनता से मिलता है और वह मोक्ष-मार्ग से दूर होता जाता है। परन्तु जो कोई वुद्धिमान सव शरीर सम्वन्धी व्यापारो को त्यागकर निर्मल सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान और सम्यक्चारित्र

को भले प्रकार पालता हुआ अपने आत्मा के ध्यान मे लय पाता है वह अपने आत्मा का मित्र है। क्योकि ध्यान के वल से वह कर्मों का नाश करता है, आत्मा मे सुख-शाति तथा वल को वढाता है और मोक्ष के मार्ग को तय करता जाता है । ऐसा जानकर जो कुछ भी बुद्धि रखते हैं, उनका कर्तव्य है कि रागद्वेष भूलकर सर्व ही व्यापारो को छोडकर ऐसा उपाय करे जिससे अपने आत्मा मे स्थिरता पावें और फिर मुक्त हो जावें।

बुद्धिमानो को आत्मघाती होना वडा भारी पाप है । जो अपने आत्मा की रक्षा करता है वह आत्मा का सच्चा मित्र है।

सुभाषितरत्नसदोह मे स्वामी अमितगतिजी कहते है :—

यद्वच्चित्तं करोषि स्मरशरनिहतः कामिनीसंगसौख्यं ।
तद्वत्त्व चेज्जिनेन्द्रप्रणिगदितमते मुक्तिमार्गे विदध्या. ॥
किं किं सौख्यं न यासि प्रगतनवजरामृत्युदु खप्रपच ।
सचिन्त्यैव विधिस्त्वं स्थिरपरमधिया तत्र चित्तास्थिरत्वम् ॥

जिस प्रकार तू कामदेव के वाण से बीधा हुआ स्त्री-भोग के सुख मे अपना मन लगाता है उसी तरह यदि तू श्री जिनेन्द्र भगवान के कहे हुए मोक्ष के मार्ग मे चित्त को जोड़ दे तो तू जन्म जरा मरण के दुःखों के प्रपच से रहित क्या-क्या सुख को न प्राप्त करे ? ऐसा विचार कर अपनी वुद्धि को उत्तम रूप से स्थिर करके उसी धर्म मे स्थिरता रखनी चाहिए ।

सम्यग्ज्ञान का हो जाना ही पर्याप्त है—

नोनानेंवरिवागे साकु सिरिये दारिद्र्यमें ग्राममें ।
कानें पालुणिसें कदन्नदुनिसे निवंधमें राज्यमें ॥
ई नानाविधियेल्लवुं कनसिवं कोंडेनो निन्नेन्न सं-
धानं नित्यसुकैकविन्नुळिदुवं रत्नाकराधीश्वरा ! ॥१२४॥

हे रत्नाकराधीश्वर !

आप ही 'मैं हूँ' ऐसा ज्ञान होना इतना ही पर्याप्त है फिर वाह्य ऐश्वर्य क्या, दरिद्रता क्या, नगर क्या, मलाई का आहार क्या, अच्छा भोजन क्या, कारागार क्या, राज ऐश्वर्य क्या, अनेक प्रकार के व्यवहार क्या, ये सभी स्वप्न के समान हैं । आप जो है वही मै हूँ इसका ज्ञान होने के वाद ये सब चीजे स्वीकार करने से क्या प्रयोजन है । आप और मेरा एक होना ही मुख्य सुख है । शेप क्या प्रयोजन है अर्थात् सब चीजे निष्प्रयोजन है ।

कवि ने इस श्लोक मे बताया है कि ज्ञानी आत्मा को स्व और पर का ज्ञान हो जाता है तब वह विचार करता है कि हे भगवन् ! आपका जो स्वरूप है वही मेरा स्वरुप है । इतना ज्ञान होने के बाद संसार के अनेक भोग सम्बन्धी पर वस्तु क्या, अमृतमयी भोजन क्या, श्मशान क्या, राज्य क्या, ऐश्वर्य क्या, ये सभी स्वप्न के समान ही मालूम होते है । इसलिए आपका स्वरूप और मेरा स्वरूप ये दोनो एक होने के वाद अन्य व्यावहारिक सुख का प्रयोजन क्या । इसी तरह से ध्यान करने से पर वस्तु का सयोग मिट जाता है और आत्मा पर श्रद्धान होने के वाद कर्म की निर्जरा होने लगती है । मुक्ति सुख के प्राप्त करने की भी उसकी इच्छा नही होती है । ये ही ज्ञानी जीव का कर्तव्य है ।

ज्ञानमयी आत्मा को छोड़कर जो अन्य पदार्थ का ध्यान करते हैं, वे अज्ञानी हैं । ज्ञान के जागृत हो जाने पर आत्मा के स्वरूप की उपलब्धि होती है, अतः ज्ञानस्वरूप आत्मा का ही ध्यान करना चाहिए । भौतिक पदार्थों से सुख और शांति नही मिल सकती है, क्योकि ज्ञानस्वरूप आत्मा की प्राप्ति ही स्वाधीनता है, इसमे कोई विघ्न नही है, भोगो का अनुराग पराधीनता है । समयसार में आचार्य ने कहा है कि हे जीव ! तू आत्मस्वरूप मे सदा लीन हो, और इसी मे सदा सन्तुष्ट रह, इसी से तुझे तृप्ति होगी और शांति प्राप्त कर सकेगा । मिथ्यात्व, विपय, कपाय आदि बाह्य पदार्थों का अवलम्बन इस जीव की स्वा-

षीनता का अपहरण करते हैं। सच्चा ज्ञान वास्तव मे नित्यानन्द अखण्ड स्वभाव शुद्धात्मा को शुद्ध और दु ख के कारण शरीर से भिन्न पहचानना है।

दुक्खु वि सुक्खु सहसुजिय णाणिउ झाणणिलीणु।
कम्मएँ णिज्जर हेउतउ वुच्च इसग विहीणु ॥

हे जीव ! वीतराग स्वसवेदन ज्ञानी आत्मध्यान मे लीन दु ख और सुख को सम भावो से सहता है। अभेद नय से यह शुभ अशुभ कर्मो की निर्जरा का कारण है, ऐसा भगवान ने कहा है, और वाह्य और आभ्यतर परिग्रह रहित, परद्रव्य की इच्छा के निरोधरूप वाह्य-आभ्यतर अन-शनादि वारह प्रकार के तप करने वाला भी ज्ञानी है।

व्यवहार नय की दृष्टि से यह मानव शरीर भले ही उपयोगी दिख-लायी पड़े, पर वास्तव मे इसमे कुछ भी सार नही है। तिर्यंचो का शरीर मनुष्य के शरीर की अपेक्षा उपकारी है, उनके अग प्रत्यग मरने पर भी काम मे आते हैं। जानवरो के मरने पर उनकी खाल जूतो, वैगो, फीतो आदि के काम मे लाई जाती है, सीगो से कघे वनते हैं; हड्डी का खाद वनता है, नस, मास, रुधिर, पूंछ सभी विभिन्न कामो मे आते हैं। आज कल तो कई जानवरो की खालो के कपड़े, वालो की टोपियाँ, वच्चो के कोट, चमर आदि भी वनने लगे है। इस प्रकार हम देखते है कि जानवर जिन्दा रहे तो काम आते है और मर जाएँ तो काम आते हैं। किन्तु मनुष्य का शरीर जीवित अवस्था मे विषय-भोगो के काम मे लाया जाता है और मरने पर घर वाले भी अधिक देर तक घर मे नही रहने देते। फौरन जला देते हैं या गाढ़ देते है। लेकिन अगर विचार किया जाय तो इस शरीर से धर्म-साधन किया जा सकता है, यही इसका सार है। जिस प्रकार घुना हुआ गन्ना चूसने के काम मे नहीं आता, पर उसका वीज वोया जा सकता है और आगे की फसल उत्पन्न की जा सकती है। इसी प्रकार इस शरीर से वीतराग, परमानन्द शुद्धात्म स्वभाव के सम्यक् श्रद्धान, ज्ञान और चारित्र रूप रत्नत्रय की

भावना से मोक्ष प्राप्त किया जा सकता है। सम्यग्ज्ञान यही है कि इस मानव शरीर को प्राप्त कर परलोक सुधारा जाय, इससे जितना बने उतना धर्म का काम लिया जाय। शुद्धोपयोगी विवेकी व्यक्ति शीलादि गुणो से युक्त होकर आत्मशोधन के मार्ग मे प्रवृत्त होता है।

राग-द्वेष रूप प्रवृत्ति के होने पर आत्मज्ञान की उपलब्धि नही होती है। स्वसवेदन रूप ज्ञान की अनुभूति तभी होती है जब ससार के पदार्थों से ममत्व बुद्धि दूर की जाय। जीवन-मरण, लाभ-अलाभ मे समाव रहना एवं पर पदार्थो से अपने को पृथक् समझना आवश्यक है। पर पदार्थों के सम्बन्ध से चिन्ता उत्पन्न होती है, उससे शरीर मे दाह उत्पन्न होता है, जिससे राग-द्वेप रूपी कल्लोले रत्नत्रय को दूषित करती है। अभिप्राय यह है कि वीतराग निर्विकल्प परम समाधि की भावना से विपरीत रागादि अशुद्ध परिणाम परद्रव्य है, इनका त्याग ही सच्चा विवेक है, इसी के द्वारा जीव अपने अभीष्ट कार्य की सिद्धि करता है। यो तो परद्रव्य आत्मा के लिए भावकर्म, द्रव्यकर्म और नोकर्म है, क्योंकि आत्मस्वरूप को ये विकृत करते है। आत्मा जब इन कर्मो से मुक्त हो जाता है, तभी स्वतन्त्र होता है। जिनेन्द्र प्रभु ने आत्मस्वतन्त्रता को प्राप्त कर लिया है तथा हमारी आत्मा में शक्ति की अपेक्षा से स्वतन्त्रता वर्तमान है। अतः हम भी कालान्तर मे अपने पुरुपार्थ द्वारा भगवान् हो सकते हैं। सभी भव्य आत्माएँ शक्ति की अपेक्षा भगवान है। हे भगवन् ! मैने मन्द बुद्धि से जैसा मन मे आया, वैसा कहा

नडेदें चित्तके वंदवोलनुडिदे नां वाय्गिच्छे बंदते सं-
गेडेदें दुःखसमुद्रद ळ्पडेनंधं कण्गळं पेत्तवोल् ।
बिडेनिम्मंघ्रिगळंबिडें बिडेनुदारं नीनहो ! बल्लेने-
न्नोडेया रक्षिसु रक्षिसा तळुविदें रत्नाकराधीश्वरा! ॥१२५॥

हे रत्नाकराधीश्वर !

जैसा मन मे आया वैसा मैंने निवेदन किया। कष्ट के समुद्र में धैर्य

बध गया। जिस प्रकार अन्धे को आँख मिलती है, मैंने भी आपको वैसे ही प्राप्त किया है। आपके चरण को नही छोड़ूँगा, कदापि नही छोड़ूँगा। हे प्रभो! मैं आपको श्रेष्ठ समझता हूँ। देरी न करो, रक्षा करो, रक्षा करो, प्रभो!

ससार के दुःख से पीड़ित भक्त भगवान से प्रार्थना करता है कि हे वीतरागी भगवन्! आप राग-द्वेष से रहित है, फिर भी आपके गुणो के चिन्तन से मुझे अपने गुणो का आभास हो जाता है, मैं अपने गुणो को प्राप्त कर लेता हूँ। भगवान को कर्त्ता धर्त्ता मानकर उनकी स्तुति करना मिथ्यात्व का कारण है। मिथ्यादृष्टि अज्ञानी जीव भगवान की अर्चा, उनका गुणानुवाद पुत्र-प्राप्ति की इच्छा, धन-लाभ की कामना स्वर्गादि सुखो को पाने की लालसा से करता है। किन्तु उसका यह धार्मिक क्रियाकाण्ड नाना प्रकार के कष्टो को देने वाला एवं संसार-भ्रमण का कारण होता है। सम्यग्दृष्टि जीव का प्रत्येक धर्माचरण कषायो और मन, वचन और काय के व्यापार को रोकने मे सहायक होता है।

सम्यग्दृष्टि जीव मिथ्यात्व, अविरति, प्रमाद, कषाय और योग इन निमित्तो से होने वाले आस्रव को रोक कर, नित्यानन्द सुखामृत स्वरूप अपने निज रूप को प्राप्त करता है। आहार, भय, मैथुन और परिग्रह भेदरूप सज्ञाएँ तथा अन्य प्रकार के समस्त विभावो को अपने से अलग करता हुआ जन्म-मरण तृषा क्षुधा आदि अठारह दोषो से रहित परमात्मा का ध्यान करता है। यह परमात्मा शुद्धात्मा से भिन्न कोई विलक्षण शक्तिधारी नही है, बल्कि अपने शुद्धात्मस्वरूप ही है।

आठ मद, आठ मल, छः अनायतन और तीन मूढताएँ, ये पच्चीस दोष सम्यग्दर्शन के है। मिथ्यादृष्टि इन दोषो के आधीन होकर द्रव्य, क्षेत्र, काल, भव और भावरूप पंच परावर्तन निरन्तर करता रहता है। ऐसा कोई शरीर नही जो इसने धारण न किया हो, ऐसा कोई स्थान नही जहाँ यह उत्पन्न न हुआ हो तथा जहाँ इसका मरण न हुआ हो। ऐसा कोई समय नही जिसमे इसने जन्म मरण न किया हो, ऐसा कोई

भव नही जो इसने न पाया हो। अत. अब मिथ्यात्व का त्याग कर सम्यग्दर्शन को ग्रहण करना चाहिए।

सम्यग्दृष्टि का आचरण सर्वदा आत्मोन्मुख रहता है, वह आत्मरुचि रखता हुआ प्रत्येक कार्य मे प्रवृत्त होता है। जो सहजानन्द ज्ञान स्वभाव रूप आत्मस्वरूप से विपरीत आचरण करता है, वह नरक, तिर्यंच गति को प्राप्त होकर दु ख पाता है। परमात्मप्रकाश में कहा गया है :—

"सहजशुद्धज्ञानानन्दैकस्वभावात्परमात्मनः सकाशाद्विपरीतेन छेदनादिनारकतिर्यग्गतिदु.खदानसमर्थेन पापकर्मोदयेन नारकतिर्यग्गतिभाजनो भवति जीव'। तस्मादेव शुद्धात्मनो विलक्षणेन पुण्योदयेन देवो भवति। तस्मादेव शुद्धात्मनो विपरीतेन पुण्यपापद्वयेन मनुष्यो भवति। तस्यैव विशुद्धज्ञानदर्शनस्वभावस्य निजशुद्धात्मतत्वसम्यक्श्रद्धानज्ञानानुष्ठानरूपेण शुद्धोपयोगेन मुक्तो भवति।

अर्थात् - यह जीव सहज शुद्ध ज्ञानानन्द स्वभाव जो परमात्मा है, उससे विपरीत जो पाप कर्म उसके उदय से नरक और तिर्यंच गति का पात्र होता है। आत्मस्वरूप से विपरीत शुभ कर्मों के उदय से देव होता है और पुण्य पाप कर्म के मिश्रित उदय से मनुष्य होता है। ज्ञानदर्शन रूप शुद्धात्मा के अनुभव से यह जीव निर्वाण को प्राप्त करता है। यही इसका वास्तविक रूप है।

भगवान से प्रार्थना

त्रिजगत्स्वामि जिनेन्द्रं सिद्धशिवलोकाराध्यसर्वज्ञ शं-
भु जगन्नाथ जगत्पितामह हर श्रीकांतं वाणीश वि-
ष्णु जितानगं जिनेश पश्चिमसमुद्राधीश्वरा वेगदि-
निजमं तोरु दयाळुवे तळुविदें रत्नाकराधीश्वरा! ।१२६।

हे रत्नाकराधीश्वर !

तीनो लोक के स्वामी, जिनेश्वर, सिद्धि को प्राप्त, सिद्ध क्षेत्र मे रहने वाले पूज्य, सभी विषयो के ज्ञाता, सुख के आदि स्थान, लोक के पितामह, कर्मों को नष्ट करने वाले, ज्ञान रूपी सम्पत्ति के अधिपति, केवलज्ञान के धारी, ज्ञान द्वारा व्यापक, काम रूपी शत्रु के विजेता, कर्म का नाश करने वाले अधिपति, पश्चिमी समुद्र के अधिपति, हे रत्नाकराधीश्वर ! शीघ्रतापूर्वक यथार्थ रूप को आप बता दे, हे दयाशील ! इसमे देरी क्यो ?

कवि अपने भगवान से प्रार्थना करता है कि हे भगवन् ! हे तीन लोक के नाथ, दीनदयाल, हे परमात्मा, हे निरजनस्वरूप ! सम्पूर्ण सुख के आदि स्थान आप ही है । मैं आपसे यही चाहता हूँ कि मुझे न चक्रवर्ती का पद चाहिए, न इन्द्रिय-भोग सम्बन्धी सामग्री चाहिए, मेरी कोई लालसा नही है । मेरी यही प्रार्थना है कि मुझे इस ससार रूपी बन्धन से मुक्त होने का मार्ग आपसे मिल जाय । आपके सिवाय ससार मे मेरा कोई नही है । नाथ ! आप दीन दुखियो के उद्धारक हैं, आपके सिवाय मैं और किसी को नही जानता । आप त्रिलोकीनाथ हैं, सम्पूर्ण जीवो का कल्याण करने वाले है, इसलिए हे प्रभु ! मेरे पर कृपा करो, मुझे शीघ्र ही शान्ति का मार्ग बतलाओ, देर मत करो । कवि ने कहा है कि—

इति स्तुति देव ! विधाय दैन्याद्-
वरं न याचे त्वमुपेक्षकोऽसि ।।
छाया-तरु संश्रयतः स्वत स्यात् ।
कश्छाययायाचितयात्मलाभः ।।

वीतराग देव की स्तुति से अयाचित फल की प्राप्ति होती है । वृक्ष का आश्रय करने वाले को छाया न मागने पर भी मिलती है । कारण जहाँ पर राग और द्वेष रूप प्रवृत्ति होती है, अनुकूल और प्रतिकूल प्रार्थना वही पर उपयोगी पडती है । फिर भी उस प्रार्थना से फल

मिलना निश्चित नहीं है। परन्तु आप तो वीतराग है, परम उपेक्षा भाव से विभूपित है, इसलिए आप स्वय किसी को कुछ देते भी नही और ग्रहण भी नही करते। परन्तु जो आपका आश्रय करता है, उसको स्वयमेव फल मिल जाता है।

त्राहि त्रैभुवनद्र मस्तकमणिव्रातार्चितांघ्रिद्वया।
त्राहि श्रीरमणीनटन्नटनरंगश्रीपादाब्जोभया॥
त्राहि त्राहि महेशमां पुनरपि त्राहीति रत्नत्रया।
देहि त्वं मम दीयतां जयजया रत्नाकराधीश्वरा!।१२७।

हे रत्नाकराधीश्वर!

अधो, मध्य, ऊर्ध्वलोक के अधिपति के मस्तिष्क के किरीट मे रहने वाले रत्न समूह के पूजनीय चरण वाले हे रत्नाकराधीश्वर! मेरी रक्षा करो, लक्ष्मी रूपी नर्तकी के नर्तन के रंगस्थल और शोभायुक्त ऐसे चरण करने वाले रत्नाकराधीश्वर! मेरी निरन्तर रक्षा करो। आप सम्यग्दर्शन, ज्ञान, चारित्र को प्राप्त रत्नत्रय के धारी है। हे प्रभो! आप मेरी रक्षा करे। आप कृपया मुझे रत्नत्रय को दे देवे। आप सर्व-श्रेष्ठ होकर सदा विद्यमान रहें।

भगवान् के १००८ नाम है। भक्त भक्ति के आवेश मे आकर विभिन्न नामो के द्वारा वीतरागी प्रभु की वंदना करता है, उनसे व्यावहारिक दृष्टि से अपने उद्धार की आकाक्षा करता है, वास्तव मे भगवान कुछ करने धरने वाले नही हैं। भक्त अपनी भावनाओ की पवित्रता से ही स्वय अपना कल्याण करता है। स्वय अपने भावो का कर्त्ता है तथा अपने उदय मे आने वाले कर्मफल एवं ज्ञानादि चैतन्य भावो का भोक्ता है। भगवान को करुणासागर और कृपा-निधान इसीलिए कहा गया है कि उन्होने अपने जीवन मे अहिंसा को पूर्णरूप से उतार लिया है, जिससे उनके द्वारा किसी भी प्राणी का अहित नही होता है। वे सभी प्राणियों का हित चाहते है, और अपनी वीतरागता से छोटे से छोटे प्राणी का

भी अहित नही होने देते है ।

शंकर, विष्णु और ब्रह्मा भी भगवान जिनेन्द्र के नाम बताये गये है । क्योंकि संसार का कल्याण करने के कारण ही शंकर कहलाते है । प्रभु की दिव्य ध्वनि से चराचर सभी जीव अपना हित साधन करते है। संसार के दु खो मे छुटकारा पाने का उपाय रत्नत्रय मार्ग ही है, इसका उपदेश भगवान जिनेन्द्र ने दिया है, अतः वे शकर और विष्णु है। समवशरण मे उनका चारो ओर मुख दिखलायी पडता है अत वे चतुर्मुखी ब्रह्मा है । मुक्ति पद को प्राप्त करने के कारण ही जिनेन्द्र प्रभु ब्रह्मा कहलाते है ।

त्रिभुवन स्वामी, शीलसिन्धु, अमल, अविनाशी, पु डरीक, निराकार, लोकप्रमाण, रमापति, रमाविराम, कृपासिन्धु, करुणाधाम, परमदेव, ज्ञानगर्भ, नित्यानन्द, अजर, अजीत, अवपु, विषयातीत, धर्मधुरधर, धर्मनिधान, चिन्तामणि, परमक्षेम, चिन्मूर्ति, चिद्विलास, चिन्मय, चूड़ामणि, चारित्रधाम, निर्भोग, निरास्रव, अनक्षर, मेधापति, व्रजभूषण, विश्वम्भर, दयानिधि, गुणपु ज, गुणाकर, सुखसागर, जगद्बन्धु, जगत्पति, जगवन्दन, गुणकदम्ब, बन्धविनाशक आदि नामो से भगवान का स्मरण किया गया है । ये सभी नाम सार्थक है । भगवान मे कर्म बन्धन नष्ट होने से इस प्रकार के अनन्तगुण वर्तमान है, जिससे उनके अनन्तानन्त नाम रखे जा सकते है ।

शुद्धात्मा भगवान का स्मरण करने से जीव का उद्धार होता है, वह अपने उद्धार का मार्ग निकाल लेता है तथा स्वावलम्बी बन जाता है । गुणो के स्मरण और चिन्तन से जीव को अपनी दशा का परिज्ञान होता है तथा द्रव्यो के स्वरूप को समझकर अपने आत्मद्रव्य को पृथक्-अनुभव करता हुआ आत्मविकास के मार्ग मे बढता है । भेदविज्ञान की उत्पत्ति हो जाती है, जिससे द्रव्यो की स्वतन्त्र सत्ता का बोध हो जाने से व्यक्ति को बड़ी भारी शान्ति मिलती है । आकुलता समाप्त हो जाती है तथा अहकार और ममकार की भावनाए जीव से अलग हो जाती है,

विकार और वासनाएं भस्म होकर आत्मा निर्मल निकल आती है।

धर्म स्थिति के कारणभूत आदि जिनेन्द्र व श्रेयांस राजा का स्मरण—

आद्यो जिनो नृप. श्रेयान् व्रतदानादिपूरुषौ।
एतदन्योन्यसंबन्धे धर्मस्थितिरभूदिह ॥१॥

अर्थ—आद्य जिन अर्थात् ऋषभ जिनेन्द्र तथा श्रेयान्स राजा ये दोनो क्रम से व्रत विधि और दान विधि के आदि प्रवर्तक पुरुष है, अर्थात् व्रतो का प्रचार सर्व प्रथम ऋषभ जिनेन्द्र के द्वारा प्रारम्भ हुआ तथा दान विधि का प्रचार राजा श्रेयान्स से प्रारम्भ हुआ। इनका परस्पर सम्बन्ध होने पर यहाँ भरत क्षेत्र मे धर्म की स्थिति हुई।

धर्म का स्वरूप—

सम्यग्दृग्बोधचारित्रत्रितयं धर्म उच्यते।
मुक्तेः पन्था स एव स्यात् प्रमाणपरिनिष्ठितः ॥२॥

अर्थ—सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान और सम्यक्चारित्र इन तीनो को धर्म कहा जाता है तथा वही मुक्ति का मार्ग है जो प्रमाण से सिद्ध है।

दीर्घ ससार किनका है ?

रत्नत्रयात्मके मार्गे सचरन्ति न ये जनाः।
तेपा मोक्षपद दूरं भवेद्दीर्घतरो भव. ॥३॥

अर्थ—जो जीव रत्नत्रयस्वरूप इस मोक्ष-मार्ग मे सचार नही करते हैं, उनके लिए मोक्ष स्थान तो दूर तथा संसार अतिशय लम्बा हो जाता है।

धर्म के दो भेद और उनके स्वामी—

सपूर्णदेशभेदाभ्या स च धर्मो द्विधा भवेत्।
आद्ये भेदे च निर्ग्रन्था द्वितीये गृहिण' स्थिता. ॥४॥

अर्थ—वह धर्म सम्पूर्ण धर्म और देश धर्म के भेद से दो प्रकार का

है। इनमे से प्रथम भेद मे दिगम्बर मुनि और द्वितीय भेद मे गृहस्थ स्थित होते हैं।

गृहस्थ धर्म के हेतु क्यों माने जाते हैं—

संप्रत्यपि प्रवर्तेत धर्मस्तेनैव वर्त्मना।
तेन तेऽपि च गण्यन्ते गृहस्था धर्महेतव ॥५॥

अर्थ—वर्तमान मे भी उस रत्नत्रय स्वरूप धर्म की प्रवृत्ति उसी मार्ग से अर्थात् पूर्ण धर्म और देश धर्म स्वरूप से हो रही है। इसीलिए वे गृहस्थ भी धर्म के कारण माने जाते है।

कलिकाल मे जिनालय, मनुष्यो की स्थिति और दान धर्म के मूल कारण श्रावक है—

सम्प्रत्यत्र कलौ काले जिनगेहे मुनिस्थिति. ।
धर्मश्च दानमित्येषां श्रावका मूलकारणम् ॥६॥

अर्थ—इस समय यहाँ इस कलिकाल अर्थात् पचम काल मे मुनियो का निवास जिनालय मे हो रहा है और उन्ही के निमित्त से धर्म एव दान की प्रवृत्ति है। इस प्रकार मुनियो की स्थिति, धर्म और दान इन तीनो के मूल कारण गृहस्थ श्रावक है।

गृहस्थो के षट् कर्म—

देवपूजा गुरूपास्ति. स्वाध्याय. सयमस्तप ।
दानं चेति गृहस्थाना षट्कर्माणि दिने दिने ॥७॥

अर्थ—जिन पूजा, गुरु की सेवा, स्वाध्याय, सयम और तप ये छह कर्म गृहस्थो के लिए प्रतिदिन करने के योग्य हैं अर्थात् वे उनके आवश्यक कार्य हैं।

सामायिक व्रत का स्वरूप—

समता सर्वभूतेषु सयमे शुभभावना।
आर्तरौद्रपरित्यागस्तद्धि सामायिकं व्रतम् ॥८॥

अर्थ—सब प्राणियो के विषय मे समता भाव धारण करना, सयम

के विषय में शुभ विचार रखना तथा आर्त एवं रौद्र ध्यानो का त्याग करना, इसे सामायिक व्रत माना जाता है।

सामायिक के लिए सात व्यसनों का त्याग आवश्यक है—

सामायिकं न जायेत व्यसनम्लानचेतसः ।
श्रावकेन ततः साक्षात्त्याज्यं व्यसनसप्तकम् ॥९॥

अर्थ—जिसका चित्त द्यूतादि व्यसनो द्वारा मलिन हो रहा है उसके उपर्युक्त सामायिक की सम्भावना नही है। इसलिए श्रावक को साक्षात् उन सात व्यसनो का परित्याग अवश्य करना चाहिए।

व्यसनी के धर्मान्वेषण की योग्यता नही होती है—

द्यूतमाससुरावेश्याखेटचौर्यपरांगनाः ।
महापापानि सप्तैव व्यसनानि त्यजेद् बुधः ॥१०॥

अर्थ—द्यूत, मांस, मद्य, वेश्या, शिकार, चोरी और परस्त्री—ये सातो ही व्यसन महापाप स्वरूप है। विवेकी जन को इनका त्याग करना चाहिए।

धर्मार्थिनोऽपि लोकस्य चेदस्ति व्यसनाश्रयः ।
जायते न ततः सापि धर्मान्वेषणयोग्यता ॥११॥

अर्थ—धर्माभिलाषी जन भी यदि उन व्यसनो का आश्रय लेता है तो इससे उसके वह धर्म के खोजने की योग्यता भी नही उत्पन्न होती है।

सात नरको की अपनी समृद्धि के लिए मानो एक एक व्यसन को नियुक्त किया—

सप्तैव नरकाणि स्युस्तैरेकैकं निरूपितम् ।
आकर्षयन्नृणामेतद्व्यसन स्वसमृद्धये ॥१२॥

अर्थ—नरक सात ही हैं। उन्होने मानो अपनी समृद्धि के लिए मनुष्यो को आकर्षित करने वाले इस एक एक व्यसन को नियुक्त किया है।

धर्मशत्रुविनाशार्थं पापाख्यकुपतेरिह ।
सप्तांग वलवद्राज्यं सप्तभिर्व्यसनैः कृतम् ॥१३॥

अर्थ—इन सात व्यसनो ने मानो धर्म रूपी शत्रु को नष्ट करने के लिए पाप नाम से प्रसिद्ध निकृष्ट राजा के सात राज्यांगो (राजा, मन्त्री, मित्र, खजाना, देश, दुर्ग और सैन्य) से युक्त राज्य को वलवान किया है।

विशेषार्थ—अभिप्राय इसका यह है कि इन व्यसनो के निमित्त से धर्म का तो ह्रास होता है और पाप वढता है। इस पर ग्रन्थकर्ता के द्वारा यह उत्प्रेक्षा की गई है कि मानो पाप रूपी राजा ने अपने धर्म रूपी शत्रु को नष्ट करने के लिए अपने राज्य को इन सात व्यसनो रूप भागो मे वाट दिया है। जो स्तुति किया करते हैं वे तीनो लोको मे स्वयं ही दर्शन, पूजन, और स्तुति के योग्य वन जाते है। अभिप्राय यह है कि वे स्वय भी परमात्मा वन जाते है।

भक्ति से जिनदर्शन आदि करने वाला स्वय वन्दनीय हो जाता है—

प्रपश्यन्ति जिनं भक्त्या पूजयन्ति स्तुवन्ति ये ।
ते च दृश्याश्च पूज्याश्च स्तुत्याश्च भुवनत्रये ॥१४॥

अर्थ—जो भव्य प्राणी भक्ति से जिन भगवान का दर्शन, पूजन और स्तुति किया करते हैं वे तीनो लोको मे स्वय ही दर्शन, पूजन और स्तुति के योग्य वन जाते हैं।

जिनदर्शन आदि न करने वालो का जीना व्यर्थ है—

ये जिनेन्द्र न पश्यन्ति पूजयन्ति स्तुवन्ति न ।
निष्फलं जीवित तेषां तेपा धिक् च गृहाश्रमम् ॥१५॥

अर्थ—जो जीव भक्ति से जिनेन्द्र भगवान् का न दर्शन करते हैं, न पूजन करते हैं, और न स्तुति ही करते हैं उनका जीवन निष्फल है, तथा उनके गृहस्थाश्रम को धिक्कार है।

श्रावको को प्रात काल और तत्पश्चात् क्या करना चाहिए—

प्रातरुत्थाय कर्तव्यं देवतागुरुदर्शनम् ।
भक्त्या तद्वन्दना कार्या धर्मश्रुतिरुपासकैः ॥१६॥

अर्थ—श्रावकों को प्रातःकाल उठ करके भक्ति से जिनेन्द्रदेव तथा निर्ग्रन्थ गुरु का दर्शन और उनकी वन्दना करके धर्म-श्रवण करना चाहिए।

ज्ञान लोचन की प्राप्ति के कारणभूत गुरुओं की उपासना—

पश्चादन्यानि कार्याणि कर्तव्यानि यतो बुधैः ।
धर्मार्थकाममोक्षाणामादौ धर्मः प्रकीर्तितः ॥१७॥

अर्थ—तत्पश्चात् अन्य कार्यों को करना चाहिए, क्योंकि विद्वान् पुरुषो ने धर्म, अर्थ, काम और मोक्ष इन चार पुरुषार्थो मे धर्म को प्रथम बतलाया है।

गुरोरेव प्रसादेन लभ्यते ज्ञानलोचनम् ।
समस्तं दृश्यते येन हस्तरेखेव निस्तुषम् ॥१८॥

अर्थ—गुरु की ही प्रसन्नता से वह ज्ञान (केवलज्ञान) रूपी नेत्र प्राप्त होता है कि जिसके द्वारा समस्त जगत् हाथ की रेखा के समान स्पष्ट देखा जाता है।

ये गुरुं नैव मन्यन्ते तदुपास्तिं न कुर्वते ।
अन्धकारो भवेत्तेषामुदितेऽपि दिवाकरे ॥१९॥

अर्थ—जो अज्ञानी जन न तो गुरु को मानते है और न उसकी उपासना ही करते है उनके लिए सूर्य का उदय होने पर भी अन्धकार जैसा ही है।

विशेषार्थ—यह ऊपर कहा जा चुका है कि ज्ञान की प्राप्ति गुरु के ही प्रसाद से होती है। अतएव जो मनुष्य आदरपूर्वक गुरु की सेवा शुश्रूषा नही करते है वे अज्ञानी ही रहते है। उनके अज्ञान को सूर्य का प्रकाश भी दूर नही कर सकता। कारण कि वह तो केवल सीमित

बाह्य पदार्थों के अवलोकन मे सहायक हो सकता है, न कि आत्मावलोकन में। आत्मावलोकन मे तो केवल गुरु के निमित्त से प्राप्त हुआ अध्यात्म ज्ञान ही सहायक होता है।

चक्षु और कानो से युक्त होकर भी अन्धे और बहरे कौन है—

ये पठन्ति न सच्छास्त्रं सद्‌गुरुप्रकटीकृतम्।
तेऽन्धाः सचक्षुषोऽपीह सभाव्यन्ते मनीषिभि. ॥२०॥

अर्थ—जो जन उत्तम गुरु के द्वारा प्ररूपित समीचीन शास्त्र को नहीं पढते है उन्हे बुद्धिमान् मनुष्य दोनो नेत्रो से युक्त होने पर भी अन्धा समझते हैं।

देशव्रत सफल कब हो जाता है—

मन्ये त प्रायशस्तेषा कर्णाश्च हृदयानि च।
यैरभ्यासे गुरो शास्त्रं न श्रुत नावधारितम् ॥२१॥

अर्थ—जिन्होने गुरु के समीप मे न शास्त्र को सुना है और न उसको हृदय मे धारण ही किया है उनके प्राय करके न तो कान हैं और न हृदय ही है, ऐसा मैं समझता हूँ।

विशेषार्थ—कानो का सदुपयोग इसी मे है कि उनके द्वारा शास्त्रो का श्रवण किया जाय—उनके सदुपदेश को सुना जाय। तथा मन के लाभ का भी यही सदुपयोग है कि उसके द्वारा सुने हुए शास्त्र का चिंतन किया जाय—उसके रहस्य को धारण किया जाय। इसीलिए जो प्राणी कान और मन को पा करके भी उन्हे शास्त्र के विषय मे उपयुक्त नही करते हैं उनके वे कान और मन निष्फल ही है।

देशव्रतानुसारेण सयमोऽपि निषेव्यते।
गृहस्थैयेन तैनैव जायते फलवद्‌व्रतम् ॥२२॥

अर्थ—श्रावक यदि देशव्रत के अनुसार इन्द्रियो के निग्रह और प्राणी-दया रूप संयम का भी सेवन करते है तो इससे उनका वह व्रत (देशव्रत) सफल हो जाता है। अभिप्राय यह है कि देशव्रत के परिपालन

की सफलता इसी मे है कि तत्पश्चात् पूर्ण संयम को भी धारण किया जाय्।

आठ मूलगुण और बारह उत्तर गुणो का निर्देश—

त्याज्यं मांसं च मद्यं च मधूदुम्बरपंचकम् ।

अष्टौ मूलगुणाः प्रोक्ताः गृहिणो दृष्टिपूर्वकाः ।।२३।।

अर्थ—मांस, मद्य, शहद और पांच उदम्बर फलो (ऊमर, कठूमर, पाकर, वड़ और पीपल) का त्याग करना चाहिए। सम्यग्दर्शन के साथ ये श्रावक के आठ मूलगुण कहे गये हैं ।

विशेषार्थ—मूल शब्द का अर्थ जड़ होता है। जिस वृक्ष की जड़ें गहरी और बलिष्ठ होती है उसकी स्थिति बहुत समय तक रहती है। किन्तु जिसकी जड़ें अधिक गहरी और बलिष्ठ नही होती उसकी स्थिति बहुत काल तक नही रह सकती—वह आधी आदि के द्वारा शीघ्र ही उखाड़ दिया जाता है। ठीक इसी प्रकार से चूकि इन गुणों के विना श्रावक के उत्तर गुणों (अणुव्रतादि) की स्थिति भी दृढ़ नही रहती है; इसीलिए ये श्रावक के मूलगुण कहे जाते हैं। इनके भी प्रारम्भ मे सम्यग्दर्शन अवश्य होना चाहिए, क्योंकि उसके बिना प्राय व्रत आदि सब निरर्थक ही रहते हैं।

अणुव्रतानि पंचैव त्रिप्रकारं गुणव्रतम् ।
शिक्षाव्रतानि चत्वारि द्वादशेति गृहिव्रते ।।२४।।

अर्थ—गृहिव्रत अर्थात् देशव्रत मे पांच अणुव्रत, तीन गुणव्रत और चार शिक्षाव्रत, इस प्रकार ये बारह व्रत होते हैं ।

भावार्थ—हिंसा, असत्य वचन, चोरी, मैथुन और परिग्रह इन पाच स्थूल पापों का परित्याग करना, इसे अणुव्रत कहा जाता है। वह पाच प्रकार के है—अहिंसाणुव्रत, सत्याणुव्रत, अचौर्याणुव्रत, ब्रह्मचर्याणुव्रत और परिग्रहपरिमाणाणुव्रत। मन, वचन और काय के द्वारा कृत, कारित, एवं अनुमोदना रूप से (नौ प्रकार से) जो संकल्पपूर्वक त्रस जीवो की

हिंसा का परित्याग किया जाता है उसे अहिंसाणुव्रत कहते है । स्थूल असत्य वचन को न स्वयं बोलना और न इसके लिए दूसरे को प्रेरित करना तथा जिस सत्य वचन से दूसरा विपत्ति मे पड़ता हो ऐसे सत्य वचन को भी न बोलना, इसे सत्याणुव्रत कहा जाता है। रखे हुए, गिरे हुए अथवा भूले हुए परधन को बिना दिये ग्रहण न करना अचौर्याणुव्रत कहलाता है। परस्त्री से न तो स्वयं ही सम्बन्ध रखना और न दूसरे को भी उसके लिए प्रेरित करना, इसे ब्रह्मचर्याणुव्रत अथवा स्वदारसन्तोष कहा जाता है । धन धान्यादि परिग्रह परिमाण करके उससे अधिक की इच्छा न करना, इसे परिग्रहपरिमाणाणुव्रत कहते हैं। गुणव्रत तीन हैं—दिग्व्रत, अनर्थदण्डव्रत और भोगोपभोगपरिमाण। पूर्वादिक दस दिशाओ मे प्रसिद्ध किन्ही समुद्र, नदी, वन और पर्वत आदि की मर्यादा करके उसके बाहर जाने का मरण पर्यन्त नियम कर लेने को 'दिग्व्रत कहा जाता है। जिन कामो से किसी प्रकार का लाभ न होकर केवल पाप ही उत्पन्न होता है वे अनर्थदण्ड कहलाते हैं और उसके त्याग को अनर्थदण्ड व्रत कहा जाता है। जो वस्तु एक ही बार भोगने मे आती है वह भोग कहलाती है—जैसे भोजनादि। तथा जो वस्तु एक बार भोगी जाकर भी दुबारा भोगने में आती है उसे उपभोग कहा जाता है—जैसे वस्त्रादि। इन भोग और उपभोग रूप इन्द्रिय विषयो का परिमाण करके अधिक की इच्छा नही करना, इसे भोगोपभोग-परिमाण कहते हैं। ये तीनो व्रत चूंकि मूलगुणो की वृद्धि के कारण हैं, अत. इनको गुणव्रत कहा गया है। देशावकाशिक, सामायिक, प्रोषधोपवास और वैयावृत्य ये चार शिक्षाव्रत हैं। दिग्व्रत मे की गई मर्यादा के भीतर भी कुछ समय के लिए किसी गृह, गाँव, एव नगर आदि की मर्यादा करके उसके भीतर ही रहने का नियम करना देशावकाशिकव्रत कहा जाता है। नियत समय तक पांचों पापो का पूर्ण रूप से त्याग कर देने को सामायिक कहते हैं। यह सामायिक जिन चैत्यालयादि रूप किसी निर्बाध एकान्त स्थान मे की जाती है। सामायिक मे स्थित होकर यह विचार करना चाहिए कि

जिस संसार मे मैं रह रहा हूँ वह अशरण है, अशुभ है, अनित्य है, दुःख स्वरूप है, तथा आत्मस्वरूप से भिन्न है। किन्तु इसके विपरीत मोक्ष शरण है, शुभ है, नित्य है, निराकुल सुख स्वरूप है, और आत्मस्वरूप से अभिन्न है, इत्यादि । अष्टमी एव चतुर्दशी आदि को अन्न, पान (दूध आदि) खाद्य (लड्डू-पेडा आदि) और लेह्य (चाटने योग्य रवडी आदि) इन चार प्रकार के आहारों का परित्याग करना, इसे प्रोषधोपवास कहा जाता है। प्रोषधोपवास यह पद प्रोषध और उपवास इन दो शब्दो के समास से निष्पन्न हुआ है । इनमे प्रोषध शब्द का अर्थ एक बार भोजन (एकाशन) तथा उपवास शब्द का अर्थ चारों प्रकार के आहार का छोडना है। अभिप्राय यह है कि एकाशनपूर्वक जो उपवास किया जाता है वह प्रोषधोपवास कहलाता है। जैसे—यदि अष्टमी का प्रोषधोपवास करना है तो सप्तमी और नवमी को एकाशन तथा अष्टमी को उपवास करना चाहिए। इस प्रकार प्रोषधोपवास मे सोलह पहर के लिए आहार का त्याग किया जाता है। प्रोषधोपवास के दिन पांच पाप, स्नान, अलंकार तथा सब प्रकार के आरम्भ को छोड़कर ध्यानाध्ययनादि मे ही समय को बिताना चाहिए। किसी प्रत्युपकार आदि की अभिलाषा न करके जो मुनि आदि सत्पात्रो के लिए दान दिया जाता है, इसे वैयावृत्य कहते है। इस वैयावृत्य मे दान के अतिरिक्त संयमी जनों की यथायोग्य सेवा शुश्रूषा करके उनके कष्ट को भी दूर करना चाहिए। किन्हीं आचार्यो के मतानुसार देशावकाशिक व्रत को गुणव्रत के अन्तर्गत तथा भोगोपभोगपरिमाणव्रत को शिक्षाव्रत के अन्तर्गत ग्रहण किया गया है।

पर्वेष्वथ यथाशक्ति मुक्तित्यागादिकं तपः।
वस्त्रपूत पिवेत्तोय रात्रिभोजनवर्जनम् ॥२५॥

अर्थ—श्रावक को पर्व दिनों (अष्टमी एव चतुर्दशी आदि) मे अपनी शक्ति के अनुसार भोजन के परित्याग आदि रूप (अनशनादि)

तपों को करना चाहिए। इसके साथ ही उन्हें रात्रि भोजन को छोड़कर वस्त्र से छना हुआ जल भी पीना चाहिए।

तं देशं तं नरं तत्स्वं तत्कर्माणि च नाश्चयेत्।
मलिनं दर्शनं येन येन च व्रतखण्डनम् ॥२६॥

अर्थ—जिस देशादि के निमित्त से सम्यग्दर्शन मलिन होता हो तथा व्रतो का नाश होता हो ऐसे उस देश का, उस मनुष्य का, उस द्रव्य का तथा उन क्रियाओ का भी परित्याग कर देना चाहिए।

भोगोपभोगसख्यान विधेय विधिवत्सदा।
व्रतशून्या न कर्तव्या काचित् कालकला बुधैः ॥२७॥

अर्थ—विद्वान् मनुष्यो को नियमानुसार सदा भोग और उपभोग सब वस्तुओ का प्रमाण कर लेना चाहिए। उनका थोडा-सा भी समय व्रतो से रहित नही जाना चाहिए।

भावार्थ—जो वस्तु एक ही बार उपयोग मे आया करती है उसे भोग कहा जाता है—जैसे भोज्य पदार्थ एव माला आदि। इन दोनो ही प्रकार के पदार्थो का प्रमाण करके श्रावक को उससे अधिक की इच्छा नही करनी चाहिए।

रत्नत्रयाश्रय कार्यस्तथा भव्यैरतन्द्रितै।
जन्मान्तरेऽपि तच्छ्द्धा यथा संवर्धतेतराम् ॥२८॥

अर्थ—भव्य जीवो को आलस्य छोडकर रत्नत्रय का आश्रय इस प्रकार से करना चाहिए कि जिस प्रकार से उनका उक्त रत्नत्रयविषयक श्रद्धान (दृढता) दूसरे जन्म मे भी अतिशय वृद्धिगत होता रहे।

विनयश्च यथायोग्य कर्तव्य. परमेष्ठिषु।
दृष्टिबोधचरित्रेषु तद्वत्सु समयाश्रितै. ॥२९॥

अर्थ—इसके अतिरिक्त श्रावको को जिनागम के आश्रित होकर अर्हदादि पाच परमेष्ठियों, सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान, सम्यक्चारित्र तथा

इन सम्यग्दर्शनादि को धारण करने वाले जीवो की भी यथायोग्य विनय करनी चाहिए।

दर्शनज्ञानचारित्रतपःप्रभृति सिध्यति।
विनयेनेति तं तेन मोक्षद्वारं प्रचक्षते ॥३०॥

अर्थ—उस विनय के द्वारा चूंकि सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान, सम्यक् चारित्र और तप आदि की सिद्धि होती है अतएव उसे मोक्ष का द्वार कहा जाता है।

सत्पात्रेषु यथाशक्ति दानं देय गृहस्थितैः।
दानहीना भवेत्तेषां निष्फलैव गृहस्थता ॥३१॥

अर्थ—गृह मे स्थित रहने वाले श्रावकों को शक्ति के अनुसार उत्तम पात्रों के लिए दान देना चाहिए, क्योंकि दान के विना उनका गृहस्थाश्रम (श्रावकपना) निष्फल ही होता है।

दान ये न प्रयच्छन्ति निर्ग्रन्थेषु चतुर्विधम्।
पाशा एव गृहास्तेषां बन्धनायैव निर्मिताः ॥३२॥

अर्थ—जो गृहस्थ दिगम्वर मुनियों के लिए चार प्रकार का दान नही देते है उनको वन्धन में रखने के लिए वे गृह मानो जाल ही बनाये गये है।

भावार्थ—अभिप्राय यह है कि श्रावक घर में रह कर जिन असि-मसि आदि रूप कर्मो को करता है उनसे उसके अनेक प्रकार के पाप कर्म का संचय होता है। उससे छुटकारा पाने का उपाय केवल दान है। सो यदि वह उस पात्रदान को नहीं करता है तो फिर वह उक्त संचित पाप के द्वारा संसार में ही परिभ्रमण करने वाला है। इस प्रकार से उक्त दानहीन श्रावक के लिए वे घर वन्धन के ही कारण बन जाते है।

अभयाहारभैषज्यशास्त्रदाने हि यत्कृते।
ऋषीणां जायते सौख्यं गृही श्लाघ्यः कथं न सः ॥३३॥

अर्थ—जिसके द्वारा अभय, आहार, औषध और शास्त्र का दान

करने पर मुनियो को सुख उत्पन्न होता है वह गृहस्थ कैसे प्रशंसा के योग्य न होगा ? अवश्य होगा।

समर्थोऽपि न यो दद्याद्यतीनां दानमादरात् ।
छिनत्ति स स्वयं मूढ. परत्र सुखमात्मन: ॥३४॥

अर्थ—जो मनुष्य दान देने के योग्य हो करके भी मुनियों के लिए भक्तिपूर्वक दान नही देता है वह मूर्ख परलोक में अपने सुख को स्वयं ही नष्ट करता है।

दृषन्नावसमो ज्ञेयो दानहीनो गृहाश्रम: ।
तदारूढो भवाम्भौधौ मज्जत्येव न संशय: ॥३५॥

अर्थ—दान से रहित गृहस्थाश्रम को पत्थर की नाव के समान समझना चाहिए। उस गृहस्थाश्रम रूपी पत्थर की नाव पर बैठा हुआ मनुष्य नसार रूपी समुद्र मे डूबता ही है, इसमे सन्देह नहीं है।

समयस्थेषु वात्सल्यं स्वशक्त्या ये न कुर्वते ।
वहुपापवृतात्मानस्ते धर्मस्य पराङ्मुखा: ॥३६॥

अर्थ—जो गृहस्थ अपनी शक्ति के अनुसार साधर्मी जनो से प्रेम नहीं करते हैं वे धर्म से विमुख होकर अपने को वहुत पाप से आच्छादित करते हैं।

येषां जिनोपदेशेन कारुण्यामृतपूरिते ।
चित्ते जीवदया नास्ति तेषां धर्म: कुतो भवेत् ॥३७॥

अर्थ—जिन भगवान के उपदेश से दयालुता रूप अमृत से परिपूर्ण जिन श्रावकों के हृदय में प्राणिदया आविर्भूत नही होती है उनके धर्म कहाँ से हो सकता है ? अर्थात् नहीं हो सकता।

विशेषार्थ—इसका अभिप्राय यह है कि जिन गृहस्थों का हृदय जिनागम का अभ्यास करने के कारण दया से ओतप्रोत हो चुका है वे ही गृहस्थ वास्तव में धर्मात्मा हैं। किन्तु इसके विपरीत जिनका चित्त दया से आर्द्र नही हुआ है वे कभी भी धर्मात्मा नही हो सकते। कारण कि

धर्म का मूल तो वह दया ही है।

मूलं धर्मतरोराद्या व्रताना धाम संपदाम्।
गुणानां निधिरित्यंगिदया कार्या विवेकिभिः ॥३८॥

अर्थ—प्राणी—दया धर्म रूपी वृक्ष की जड़ है, व्रतो में मुख्य है, सम्पत्तियों का स्थान है, और गुणों का भण्डार है। इसलिए उसे विवेकी जनो को अवश्य करना चाहिए।

सर्वे जीवदयाधारा गुणास्तिष्ठन्ति मानुषे।
सूत्राधारा. प्रसूनाना हाराणा च सरा इव ॥३९॥

अर्थ—मनुष्य में सब ही गुण जीव-दया के आश्रय से इस प्रकार रहते है जिस प्रकार कि पुष्पो की लड़िया सूत के आश्रय से रहती है।

भावार्थ—जिस प्रकार फूलों के हारों की लड़ियां धागे के आश्रय से स्थिर रहती है उसी प्रकार समस्त गुणों का समुदाय प्राणि-दया के आश्रय से स्थिर रहता है। यदि माला के मध्य का धागा टूट जाता है तो जिस प्रकार उसके सब फूल विखर जाते हैं उसी प्रकार निर्दयी मनुष्य के वे सब गुण भी दया के अभाव मे बिखर जातें हैं—नष्ट हो जाते हैं। अतएव सम्यग्दर्शनादि गुणों के अभिलापी श्रावक को प्राणियो के विषय में दयालु अवश्य होना चाहिए।

यतीनां श्रावकाणा च व्रतानि सकलान्यपि।
एकाहिंसाप्रसिद्धयर्थं कथितानि जिनेश्वरैः ॥४०॥

अर्थ—जिनेन्द्रदेव ने मुनियों और श्रावको के सब ही व्रत एक-मात्र अहिंसा धर्म की ही सिद्धि के लिए बतलाये है।

जीवहिंसादिसकल्पैरात्मन्यपि हि दूषिते।
पापं भवति जीवस्य न परं परपीडनात् ॥४१॥

अर्थ—जीव के केवल दूसरे प्राणियो को कष्ट देने से ही पाप नही होता, बल्कि प्राणी की हिंसा आदि के विचारमात्र से भी आत्मा के

दूषित होने पर वह पाप होता है।

द्वादशापि सदा चिन्त्या अनुप्रेक्षा महात्मभि· ।
तद्भावना भवत्येव कर्मण. क्षयकारणम् ॥४२॥

अर्थ—महात्मा पुरुषो को निरन्तर बारह अनुप्रेक्षाओं का चिन्तन करना चाहिए। कारण यह है कि उनकी भावना (चिन्तन) कर्म के क्षय का कारण होती है।

अध्रुवाशरणे चैव भव एकत्वमेव च ।
अन्यत्वमशुचित्व च तथैवास्रवसवरौ ॥४३॥
निर्जरा च तथा लोको बोधिदुर्लभधर्मता ।
द्वादशैता अनुप्रेक्षा भाषिता जिनपुंगवै ॥४४॥

अर्थ—अध्रुव अर्थात् अनित्य, अशरण, ससार, एकत्व, अन्यत्व, अशुचित्व, उसी प्रकार आस्रव, सवर, निर्जरा, लोक, बोधि दुर्लभ और धर्म ये जिनेन्द्र भगवान के द्वारा बारह अनुप्रेक्षायें कही गई है।

अध्रुवाणि समस्तानि शरीरादीनि देहिनाम् ।
तन्नाशेऽपि न कर्तव्य शोको दुष्कर्मकारणम् ॥४५॥

अर्थ—प्राणियो के शरीर आदि सब ही नश्वर हैं। इसलिए उक्त शरीर आदि के नष्ट हो जाने पर भी शोक नही करना चाहिए, क्योकि वह शोक पाप-बन्ध का कारण है। इस प्रकार से बार-बार विचार करने का नाम अनित्य भावना है।

व्याघ्रेणाघ्रातकायस्य मृगशावस्य निर्जने ।
यथा न शरणं जन्तो ससारे न तथापदि ॥४६॥

अर्थ—जिस प्रकार निर्जन वन मे सिंह के द्वारा पकडे गये मृग के बच्चे की रक्षा करने वाला कोई नही है, उसी प्रकार आपत्ति (मरण आदि) के प्राप्त होने पर उससे जीव की रक्षा करने वाला भी ससार मे कोई नही है। इस प्रकार विचार करना अशरण भावना कही जाती है।

यत्सुखं तत्सुखाभासं यद्दुःखं तत्सदाञ्जसा ।
भवे लोका· सुखं सत्यं मोक्ष एव स साध्यताम् ॥४७॥

अर्थ—संसार में जो सुख है वह सुख का आभास है—यथार्थ सुख नहीं है, परन्तु जो दुःख है वह वास्तविक है और सदा रहने वाला है। सच्चा सुख मोक्ष मे ही है। इसलिए हे भव्यजनो! उसे ही सिद्ध करना चाहिए। इस प्रकार संसार के स्वरूप का चिन्तन करना, यह संसार भावना है ।

स्वजनो वा परो वापि नो कश्चित्परमार्थतः ।
केवलं स्वार्जितं कर्म जीवेनैकेन भुज्यते ॥४८॥

अर्थ—कोई भी प्राणी वास्तव मे न तो स्वजन (स्वकीय माता-पिता आदि) है और न पर भी है। जीव के द्वारा जो कर्म बांधा गया है उसको ही केवल भोगने वाला है। इस प्रकार वार-वार विचार करना इसे एकत्व भावना कहते है।

क्षीरनीरवदेकत्र स्थितयोर्देहदेहिनोः ।
भेदो यदि ततोऽन्येषु कलत्रादिषु का कथा ॥४९॥

अर्थ—जब दूध और पानी के समान एक ही स्थान मे रहने वाले शरीर और जीव मे भी भेद है तब प्रत्यक्ष मे ही अपने से भिन्न दिखने वाले स्त्री-पुत्र आदि के विषय में भला क्या कहा जावे? अर्थात् वे तो जीव से भिन्न है ही। इस प्रकार विचार करने का नाम अन्यत्व भावना है।

तथाशुचिरयं कायः कृमिधातुमलान्वितः ।
यथा तस्यैव संपर्कादन्यत्राप्यपवित्रता ॥५०॥

अर्थ—क्षुद्र कीड़ों, रस रुधिरादि धातुओं तथा मल से संयुक्त यह शरीर ऐसा अपवित्र है कि उसके ही सम्बन्ध से दूसरी (पुष्पमाला आदि) भी वस्तुएं अपवित्र हो जाती है। इस प्रकार से शरीर के स्वरूप का

विचार करना, यह अशुचि भावना है।

जीवपोतोभवाम्भोधौ मिथ्यात्वादिकरन्ध्रवान्।
आस्रवति विनाशार्थं कर्माम्भिः सुचिरं भ्रमात् ॥५१॥

अर्थ—संसार रूपी समुद्र मे मिथ्यात्वादि रूप छेदों से सयुक्त जीव रूपी नाव भ्रम (अज्ञान व परिभ्रमण) के कारण बहुत काल से आत्म-विनाश के लिए कर्म रूपी जल को ग्रहण करती है।

विशेषार्थ—जिस प्रकार छिद्रयुक्त नाव घूमकर उक्त छिद्र के द्वारा जल को ग्रहण करती हुई अन्त मे समुद्र मे डूबकर अपने को नष्ट कर देती है उसी प्रकार यह जीव भी संसार मे परिभ्रमण करता हुआ मिथ्यात्वादि के द्वारा कर्मों का आस्रव करके इसी दुःखमय संसार मे घूमता रहता है। तात्पर्य यह है कि दुःख का कारण यह कर्मों का आस्रव ही है, इसीलिए उसे छोड़ना चाहिए। इस प्रकार के विचार का नाम आस्रव भावना है।

कर्मास्रवनिरोधोऽत्र सवरो भवति ध्रुवम्।
साक्षादेतदनुष्ठान मनोवाक्कायसंवृतिः ॥५२॥

अर्थ—कर्मों के आस्रव को रोकना, यह निश्चय से संवर कहलाता है। इस सवर का साक्षात् अनुष्ठान मन, वचन और काय की अशुभ प्रवृत्ति को रोक देना है।

विशेषार्थ—जिन मिथ्यात्व एवं अविरति आदि परिणामों के द्वारा कर्म आते हैं उन्हे आस्रव तथा उनके निरोध को सवर कहा जाता है। आस्रव जहाँ ससार का कारण है वहाँ सवर मोक्ष का कारण है। इसी-लिए आस्रव हेय और संवर उपादेय है। इस प्रकार संवर के स्वरूप का विचार करना, यह संवर भावना कही जाती है।

निर्जरा शातनं प्रोक्ता पूर्वोपार्जितकर्मणाम्।
तपोभिर्बहुभिः सा स्याद्वैराग्याश्रितचेष्टितैः ॥५३॥

अर्थ—पूर्व संचित कर्मों को धीरे-धीरे नष्ट करना, यह निर्जरा

कही गई है। वह वैराग्य के आलम्बन से प्रवृत्त होने वाले बहुत से तपों के द्वारा होती है। इस प्रकार निर्जरा के स्वरूप का विचार करना यह निर्जरा भावना है।

लोक: सर्वोऽपि सर्वत्र सापायस्थितिरध्रुव.।
दु खकारीति कर्तव्या मोक्ष एव मति सताम् ॥५४॥

अर्थ—यह सब लोक सर्वत्र विनाशयुक्त स्थिति से सहित, अनित्य तथा दु खदायी है। इसीलिए विवेकी जनो की अपनी बुद्धि मोक्ष के विषय में ही लगानी चाहिए।

विशेषार्थ—यह चौदह राजु ऊँचा लोक अनादि निधन है, इसका कोई कर्त्ता-धर्त्ता नही है। जीव अपने कर्म के अनुसार इस लोक मे परिभ्रमण करता हुआ कभी नारकी, कभी तिर्यंच, कभी देव और कभी मनुष्य होता है। इसमे परिभ्रमण करते हुए जीव को कभी निराकुल सुख प्राप्त नही होता। वह निराकुल सुख मोक्ष प्राप्त होने पर ही उत्पन्न होता है। इसीलिए विवेकी जन को उक्त मोक्ष की प्राप्ति का ही प्रयत्न करना चाहिए। इस प्रकार लोक के स्वभाव का विचार करना, यह लोक भावना कहलाती है।

रत्नत्रयपरिप्राप्तिर्बोधि सातीव दुर्लभा।
लब्धा कथ कथचिच्चेत् कार्यो यत्नो महानिह ॥५५॥

अर्थ—सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान और सम्यक्चारित्र स्वरूप रत्नत्रय की प्राप्ति का नाम बोधि है। वह बहुत ही दुर्लभ है। यदि वह जिस किसी प्रकार से प्राप्त हो जाती है तो फिर उसके विषय मे महान् प्रयत्न करना चाहिए। इस प्रकार रत्नत्रय स्वरूप बोधि की प्राप्ति की दुर्लभता का विचार करना, यह बोधिदुर्लभ भावना है।

जिनधर्मोऽयमत्यन्तं दुर्लभो भविनां मत.।
तथा ग्रा ्यो यथा साक्षादामोक्षं सह गच्छति ॥५६॥

अर्थ—ससारी प्राणियो के लिए यह जैनधर्म अत्यन्त दुर्लभ माना

गया है। उक्त धर्म को इस प्रकार से ग्रहण करना चाहिए कि वह साक्षात् मोक्ष के प्राप्त होने तक साथ मे ही जावे।

दु:खग्राहगणाकीर्णे संसारक्षारसागरे।
धर्मपोतं पर प्राहुस्तारणार्थं मनीषिण ॥५७॥

अर्थ—विद्वान् पुरुष दु खरूपी हिंसक जलजन्तुओ के समूह से व्याप्त इस संसार रूपी खारे समुद्र मे उससे पार होने के लिए धर्म रूपी नाव को उत्कृष्ट बतलाते हैं। इस प्रकार धर्म के स्वरूप का विचार करना धर्म भावना कही जाती है।

अनुप्रेक्षा इमा सद्‌भि. सर्वदा हृदये वृताः।
कुर्वंते तत्पर पुण्य हेतुर्यत्स्वर्गमोक्षयो ॥५८॥

अर्थ—सज्जनो के द्वारा सदा हृदय मे धारण की गई ये बारह अनुप्रेक्षाये उस उत्कृष्ट पुण्य को देती हैं जो कि स्वर्ग और मोक्ष का कारण होता है।

आद्योत्तमक्षमा यत्र यो धर्मो दशभेदभाक्।
श्रावकैरपि सेव्योऽसौ यथाशक्ति यथागमम् ॥५९॥

अर्थ—जिस धर्म मे उत्तम क्षमा सबसे पहिले है तथा जो दस भेदो से संयुक्त है, श्रावको को भी अपनी शक्ति और आगम के अनुसार उस धर्म का सेवन करना चाहिए।

अन्तस्तत्व विशुद्धात्मा बहिस्तत्व दयांगिषु।
द्वयोः सम्मिलने मोक्षस्तस्माद् द्वितयमाश्रयेत् ॥६०॥

अर्थ—आभ्यन्तर तत्व कर्म कलक से रहित विशुद्ध आत्मा तथा बाह्य तत्व प्राणियों के विषय मे दयाभाव है। इन दोनो के मिलने पर मोक्ष होता है। इसलिए इन दोनो का आश्रय करना चाहिए।

कर्मभ्यः कर्मकार्येभ्यः पृथग्भूत चिदात्मकम्।
आत्मानं भावयेन्नित्यं नित्यानन्दपदप्रदम् ॥६१॥

अर्थ—जो चैतन्य स्वरूप आत्मा कर्मों तथा उनके कार्यभूत रागादि विभावों और शरीर आदि से भिन्न है उस शाश्वतिक आनन्द स्वरूप पद को अर्थात् मोक्ष को प्रदान करने वाली आत्मा का सदा विचार करना चाहिए।

इत्युपासकसस्कार: कृत: श्रीपद्मनन्दिना।
येषामेतदनुष्ठान तेषां धर्मोऽतिनिर्मल: ॥६२॥

अर्थ—इस प्रकार यह उपासक सस्कार अर्थात् श्रावक का चारित्र श्री पद्मनन्दी मुनि के द्वारा रचा गया है। जो जन इसका आचरण करते हैं उनके अत्यन्त निर्मल धर्म होता है।

देशव्रतोद्द्योतन

बाह्याभ्यन्तरसंगवर्जनतया ध्यानेन शुक्लेन य.।
कृत्वा कर्मचतुष्टयक्षयमगात् सर्वज्ञतां निश्चितम्॥
तेनोक्तानि वचांसि धर्मकथने सत्यानि नान्यानि तत्।
भ्राम्यत्यत्र मतिस्तु यस्य स महापापी न भव्योऽथवा ॥१॥

अर्थ—जो बाह्य और आभ्यन्तर परिग्रह को छोड़ करके तथा शुक्ल ध्यान के द्वारा चार घातिया कर्मों को नष्ट करके निश्चय से सर्वज्ञता को प्राप्त हो चुका है उसके द्वारा धर्म के व्याख्यान मे कहे गये वचन सत्य हैं, इससे भिन्न राग द्वेष से दूषित हृदय वाले किसी अल्पज्ञ के वचन सत्य नही हैं। इसीलिए जिस जीव की बुद्धि उक्त सर्वज्ञ के वचनो मे भ्रम को प्राप्त होती है वह अतिशय पापी है, अथवा वह भव्य नही है।

एकोऽप्यत्र करोति य: स्थितिमतिप्रीत: शुचौ दर्शने।
स श्लाघ्य: खलु दु:खितोऽप्युदयतो दुष्कर्मण: प्राणभृत् ॥
अन्यै: किं प्रचुरैरपि प्रमुदितैरत्यन्तदूरीकृत-
स्फीतानन्दभरप्रदामृतपथैर्मिथ्यापथे प्रस्थितै: ॥२॥

अर्थ—एक भी जो भव्य प्राणी अत्यन्त प्रसन्नता से यहाँ निर्मल सम्यग्दर्शन के विषय मे स्थिति को करता हैं वह पाप कर्म के उदय से दु खित होकर भी निश्चय से प्रशसनीय है। इसके विपरीत जो मिथ्या मार्ग मे प्रवृत्त होकर महान् सुख को प्रदान करने वाले मोक्ष के मार्ग से बहुत दूर हैं वे यदि सख्या मे अधिक तथा सुखी भी हो तो भी उनसे कुछ प्रयोजन नही है।

विशेषार्थ—अभिप्राय यह है कि यदि निर्मल सम्यग्दृष्टि जीव एक भी हो तो वह प्रशंसा के योग्य हैं। किन्तु मिथ्या मार्ग मे प्रवृत्त हुए प्राणी सख्या मे यदि अधिक भी हो तो भी वे प्रशंसनीय नही है—निन्दनीय ही हैं। निर्मल सम्यग्दृष्टि जीव का पाप कर्म के उदय से वर्तमान मे दु खी रहना भी उतना हानिकारक नही है, जितना कि मिथ्यादृष्टि जीव का पुण्य कर्म के उदय से वर्तमान मे सुख मे स्थित रहना भी हानिकारक है।

> वीज मोक्षतरोर्दृशं भवतरोर्मिथ्यात्वमाहुर्जिना· ।
> प्राप्तायां दृशि तन्मुमुक्षुभिरलं यत्नो विधेयो बुधै. ॥
> ससारे वहुयोनिजालजटिले भ्राम्यन् कुकर्मावृत ।
> क्व प्राणी लभते महत्यपि गले काले हिता तामिह ॥३॥

अर्थ—जिन भगवान सम्यग्दर्शन को मोक्ष रूपी वृक्ष का बीज तथा मिथ्यादर्शन को ससार रूपी वृक्ष का बीज वतलाते हैं। इसलिए उस सम्यग्दर्शन के प्राप्त हो जाने पर मोक्षाभिलाषी विद्वज्जनो को उसके संरक्षण आदि के विषय मे महान् प्रयत्न करना चाहिए। कारण यह है कि पाप कर्म से आच्छन्न होकर बहुत-सी (चौरासी लाख) योनियों के समूह से जटिल इस ससार में परिभ्रमण करने वाला प्राणी दीर्घ काल के बीतने पर भी हितकारक उस सम्यग्दर्शन को कहाँ से प्राप्त कर सकता है। अर्थात् नही प्राप्त कर सकता है।

संप्राप्तेऽत्र भवे कथं कथमपि द्राघीयसानेहसा ।
मानुष्ये शुचिदर्शने च महतां कार्यं तपो मोक्षदम् ॥
नो चेल्लोकनिषेधतोऽथ महतो मोहादशक्तैरथो ।
संपद्येत न तत्तदा गृहवतां षट्कर्मयोग्यं व्रतम् ॥४॥

अर्थ—यहा ससार मे यदि किसी प्रकार से अतिशय दीर्घ काल मे मनुष्य भव और निर्मल सम्यग्दर्शन प्राप्त हो गया है तो फिर महापुरुष को मोक्षदायक तप का आचरण करना चाहिए । परन्तु यदि कुटुम्बी जनों आदि के रोकने से, महा मोह से अथवा अशक्ति के कारण वह तपश्चरण नही किया जा सकता है तो फिर गृहस्थ श्रावकों के छह आवश्यक (देव पूजा आदि) क्रियाओं के योग्य व्रत का परिपालन तो करना ही चाहिए ।

दृढमूलव्रतमष्टधा तदनु च स्यात्पंचधाणुव्रतं ।
शीलाख्यं च गुणव्रतत्रयमतः शिक्षाश्चतस्रः पराः ॥
रात्रौ भोजनवर्जन शुचिपटात् पेयं पयः शक्तितो ।
मौनादिव्रतमक्ष्यनुष्ठितमिदं पुण्याय भव्यात्मनाम् ॥५॥

अर्थ—सम्यग्दर्शन के साथ आठ मूलगुण, तत्पश्चात् पांच अणुव्रत, तथा तीन गुणव्रत एव चार शिक्षाव्रत इस प्रकार ये सात शीलव्रत, रात्रि मे भोजन का परित्याग, पवित्र वस्त्र से छाने गये जल का पीना तथा शक्ति के अनुसार मौनव्रत आदि यह सब आचरण भव्य जीवो के लिए पुण्य का कारण होता है ।

हन्ति स्थावरदेहिनः स्वविषये सर्वांस्त्रसान् रक्षति ।
ब्रूते सत्यमचौर्यवृत्तिमवलां शुद्धां निजां सेवते ॥
दिग्देशव्रतदण्डवर्जनमतः सामायिकं प्रोषधं ।
दानं भोगयुगप्रमाणमुररीकुर्याद्ध्ददीति व्रती ॥६॥

अर्थ—व्रती श्रावक अपने प्रयोजन के वश स्थावर प्राणियों का घात

करता हुआ भी सब त्रस जीवो की रक्षा करता है, सत्य वचन बोलता है, चौर्यवृत्ति (चोरी) का परित्याग करता है, सिर्फ अपनी ही स्त्री का सेवन करता है, दिग्व्रत और देशव्रत का पालन करता है, अनर्थदण्डों (पापोपदेश, हिंसादान, अपध्यान, दुःश्रुति और प्रमादचर्या) का परित्याग करता है, तथा सामायिक, प्रोषधोपवास, दान (अतिथिसंविभाग) और भोगोपभोग परिमाण को स्वीकार करता है।

देवाराधनपूजनादिबहुषु व्यापारकार्येषु सत्-
पुण्योपार्जनहेतुषु प्रतिदिनं संजायमानेष्वपि ॥
संसारार्णवतारणे प्रवहणं सत्पात्रमुद्दिश्य यत् ।
तद्देशव्रतधारिणो धनवतो दानं प्रकृष्टो गुणः ॥७॥

अर्थ—देशव्रती धनवान श्रावक के प्रतिदिन उत्तम पुण्योपार्जन के कारणभूत देवाराधना एवं जिनपूजनादि रूप बहुत कार्यों के होने पर भी संसार रूपी समुद्र के पार होने मे नौका का काम करने वाला जो सत्पात्र दान है वह उसका महान् गुण है। अभिप्राय यह है कि श्रावक के समस्त कार्यों मे मुख्य कार्य सत्पात्रदान है।

सर्वो वाञ्छति सौख्यमेव तनुभृत्तन्मोक्ष एव स्फुट ।
दृष्ट्यादित्रय एव सिध्यति स तन्निर्ग्रन्थ एव स्थितम् ॥
तद्वृत्तिर्वपुषोऽस्य वृत्तिरशनात्तद्दीयते श्रावकै ।
काले क्लिष्टतरेऽपि मोक्षपदवी प्रायस्ततो वर्तते ॥८॥

अर्थ—सब प्राणी सुख की ही इच्छा करते हैं, वह सुख स्पष्टतया मोक्ष मे ही है, वह मोक्ष सम्यग्दर्शनादि स्वरूप रत्नत्रय के होने पर ही सिद्ध होता है, वह रत्नत्रय दिगम्बर साधु के ही होता है, उक्त साधु की स्थिति शरीर के निमित्त से होती है, उस शरीर की स्थिति भोजन के निमित्त से होती है, और वह भोजन श्रावकों के द्वारा दिया जाता है। इस प्रकार इस अतिशय क्लेशयुक्त काल मे भी मोक्ष मार्ग की प्रवृत्ति प्रायः उन श्रावको के निमित्त से ही हो रही है।

स्वच्छाहारविहारजल्पनतया नीरुग्वपुर्जायते ।
साधूनां तु न सा ततस्तदपटु प्रायेण संभाव्यते ।।
कुर्यादौषधपथ्यवारिभिरिद चारित्रभारक्षमं ।
यत्तास्मादिह वर्तते प्रशमिना धर्मो गृहस्थोत्तमात् ।।९।।

अर्थ—शरीर इच्छानुसार भोजन, गमन और संभाषण से नीरोग रहता है। परन्तु इस प्रकार की इच्छानुसार प्रवृत्ति साधुओ के सम्भव नही है। इसलिए उनका शरीर प्राय अस्वस्थ हो जाता है। ऐसी अवस्था में चूंकि श्रावक उस शरीर को औषध, पथ्य, भोजन और जल के द्वारा व्रत परिपालन के योग्य करता है अतएव यहाँ उन मुनियों का धर्म उत्तम श्रावक के निमित्त से ही चलता है।

व्याख्यां पुस्तकदानमुन्नतधिया पाठाय भव्यात्मनां ।
भक्त्या यत्क्रियते श्रुताश्रयमिदं दानं तदाहुर्बुधा. ।।
सिद्धेऽस्मिन् जननान्तरेषु कतिषु त्रैलोक्यलोकोत्सव-
श्रीकारिप्रकटीकृताखिलजगत्कैवल्यभाजो जना: ।।१०।।

अर्थ—उन्नत बुद्धि के धारक भव्य जीवों को पढने के लिए जो भक्ति से पुस्तक का दान किया जाता है, अथवा उनके लिए तत्व का व्याख्यान किया जाता है, इसे विद्वज्जन श्रुतदान (ज्ञानदान) कहते है। इस ज्ञानदान के सिद्ध हो जाने पर कुछ थोड़े से ही भवों मे मनुष्य उस केवलज्ञान को प्राप्त कर लेते है जिसके द्वारा सम्पूर्ण विश्व साक्षात् देखा जाता है तथा जिसके प्रगट होने पर तीनो लोकों के प्राणी उत्सव की शोभा करते है ।।१०।।

सर्वेषामभयं प्रवृद्धकरुणैर्यद्दीयते प्राणिना ।
दानं स्यादभयादि तेन रहितं दानत्रयं निष्फलम् ।।
आहारौषधशास्त्रदानविधिभि. क्षुद्रोगजाड्याद्भयं ।
यत्तात्पात्रजने विनश्यति ततो दान तदेकं परम् ।।११।।

अर्थ—दयालु पुरुषों के द्वारा जो सब प्राणियो के लिए अभय दिया जाता है, अर्थात् उनके भय को दूर किया जाता है, वह अभयदान कहलाता है। उससे रहित शेष तीन प्रकार का दान व्यर्थ होता है। चूंकि आहार, औषध और शास्त्र के दान की विधि से पात्र जन का क्रम से क्षुधा का भय, रोग का भय और अज्ञानता का भय नष्ट होता है अतएव एक वह अभयदान ही श्रेष्ठ है।

भावार्थ—अभिप्राय यह है कि उपर्युक्त चार दानो मे यह अभयदान मुख्य है। कारण कि शेष आहारादि दानों की सफलता इस अभय दान के ही ऊपर अवलंबित है। इसके अतिरिक्त यदि विचार किया जाय तो वे आहारादि के दान स्वरूप शेष तीन दान भी इस अभयदान के ही अन्तर्गत हो जाते हैं। इसका कारण यह है कि अभयदान का अर्थ है प्राणी के सब प्रकार के भय को दूर करके उसे निर्भय करना। सो आहार दान के द्वारा प्राणी की क्षुधा के भय को, औषधदान के द्वारा रोग के भय को, और शास्त्र दान के द्वारा उसकी अज्ञानता के भय को ही दूर किया जाता है ॥११॥

आहारात् सुखितौषधादतितरां नीरोगता जायते।
शास्त्रात् पात्रनिवेदितात् परभवे पाण्डित्यमत्यद्भुतम् ॥
एतत्सर्वगुणप्रभापरिकरः पुंसोऽभयाद्दानतः।
पर्यन्ते पुनरुन्नतोन्नतपदप्राप्तिर्विमुक्तिस्ततः ॥१२॥

अर्थ—पात्र के लिए दिये गये आहार के निमित्त से दूसरे जन्म में सुख, औषध के निमित्त से अतिशय नीरोगता, और शास्त्र के निमित्त से आश्चर्यजनक विद्वत्ता प्राप्त होती है। सो अभयदान से पुरुष को इन सब ही गुणो का समुदाय प्राप्त होता है तथा अन्त मे उन्नत उन्नत पदों (इन्द्र एव चक्रवर्ती आदि) की प्राप्ति पूर्वक मुक्ति भी प्राप्त हो जाती है।

कृत्वा कार्यशतानि पापबहुलान्याश्रित्य खेदं परं।
भ्रान्त्वा वारिधिमेखला वसुमती दुःखेन यच्चार्जितम् ॥
तत्पुत्रादपि जीवितादपि धनं प्रेयोऽस्य पन्थाः शुभो।
दानं तेन च दीयतामिदमहो नान्येन तत्संगतिः ॥१३॥

अर्थ—जो धन अतिशय खेद का अनुभव करके, पाप प्रचुर सैकड़ो दुष्कार्यों को करके तथा समुद्र रूप करधनी से सहित अर्थात् समुद्र पर्यन्त पृथिवी का परिभ्रमण करके बहुत दुःख से कमाया गया है वह धनमनुष्य को अपने पुत्र एवं प्राणों से भी अधिक प्यारा होता है। इसके व्यय का उत्तम मार्ग दान है। इसलिए कष्ट से प्राप्त उस धन का दान करना चाहिए। इसके विपरीत दूसरे मार्ग (दुर्व्यसनादि) से अपव्यय किये जाने पर उसका संयोग फिर से नही प्राप्त हो सकता है।

दानेनैव गृहस्थता गुणवती लोकद्वयोद्द्योतिका।
सैवं स्यान्ननु तद्विना धनवतो लोकद्वयध्वंसकृत् ॥
दुर्व्यापारशतेषु सत्सु गृहिणः पापं यदुत्पद्यते।
तन्नाशाय शशाङ्कशुभ्रयशसे दानं च नान्यत्परम् ॥१४॥

अर्थ—दान के द्वारा ही गुणयुक्त गृहस्थाश्रम दोनो लोकों को प्रकाशित करता है, अर्थात् जीव को दान के निमित्त से ही इस भव और परभव दोनों मे सुख प्राप्त होता है। इसके विपरीत उक्त दान के बिना धनवान मनुष्य का वह गृहस्थाश्रम दोनों लोकों को नष्ट कर देता है। सैकड़ों दुष्ट व्यापारो में प्रवृत्त होने पर गृहस्थ के जो पाप उत्पन्न होता है उसको नष्ट करने का तथा चन्द्रमा के समान धवल यश की प्राप्ति का कारण वह दान ही है, उसको छोड़कर पाप नाश और यश की प्राप्ति का और कोई दूसरा कारण नही हो सकता है।

पात्राणामुपयोगि यत्किल धनं तद्धीमतां मन्यते।
येनानन्तगुणं परत्र सुखदं व्यावर्तते तत्पुनः ॥

यद्भोगाय गत पुनर्धनवतस्तन्नष्टमेव ध्रुव ।
मर्वासामिति सपदा गृहवता दाने प्रधानं फलम् ।।१५।।

अर्थ—जो धन पात्रो के उपयोग मे आता है उसी को बुद्धिमान मनुष्य श्रेष्ठ मानते हैं, क्योकि, वह अनन्तगुणे सुख का देने वाला होकर परलोक मे फिर से भी प्राप्त हो जाता है । किन्तु इसके विपरीत जो धनवान का धन भोग के निमित से नष्ट होता है वह निश्चय से नष्ट ही हो जाता है, अर्थात् दानजनित पुण्य के अभाव मे वह फिर कभी नही प्राप्त होता । अतएव गृहस्थो को समस्त सम्पत्तियो के लाभ का उत्कृष्ट फल दान में ही प्राप्त होता है ।

पुत्रे राज्यमशेषमर्थिपु धनं दत्वाभयं प्राणिपु ।
प्राप्ता नित्यसुखास्पदं सुतपसा मोक्षं पुरा पार्थिवाः ।।
मोक्षस्यापि भवेत्ततः प्रथमतो दानं निदान बुधैः ।
शक्त्या देयमिदं सदातिचपले द्रव्ये तथा जीविते ।।१६।।

अर्थ—पूर्व काल मे अनेक राजा पुत्र को समस्त राज्य देकर, याचक जनो को धन देकर, तथा प्राणियो को अभय देकर उत्कृष्ट तपश्चरण के द्वारा अविनश्वर सुख के स्थानभत मोक्ष को प्राप्त हुए है । इस प्रकार से वह दान मोक्ष का भी प्रधान कारण है । इसीलिए सम्पत्तिं और जीवित के अतिशय चपल अर्थात् नश्वर होने पर विद्वान् पुरुपो को शक्ति के अनुसार सर्वदा उस दान को अवश्य देना चाहिए ।

ये मोक्षं प्रति नोद्यताः सुनृभवे लब्वेऽपि दुर्बुद्धयः ।
ते तिष्ठन्ति गृहे न दानमिह चेत्तन्मोहपाशो दृढः ।।
मत्वेदं गृहिणा यथर्द्धि विविधं दान सदा दीयतां ।
तत्संसारसरित्पतिप्रतरणे पोतायते निश्चितम् ।।१७।।

अर्थ—उत्तम मनुष्य भव को पा करके भी जो दुर्बुद्धि पुरुष मोक्ष के विपय मे उद्यम नही करते है वे यदि घर मे रहते हुए भी दान नही देते है तो उनके लिए वह घर मोह के द्वारा निर्मित्त दृढ जाल जैसा ही

है, ऐसा समझ कर गृहस्थ श्रावक को अपनी सम्पत्ति के अनुसार सर्वदा अनेक प्रकार का दान देना चाहिए। कारण यह कि वह दान निश्चय से संसार रूपी समुद्र के पार होने मे नाव का काम करने वाला है।

यैर्नित्यं न विलोक्यते जिनपतिर्न स्मर्यते नार्च्यते।
न स्तूयेत न दीयते मुनिजने दानं च भक्त्या परम्॥
सामर्थ्ये सति तद्गृहाश्रमपद पाषाणनावा सम।
तत्रस्था भवसागरेऽतिविषमे मज्जन्ति नश्यन्ति च॥१८॥

अर्थ—जो जन प्रतिदिन जिनेन्द्र देव का न तो दर्शन करते है, न स्मरण करते है, न पूजन करते हैं, न स्तुति करते है, और न समर्थ होकर भी भक्ति से मुनिजन के लिए उत्तम दान ही देते है, उनका गृहस्थाश्रम पद पत्थर की नाव के समान है। उसके ऊपर स्थित होकर वे मनुष्य अत्यन्त भयानक ससार रूपी समुद्र मे गोता खाते हुए नष्ट ही होने वाले हैं।

चिन्तारत्नसुरद्रुकामसुरभिस्पर्शोपलाद्या भुवि
ख्याता एव परोपकारकरणे दृष्टा न ते केनचित्॥
तैरत्रोपकृतं न केषुचिदपि प्रायो न सभाव्यते।
तत्कार्याणि पुनः सदैव विदधद्दाता परं दृश्यते॥१९॥

अर्थ—चिन्तामणि, कल्पवृक्ष, कामधेनु और पारस पत्थर आदि पृथ्वी पर परोपकार के करने मे केवल प्रसिद्ध हा हैं। उनको न तो किसी ने परोपकार करते हुए देखा है और न उन्होने यहाँ किसी का उपकार किया ही है, तथा वैसी सम्भावना भी प्राय' नही है। परन्तु उनके कार्यों (परोपकारादि) को सदा ही करता हुआ केवल दाता श्रावक अवश्य देखा जाता है। तात्पर्य यह है कि दानी मनुष्य उन प्रसिद्ध चिन्तामणि आदि से भी अतिशय श्रेष्ठ है।

यत्र श्रावकलोक एष वसति स्यात्तत्र चैत्यालयो ।
यस्मिन् सोऽस्ति च तत्र सन्ति यतयो धर्मश्च तैर्वर्तते ।।
धर्मे सत्यघसंचयो विघटते स्वर्गापवर्गाश्रियं ।
सौख्यं भावि नृणां ततो गुणवता स्यु. श्रावका. समता ।।२०।।

अर्थ—जिस गाँव में श्रावक जन रहते है वहाँ चैत्यालय होता है और जहाँ पर चैत्यालय है वहाँ पर मुनिजन रहते हैं, उन मुनियो के द्वारा धर्म की प्रवृत्ति होती है, तथा धर्म के होने पर पाप के समूह का नाश होकर स्वर्ग मोक्ष का सुख प्राप्त होता है । इसलिए गुणवान मनुष्यो को श्रावक अभीष्ट हैं।

भावार्थ—अभिप्राय यह है कि जिन जिनभवनो मे स्थित होकर मुनिजन स्वर्ग मोक्ष के साधनभूत धर्म का प्रचार करते हैं वे जिनभवन श्रावकों के द्वारा ही निर्मापित कराये जाते हैं । अतएव जब वे श्रावक ही परम्परा से उस सुख के साधन हैं तब गुणी जनो को उन श्रावकों का यथायोग्य सन्मान करना चाहिए।

काले दुःखमसंज्ञके जिनपतेर्धर्मे गते क्षीणता ।
तुच्छे सामयिके जने बहुतरे मिथ्यान्धकारे सति ।।
चैत्ये चैत्यगृहे च भक्तिसहितो यः सोऽपि नो दृश्यते ।
यस्तत्कारयते यथाविधि पुनर्भव्यः स वन्द्यः सताम् ।।२१।।

अर्थ—इस दुखमा नाम के पंचम काल मे जिनेन्द्र भगवान् के द्वारा प्ररूपित धर्म क्षीण हो चुका है । इसमे जैनागम अथवा जैनधर्म का आश्रय लेने वाले जन थोड़े और अज्ञान रूप अन्धकार का प्रचार बहुत अधिक है। ऐसी अवस्था मे जो मनुष्य जिन प्रतिमा और जिनगृह के विषय में भक्ति रखता हो वह भी नही देखने मे आता । फिर भी जो भव्य विधि पूर्वक उक्त जिन प्रतिमा और जिन गृह का निर्माण करता है वह सज्जन पुरुषों द्वारा वन्दनीय है।

विम्बादलोन्नतियवोन्नतिमेव भक्त्या ।
येकारयन्ति जिनसद्म जिनाकृति च ॥
पुण्यं तदीयमिह वागपि नैव शक्ता ।
स्तोतु परस्य किमु कारयितुर्द्वयस्य ॥२२॥

अर्थ—जो भव्य जीव भक्ति से कुदुरु के पत्ते के बरावर जिनालय तथा जौ के बरावर जिनप्रतिमा का निर्माण कराते हैं उनके पुण्य का वर्णन करने के लिए यहाँ वाणी (सरस्वती) भी समर्थ नहीं है। फिर भी जो भव्य जीव उन (जिनालय एव जिनप्रतिमा) दोनो का ही निर्माण कराता है उसके विषय मे क्या कहा जाय ? अर्थात् वह तो अतिशय पुण्यशाली ही है।

विशेषार्थ—इसका अभिप्राय यह है कि जो भव्य प्राणी छोटे से छोटे भी जिनमन्दिर का अथवा जिनप्रतिमा का निर्माण कराता है वह बहुत ही पुण्यशाली होता है। फिर जो भव्य प्राणी विशाल जिनभवन का निर्माण कराकर उसमें मनोहर जिनप्रतिमा को प्रतिष्ठित कराता है उसको तो निःसन्देह अपरिमित पुण्य का लाभ होने वाला है।

यात्राभि. स्नपनैमहोत्सवशतैः पूजाभिरुल्लोचकैः ।
नैवेद्यैर्बलिभिर्ध्वजैश्च कलशैस्तूर्यत्रिकैर्जागरै. ॥
घण्टाचामरदर्पणादिभिरपि प्रस्तार्य शोभां परां ।
भव्याः पुण्यमुपार्जयन्ति सततं सत्यत्र चैत्यालये ॥२३॥

अर्थ—संसार में चैत्यालय के होने पर अनेक भव्य जीव यात्राओं (जलयात्रा आदि) अभिषेकों, सैकडो महान् उत्सवो, अनेक प्रकार के पूजाविधानो, चन्दोबो, नैवेद्यों, अन्य उपहारों ध्वजाओ, कलशो, तौर्यत्रिकों (गीत, नृत्य, वादित्र), जागरणों तथा घण्टा, चामर और दर्पणादिकों के द्वारा उत्कृष्ट शोभा का विस्तार करके निरन्तर पुण्य का उपार्जन करते हैं।

ते चाणुव्रतधारिणोऽपि नियतं यान्त्येव देवालय ।
तिष्ठन्त्येव महर्द्धिकामरपद तत्रैव लब्ध्वा चिरम् ॥
अत्रागत्य पुन. कुलेऽतिमहति प्राप्य प्रकृष्टं शुभा- ।
न्मानुष्यं च विरागतां च सकलत्यागं च मुक्तास्ततः ॥२४॥

अर्थ—वे भव्य जीव यदि अणुव्रतो के भी धारक हो तो भी मरने के पश्चात् स्वर्ग लोक को ही जाते है और अणिमा आदि ऋद्धियों से सयुक्त देवपद को प्राप्त करके चिरकाल तक वहा (स्वर्ग मे) ही रहते है। तत्पश्चात् महान् पुण्य कर्म के उदय से मनुष्य लोक मे आकर और अतिशय प्रशसनाय कुल मे उत्तम मनुष्य होकर वैराग्य को प्राप्त होते हुए वे समस्त परिग्रह को छोड़कर मुनि हो जाते है तथा इस क्रम से वे अन्त मे मुक्ति को भी प्राप्त कर लेते है।

पुंसोऽर्थेषु चतुर्षु निश्चलतरो मोक्ष पर सत्सुख ।
शेषास्तद्विपरीतधर्मकलिता हेया मुमुक्षोरत. ॥
तस्मात्तत्पदसाधनत्वधरणो धर्मोऽपि नो संमतः ।
यो भोगादिनिमित्तमेव स पुन' पाप बुधैर्मन्यते ॥२५॥

अर्थ—धर्म, अर्थ, काम और मोक्ष इन चार पुरुपार्थों मे केवल मोक्ष पुरुपार्थ ही समीचीन (बाधा रहित) सुख से युक्त होकर सदा स्थिर रहने वाला है। शेप तीन पुरुषार्थ उससे विपरीत (अस्थिर) स्वभाव वाले है। अतएव वे मुमुक्षु जन के लिए छोड़ने के योग्य हैं। इसीलिए जो धर्म पुरुपार्थ उपर्युक्त मोक्ष पुरुपार्थ का साधक होता है वह भी हमे अभीष्ट है, किन्तु जो धर्म केवल भोगादि का ही कारण होता है उसे विद्वज्जन पाप ही समझते हैं।

भव्यानामणुभिर्व्रतैरनणुभि. साध्योऽत्र मोक्ष पर ।
नान्यत्किचिदिहैव निश्चयनयाज्जीव सुखी जायते ॥
सर्वं तु व्रतजातमीदृशधिया साफल्यमेत्यन्यथा ।
संसाराश्रयकारण भवति यत्तद्दु:खमेव स्फुटम् ॥२६॥

अर्थ—भव्य जीवों को अणुव्रतो अथवा महाव्रतों के द्वारा यहा पर केवल मोक्ष ही सिद्ध करने के योग्य है, अन्य कुछ भी सिद्ध करने के योग्य नही है। कारण यह है कि निश्चय नय से जीव उस मोक्ष मे ही स्थित होकर सुखी होता है। इसीलिए इस प्रकार की बुद्धि से जो सब व्रतो का परिपालन किया जाता है वह सफलता को प्राप्त होता है तथा इसके विपरीत वह केवल उस संसार का कारण होता है जो प्रत्यक्ष मे ही दु:खस्वरूप है।

> यत्कल्याणपरंपरार्पणपरं भव्यात्मना ससृतौ।
> पर्यन्ते यदनन्तसौख्यसदनं मोक्षं ददाति ध्रुवम् ॥
> तज्जीयादतिदुर्लभ सुनरतामुख्यैर्गुणैः प्रापितं ।
> श्रीमत्पकजनन्दिभिर्विरचितं देशव्रतोद्योतनम् ॥२७॥

अर्थ—श्रीमान् पद्मनन्दी मुनि के द्वारा रचा गया जो देशव्रतोद्योतन प्रकरण संसार में भव्य जीवो के लिए कल्याण परम्परा के देने मे तत्पर है, अन्त मे जो निश्चय से अनन्त सुख के स्थानभूत मोक्ष को देता है, तथा जो उत्तम मनुष्य पर्याय आदि गुणो से प्राप्त कराया जाने वाला है, ऐसा वह दुर्लभ देशव्रतोद्योतन जयवन्त होवे।

इस प्रकरण मे सामान्य रीति से अणुव्रत का और श्रावक धर्म का विवेचन किया गया है। क्योकि आजकल बहुत से लोग क्रियाकाण्ड से वञ्चित रहते हैं क्योंकि गृहस्थ के धार्मिक संस्कार छूट जाने के कारण आजकल हमारी परिणति धर्म के प्रति बहुत कम होती जा रही है। इसका कारण यह है कि परम्परया उपासका अध्ययन की परिपाटी छूटने के कारण केवल भावना के ऊपर सभी निर्भर है। इस प्रकार भावना मे कभी शंका पैदा हो जाती है कि इस कलिकाल मे केवली भगवान साक्षात् है ही नही। तब किसकी पूजा करे। किस पर श्रद्धा रखें। ऐसी अनेक शकायें होने से उन शंकाओं को दूर करने के लिए पद्मनन्दि आचार्य ने अपने पंचविंशति मे इस प्रकार खुलासा किया है कि—

संप्रत्यस्ति न केवली किल किलौ त्रैलोक्यचूडामणि: ।
तद्वाच: परमासते ऽत्र भरतक्षेत्रे जगद्द्योतिका ।।
सद्रत्नत्रयधारिणो यतिवरास्तासां समालम्बन ।
तत्पूजा जिनवाचि पूजनमत. साक्षाज्जिन पूजित: ।।

अर्थ—इस समय इस कलिकाल (पचम काल) मे भरत क्षेत्र के भीतर यद्यपि तीनो लोको मे श्रेष्ठभूत केवली भगवान् विराजमान नही हैं फिर भी लोक को प्रकाशित करने वाले उनके वचन तो यहा विद्यमान हैं ही और उन वचनो के आश्रयभूत सम्यदर्शन, सम्यग्ज्ञान एव सम्यक्-चारित्र रूप उत्तम रत्नत्रय के धारी श्रेष्ठ मुनिराज हैं। इसीलिए उक्त मुनियों की पूजा वास्तव मे जिन वचनो की ही पूजा है, और इससे प्रत्यक्ष मे जिन भगवान् की ही पूजा की गई है, ऐसा समझना चाहिए।

विशेषार्थ—इस पचम काल मे भरत और ऐरावत क्षेत्रो के भीतर साक्षात् केवली नही पाये जाते हैं, फिर भी जनो के अज्ञानान्धकार को हरने वाले उनके वचन (जिनागम) परम्परा से प्राप्त हैं ही। चूंकि उन वचनो के ज्ञाता श्रेष्ठ मुनिराज ही हैं अतएव वे पूजनीय है। इस प्रकार से की गई उक्त मुनियो की पूजा से जिनागम की पूजा और इससे साक्षात् जिन भगवान् की ही की गई पूजा समझना चाहिए।

स्पृष्टा यत्र मही तदङ्घ्रिकमलैस्तत्रैति सत्तीर्थता ।
तेभ्यस्तेऽपि सुरा. कृताञ्जलिपुटा नित्य नमस्कुर्वते ।।
तन्नामस्मृतिमात्रतोऽपि जनता निष्कल्मषा जायते ।
ये जैना यतयश्चिदात्मनि पर स्नेहं समातन्वते ।।

अर्थ—जो जैनमुनि ज्ञान-दर्शन-स्वरुप चैतन्यमय आत्मा मे उत्कृष्ट स्नेह को करते हैं उनके चरण कमलो के द्वारा जहाँ पृथिवी का स्पर्श किया जाता है वहाँ की वह पृथ्वी उत्तम तीर्थ बन जाती है, उनके लिए दोनो हाथों को जोड़कर वे देव भी नित्य नमस्कार करते है, तथा

उनके नाम के स्मरण मात्र से ही जनसमूह पाप से रहित हो जाता है।

सम्यग्दर्शनबोधवृत्तनिचितः शान्तः शिवैषी मुनि-
र्मन्दैः स्यादवधीरितोऽपि विशद साम्य यदालम्बते।
आत्मा तैर्विहतो यदत्र विषमध्वान्तश्रिते निश्चित।
सपातो भवितोग्रदु.खनरके तेषामकल्याणिनाम् ॥७०॥

अर्थ—सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान एवं सम्यक्चारित्र से सम्पन्न, शान्त और आत्मकल्याण (मोक्ष) का अभिलाषी मुनि अज्ञानी जनों के द्वारा तिरस्कृत होकर भी चूंकि समता (वीतरागता) का ही सहारा लेता है अतएव वह तो निर्मल ही रहता है। किन्तु वैसा करने से वे अज्ञानी जन ही अपनी आत्मा का घात करते हैं, क्योंकि, कल्याण मार्ग से भ्रष्ट हुए उन अज्ञानियो का गाढ़ अन्धकार से व्याप्त एवं तीव्र दु.खों से संयुक्त ऐसे नरक मे नियम से पतन होगा।

मानुष्यं प्राप्य पुण्यात्प्रशममुपगमा रोगवद्भोगजातं।
मत्वा गत्वा वनान्तं दृशि विदि चरणे ये स्थिताः संगमुक्ताः॥
कः स्तोता वाक्पथातिक्रमणपटुगुणैरश्चितानां मुनीनां।
स्तोतव्यास्ते महद्भिर्भुवि य इह तदङ्घ्रिद्वये भक्तिभाजः॥७१॥

अर्थ—जो मुनि पुण्य के प्रभाव से मनुष्य भव को पाकर शान्ति प्राप्त होते हुए इन्द्रिय जनित भोग समूह को रोग के समान कष्टदायक समझ लेते है और इसीलिए जो गृह से बन के मध्य में जाकर समस्त परिग्रह से रहित होते हुए सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान एवं सम्यक्चारित्र में स्थित हो जाते है, वचन के अगोचर ऐसे उत्तमोत्तम गुणों के आश्रयभूत उन मुनियो की स्तुति करने मे कौन-सा स्तोता समर्थ है ? कोई भी नही। जो जन उक्त मुनियो के दोनों चरणो में अनुराग करते है वे यहाँ पृथ्वी पर महापुरुषों के द्वारा स्तुति करने के योग्य है।

तत्त्वार्थाप्ततपोभृतां यतिवराः श्रद्धानमाहुर्दृश।
ज्ञान जानदनूनमप्रतिहतं स्वार्थावसंदेहवत्॥

चारित्रं विरतिः प्रमादविलसत्कर्मास्रवाद्योगिना ।
एतन्मुक्तिपथस्त्रयं च परमो धर्मो भवच्छेदक. ॥७२॥

अर्थ—इस प्रकार मुनि के आचार धर्म का निरूपण हुआ । सात तत्व, देव और गुरु का श्रद्धान करना, इसे मुनियो मे श्रेष्ठ गणधर आदि सम्यग्दर्शन कहते हैं । स्व और पर पदार्थ दोनो को न्यूनता, बाधा एवं सन्देह से रहित होकर जो जानना है इसे ज्ञान कहा जाता है। योगियो का प्रमाद से होने वाले कर्मास्रव से रहित हो जाने का नाम चारित्र है । ये तीनों मोक्ष के मार्ग है । इन्ही तीनो को ही उत्तम धर्म कहा जाता है जो ससार का विनाशक होता है ।

हृदयभुवि दृगेक वीजमुप्तं त्वशका
प्रभृतिगुणसदम्भः सारणी सिक्तमुच्चै ।
भवदवममशाखश्चारुचारित्रपुष्प-
स्तरुरमृतफलेन प्रीणय त्याशु भव्यम् ॥

अर्थ—हृदय रूपी पृथ्वी में वोया गया एक सम्यग्दर्शन रूपी वीज नि.शंकित आदि आठ अ ग स्वरूप उत्तम जल से परिपूर्ण क्षुद्र नदी के द्वारा अतिशय सीचा जाकर उत्पन्न हुई सम्यग्ज्ञान रूपी शाखाओ और मनोहर सम्यक्चारित्र रूपी पुष्पो से सम्पन्न होता हुआ वृक्ष के रूप मे परिणत होता है, जो भव्य जीव को शीघ्र ही मोक्ष रूपी फल को देकर प्रसन्न करता है ।

दृगवगमचरित्रालंकृत. सिद्धिपात्रं
लघुरपि न गुरु. स्यादन्यथात्वे कदाचित् ।
स्फुटमवगतमार्गो याति मन्दोऽपि गच्छ
न्नभिमतपदमन्यो नैव तूर्णोऽपि जन्तु ॥

अर्थ—सम्यग्दर्शन, मम्यग्ज्ञान एवं सम्यक्चारित्र से विभूषित पुरुष यदि तप आदि अन्य गुणो में मन्द भी हो तो भी वह सिद्धि का पात्र है,

अर्थात् उसे सिद्धि प्राप्त होती है। किन्तु इसके विपरीत यदि रत्नत्रय से रहित पुरुष अन्य गुणों मे महान् भी हो तो भी वह कभी भी सिद्धि को प्राप्त नही हो सकता है। ठीक ही है—स्पष्टतया मार्ग से परिचित व्यक्ति यदि चलने मे मन्द भी हो तो भी वह धीरे धीरे चलकर अभीष्ट स्थान मे पहुँच जाता है। किन्तु इसके विपरीत जो अन्य व्यक्ति मार्ग से अपरिचित है वह चलने मे शीघ्रगामी होकर भी अभीष्ट स्थान को नहीं प्राप्त हो सकता है।

वनशिखिनि मृतोऽन्धः संचरन् बाढमङ्घ्रि-
द्वितयविकलमूर्तिर्वीक्षमाणेऽपि खंजः।
अपि सनयनपादोऽश्रद्दधानश्च तस्माद्
दृगवगमचरित्रैः संयुतैरेव सिद्धि. ॥

अर्थ—दावानल से जलते हुए वन मे शीघ्र गमन करने वाला अन्धा मर जाता है, इसी प्रकार दोनो पैरो से रहित शरीरवाला लगड़ा मनुष्य दावानल को देखता हुआ भी चलने में असमर्थ होने से जलकर मर जाता है, तथा अग्नि का विश्वास न करने वाला मनुष्य भी नेत्र एव पैरो से संयुक्त होकर भी उक्त दावानल मे भस्म हो जाता है। इसीलिए सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान और सम्यक्चारित्र इन तीनों की एकता को प्राप्त होने पर ही उनसे सिद्धि प्राप्त होती है, ऐसा निश्चित समझना चाहिए।

विशेषार्थ—जिस प्रकार उक्त तीनों मनुष्यों मे एक व्यक्ति तो आँखो से अग्नि को देखकर और भोगने मे समर्थ होकर भी केवल अविश्वास के कारण मरता है, दूसरा (अन्धा) व्यक्ति अग्नि का परिज्ञान न हो सकने से मृत्यु को प्राप्त होता है, तथा तीसरा (लंगड़ा) व्यक्ति अग्नि पर भरोसा रखकर और उसे जानकर भी चलने मे असमर्थ होने से ही मृत्यु के मुख मे प्रविष्ट होता है। उसी प्रकार ज्ञान और चारित्र से रहित जो प्राणी तत्वार्थ का केवल श्रद्धान करता है,

श्रद्धान और आचरण से रहित जिसको एकमात्र तत्वार्थ का परिज्ञान ही है, अथवा श्रद्धा और ज्ञान से रहित जो जीव केवल चारित्र का ही परिपालन करता है, इन तीनो मे से किसी को भी मुक्ति नही प्राप्त हो सकती । वह तो इन तीनो की एकता मे ही प्राप्त हो सकती है ।

बहुभिरपि किमन्यै. प्रस्तरै रत्नसज्ञैर्व-
पुषि जनितखेदैर्भारकारित्वयोगात् ।
हृतदुरिततमोभिश्चारुरत्नैरनर्घ्ये
स्त्रिभिरपि कुरुतात्मालंकृतिं दर्शनाद्यैः ।।

अर्थ—रत्न सज्ञा को धारण करने वाले अन्य वहुत से पत्थरो से क्या लाभ है ? कारण कि भारयुक्त होने से उनके द्वारा केवल शरीर मे खेद ही उत्पन्न होता है । इसलिए पाप रूप अन्धकार को नष्ट करने वाले सम्यग्दर्शनादि रूप अमूल्य तीनो ही सुन्दर रत्नो से अपनी आत्मा को विभूषित करना चाहिए ।

जयति सुखनिधान मोक्षवृक्षैकबीज ।
सकलमलविमुक्त दर्शन यद्विना स्यात् ।।
मतिरपि कुमतिर्नु दुश्चरित्रं चरित्रं ।
भवति मनुजजन्म प्राप्तमप्राप्तमेव ।।७७।।

अर्थ—जिस सम्यग्दर्शन के विना ज्ञान मिथ्याज्ञान और चारित्र मिथ्याचारित्र हुआ करता है वह सुख का स्थानभूत, मोक्ष रूपी वृक्ष का बीज स्वरूप तथा समस्त दोषो से रहित सम्यग्दर्शन जयवन्त होता है । उक्त सम्यग्दर्शन के विना प्राप्त हुआ मनुष्य जन्म भी अप्राप्त हुए के ही समान होता है (कारण कि मनुष्य जन्म की सफलता सम्यग्दर्शन की प्राप्ति मे ही हो सकती है, सो उसे प्राप्त किया नही है ।

भवभुजगनागदमनी दुःखमहादावशमनजलवृष्टिः ।
मुक्तिसुखामृतसरसी जयति दृगादित्रयी सम्यक् ॥७८॥

अर्थ—जो सम्यग्दर्शन आदि तीन रत्न संसार रूपी सर्प का दमन करने के लिए नागदमनी के समान है, दुःख रूपी दावानल को शान्त करने के लिए जलवृष्टि के समान है, तथा मोक्ष सुख रूप अमृत के तालाब के समान है, वे सम्यग्दर्शन आदि तीन रत्न भले प्रकार जयवन्त होते हैं।

जैन सिद्धान्त मे तीर्थंकर भगवान को देव कहा है । उनका जन्म क्षत्रियो के कुल मे होता है। और उनके माता-पिता के शरीर मल-मूत्र आदि से रहित रहते है। उनकी माता रजस्वला अर्थात् मासिक धर्म से रहित रहती है। कर्मभूमि सम्बन्धी स्त्री के एक ही पुत्र उत्पन्न होता है। उसके पीछे और कोई पुत्र उन माता के नही होता है। पुनः उनके गर्भ मे आने के ६ माह पूर्व भी और नव मास गर्भ में रहने तक भी अर्थात् कुल १५ माह तक तीन बार १०॥ करोड़ रत्नों की वर्षा होती है। इसलिए तीन काल में १०॥ करोड़ रत्नों की वर्षा होती है । ऐसी रत्न की वर्षा होने के पश्चात् तीन लोक के नाथ तीर्थंकर भगवान का जन्म होता है । जन्म के जो अतिशय होते है, वे इस प्रकार हैं— भगवान के शरीर में पसीना नही आता । पुनः भगवान के शरीर मे किसी प्रकार का मल-मूत्र नही होता तथा उनके नेत्र, कर्ण, जीभ, दांत आदि मे किंचित मात्र भी मल नही रहता । यानी उनका शरीर सर्वथा परम निर्मल देदीप्यमान रहता है। उनके नख और केश भी इस प्रकार बढे नही होते जो कि कैंची या कतरनी से काटे जायें। यानी वे यथा-सम्भव जैसा चाहिए, उसी अवस्था मे समान रहते हैं । उनके मुख मे दाढी मूँछ का सर्वथा ही अभाव रहता है । भगवान् के शरीर मे अत्यन्त सुगन्धि सदा बनी रहती है। उनके शरीर मे १००८ शुभ लक्षण होते हैं । उनका शरीर सम चतुरस्र संस्थान अर्थात् परम सुन्दर

आकार का रहता है और उसमें वज्र वृषभ नाराच संहनन, जो कि उत्तम सहनन कहा गया है, सदा विद्यमान रहता है । उनका वचन परम मिष्ट हितमित होता है । भगवान के शरीर मे तीन लोक का बल रहता है ।

भावार्थ—भगवान के शरीर मे पसीना का अभाव, नीहार का अभाव रहता है, उनका शरीर सुगन्धमय १००८ लक्षणो सहित रहता है । उनके रुधिर का वर्ण क्षीर के समान श्वेत रहता है । उनमे सम-चतुरस्रसस्थान, वज्र वृषभ नाराच सहनन, अत्यन्त सौन्दर्य, महा मिष्ट वचन, अतुल बल, यह दस अतिशय भगवान को जन्म होते ही प्रकट होते हैं ।

आगे केवलज्ञान के दस अतिशयों को कहते है—

भगवान को केवलज्ञान होते ही सर्व प्रथम दो योजन पर्यन्त दुर्भिक्ष (अकाल) नही पडता । केवली भगवान पृथ्वी के समान ऊपर आकाश मार्ग मे गमन करते हैं किन्तु उनके शरीर से किसी जीव को कोई बाधा नही पहुँचती । केवली भगवान को किसी प्रकार का उपसर्ग नही होता । केवली भगवान कवलाहार नही ग्रहण करते, क्योकि भोजन की इच्छा तो मोहनीय कर्म के उदय से होती है, किन्तु भगवान के मोहनीय कर्म का नाश हो जाने से अनन्त सुख प्रकट हो जाता है । इससे केवली भगवान को आहार का अभाव होता है । केवली भगवान समस्त विद्या के ईश्वर यानी स्वामी हैं । भगवान चतुर्मुखी कहलाते हैं । यद्यपि उनका मुख पूर्व दिशा या उत्तर दिशा इन दिशाओ की ओर रहता है, तथापि केवलज्ञान के अतिशय से १२ सभाओ के जितने भी जीव रहते हैं, उन सभी जीवो को चारो ओर से भगवान का मुख दिखाई देता है, अत. चारो दिशाओ के जीव इस प्रकार समझते हैं कि भगवान का मुख तो हमारी तरफ है इसलिए ही वह चतुर्मुख कहलाते हैं । केवली भगवान के शरीर की छाया नहीं पड़ती । भगवान के नेत्रो की पलकें नही लगतीं । केवली भगवान के नख एवं केश नही बढ़ते । उनका

शरीर परम औदारिक निगोद जीवो से रहित रहता है, इसीलिए वे परमौदारिक कहे गये है।

इस प्रकार दस अतिशयों का वर्णन किया गया। आगे देवकृत चौदह अतिशयों को कहते हैं।

भगवान की दिव्य-ध्वनि सर्व प्रथम अर्धमागधी भाषा मे खिरती है। जिसे मण्डप के मध्य मे विराजित समस्त द्वादश सभाओ के जीव अपनी भाषा मे भली-भाति समझ लेते है। यहा पर मागध का अर्थ देव है। उसमे बारह सभाओ के समस्त जीव भगवान की वाणी को एक योजन की दूरी तक अपनी-अपनी भाषाओ मे समझते रहते है ? इसलिए यह दिव्य ध्वनि देवकृत अतिशय समझनी चाहिए। इस प्रकार के जितने अतिशय है सभी देवकृत हैं। यहा पर इस प्रकार की शका नही करनी चाहिए कि जब यह समस्त अतिशय देवकृत है तो भगवान के गुणो की आच्छादना हुई। क्योकि यह सारे अतिशय भगवान की महिमा के ही हैं। जिस प्रकार अक्षर के बिना शब्द का अर्थ नही होता, उसी प्रकार भगवान के प्रभाव से देव अतिशय को प्रकट करते है यानी भगवान के प्रभाव बिना अतिशय नही होता।

भावार्थ—उपर्युक्त समस्त अतिशय भगवान के ही है, किन्तु इन्हे देव अपनी भक्ति के वश प्रकट करते है। इसी आशय से इन अतिशयो को देवकृत अतिशय भी कहा गया है, और ऐसा कहने मे यहा किसी प्रकार का विरोध भी नही उत्पन्न होता। भगवान की दिव्य ध्वनि मेघ के समान खिरती है। जैसे मेघ का जल सर्वत्र एकसार बरसता है, किन्तु विभिन्न भाति के वृक्षो मे अनेक रूप प्रकट होता है। अर्थात् जैसे मेघ का जल वृक्ष का निमित्त पाकर अनेक भेद रूप परिणमन करता है, वैसे ही अक्षर रहित (निरक्षरी) भगवान की वाणी श्रावको की विशेष तथा अल्प योग्यता के अनुसार अनेक प्रकार से प्रकट होती है। इस प्रकार समस्त जीव पृथक्-पृथक् भाषा मे भगवान के उपदेश को धारण करते हैं। अथवा जिस प्रकार स्फटिक मणि का स्वरूप

एक ही है, किन्तु सान्निध्य मे ससार की जितनी रग-बिरगी वस्तुएँ पहुँच जाती हैं, वे सब उसी स्फटिक मणि के समान प्रतीत होने लगती हैं, उसी प्रकार भगवान की वीतराग वाणी भी एकरूप है किन्तु श्रोताओ के अनेक स्वरूप होने पर भी उसके निकट जो लोग रहते हैं, उन्हे एक समान मालूम होती हैं। भगवान की दिव्य वाणी को—देव (१) मनुष्य (२) तथा तिर्यंच (३) ये समस्त जीव अपनी भाषा मे समझते हैं, इसी प्रकार अर्धमागधी भाषा का स्वरूप जानना चाहिए।

भगवान के समवशरण मे किसी भी जीव को किसी प्रकार का वैर-भाव नही होता। वहा पर सिंह-गाय, मोर-सर्प, मूसा-बिल्ली आदि जाति-विरोधी जीव अपने-अपने वैर भाव को छोडकर परस्पर मे मैत्री-भाव रखते हैं। जिस समय भगवान विहार करते है, उस समय समवशरण के नीचे की पृथ्वी को देव आरसी यानी दर्पण के समान परम निर्मल कर देते है। जहाँ पर भगवान का समवशरण विराजता है अथवा जिस मार्ग से विहार करते है, उस मार्ग के दोनो तरफ ६ ऋतुओ के फल-फूल लगे रहते हैं। अर्थात् वहाँ पर षट् ऋतु-वसन्त, ग्रीष्म, वर्षा, शरद, हेमन्त, शिशिर इन ६ ऋतुओ के फल फूल सदा लगे रहते है। सब ऋतुओ के फल फूल भगवान के अतिशय के प्रताप से एक काल मे प्रकट हो जाते है। अनुकूल पवन का गमन अर्थात् पवन कुमार जाति के देव भगवान के समवशरण मे तथा विहार के समय ऐसी मन्द सुगन्ध पवन चलाते है, जो भगवान के सन्मुख नही आती है। जहाँ-जहाँ भगवान गमन करते है, वहाँ-वहाँ पवन भी उनके पीछे ही चली आती है। सर्व जीवो को सुख की प्राप्ति का होना कहा है। भगवान के समवशरण मे कोई भी जीव दुखी नही रहता है और वहाँ अन्धा पुरुष जाते ही देखने लगता है, लगडा पुरुष चलने लगता है, बहरा सुनने लगता है तथा वहाँ क्षुधा नही लगती, तथा क्रोध, मान, माया, लोभ आदि चार कषायेँ उत्पन्न नही होती तथा वहा खासी, श्वास इत्यादिक रोगो की वेदना

भी नही होती है। वहाँ जाने वाले जीव सभी उस वेदना से रहित होत है, उनके शरीर मे कोई रोग नही रहता है । वहाँ शोक, चिन्ता इत्यादिक भय आदि नही रहता है । इसलिए उस समवशरण मे समस्त जीवों को सुख की प्राप्ति होती है। वहाँ की भूमि ककड़ से रहित होती है। अर्थात् जहाँ-जहाँ भगवान बिहार करते है वहाँ वहाँ की भूमि अच्छी तरह साफ रहती है, उसमे काटे आदि नही रहते। उस भूमि को पवन कुमार जाति के देव समवशरण के नीचे एक योजन अर्थात् चार कोस लम्बी उसके आधा योजन प्रमाण, दो कोस चौड़ी जमीन को तृण रहित रत्नमय मार्ग बना देते है । उसके दोनो तरफ एक-एक योजन लम्बी दो दीवाल रूप वेदी की रचना करते देव चलते है। जिस गली को साफ किया जाता है, उस गली से ही होकर मनुष्य तिर्यंच गमन करते है।

भावार्थ—जब भगवान के बिहार का समय आता है, तब भगवान अपने समवशरण की ऊंचाई के समान ६-६ कोस १६१६ धनुष एक कमल चार अगुल प्रमाण ऊपर आकाश मे गमन करते है और मनुष्य, तिर्यंच जीव उनके नीचे पृथ्वी पर गमन करते है। इसलिए नीचे के एक योजन उस पृथ्वी को पवन कुमार जाति के देव तृण कण्टक रहित कर देते हैं। गन्धोदक वृष्टिक—भगवान के समवशरण मे तथा जिस मार्ग से भगवान गमन करते है, उस पृथ्वी पर मेघ कुमार जाति के देव आकाश मे अति सुगन्ध सूक्ष्म जल के कणो की वर्षा करते है । २२५ कमलो की रचना करके भगवान को उस पर से बिहार कराते है। उस समय कुवेर उन भगवान के पांव के नीचे १५ पक्ति रूप एक हजार पाखुडी के स्वर्णमय २२५ कमल की रचना करते है । उसमे ५६-५६ कमल तो चारो दिशाओ मे होते हैं एव एक कमल २२४ कमलो के बीच मे रहता है। ऐसी १५ पक्ति रूप २२५ कमल होते हैं। इनके बीच के कमल पर भगवान अपने पांव रखते हुए बिहार करते हैं।

केवली भगवान को विहार कर्म का उदय आता है, तब इन्द्र अपने

अवधिज्ञान से जानकर वहाँ आकर इस प्रकार प्रार्थना करता है कि—हे देव ! यह विहार का समय है आप विहार कीजिए एव जीवो का अपनी वाणी के द्वारा उद्धार कीजिये। इस प्रकार इन्द्र की प्रार्थना सुनते ही भगवान का विहार होता है। तब उनके पाँव के नीचे कुबेर तो २२५ कमल की रचना करता है। २२५ कमलो के बीच मे (बीच वाले कमल मे) मनुष्य के समान कमल से ४ अगुल ऊपर भगवान विहार करते हैं। जैसे-जैसे भगवान चलते हैं, कुबेर उनके आगे कमलो की रचना करता जाता है।

प्रश्न—भगवान तो इच्छा रहित हैं, तो इच्छा बिना भगवान किस प्रकार चलते हैं ?

समाधान—केवली भगवान चार घातिया कर्मों से रहित हैं, भगवान के नामकर्म का उदय बाकी है। उससे वाणी का खिरना, उठना, बैठना, भ्रमण करना, पाँव उठाना इत्यादि क्रिया होना सम्भव है। इसलिए केवली भगवान की इच्छा बिना ही क्रिया होती है। इसमें कोई दोष नही है। इस प्रकार भगवान तो आकाश मे अधर ही विहार करते हैं। और मुनि, अर्जिका, श्रावक, श्राविका आदि इन चार प्रकार के सघ एव तिर्यंच जीव यह सब जमीन पर ही चलते हैं। जो विद्याधर आदि हैं, चारण मुनि और अन्य सामान्य केवली हैं, वे भी आकाश मार्ग से भगवान के समीप ही कुछ दूर पर चलते हैं और जो बाकी चार प्रकार के देव हैं, उनमे इन्द्र भगवान के पास भक्ति करते हुए भ्रमण करते हैं। इनमें कोई देव भगवान पर चमर ढोरते हुए जाते है, कोई देव चोवदार के समान अपने हाथ मे रत्नो की छडी लेकर भगवान के साथ-साथ चलते हैं और कोई जय-जयकार करते हुए चलते हैं और कोई देव देवियों के समूह भगवान के गुण गाते-गाते जाते हैं। इस प्रकार समस्त देव आकाश मार्ग से गमन करते हैं। इसी प्रकार मनुष्य तिर्यंच आदि जो पशु हैं, सब पृथ्वी पर भ्रमण करते हैं। भगवान जहाँ पर जाकर विराजमान होते हैं, वहाँ पर सभी देव अपने-अपने स्थान पर

बैठ जाते हैं। इस प्रकार भगवान के बिहार के समय उनके पाँव के नीचे २२५ कमलो की रचना होती है । जहाँ भगवान का समवशरण होता है वहाँ पर आकाश एकदम स्वच्छ निर्मल होता है, चारो दिशाए मेघ पटल से रहित निर्मल होती है। भगवान के आगे धर्मचक्र भी चलता है। जिस प्रकार गाड़ी का पहिया गोल रहता है, उसी प्रकार धर्मचक्र भी गोल होता है। भगवान के बिहार के समय देव आगे आगे जय जयकार करते हुए जाते है। उनके साथ अष्ट मगल द्रव्य भी रहते हैं। उनके नाम इस प्रकार है—चमर, छत्र, कलश, झारी, दर्पण, पखा, ध्वजा, साथिया—इस प्रकार आठ मगल-द्रव्य रहते है।

भावार्थ—अर्ध मागधी भाषा, सभी जीवो का आपस मे मैत्री भाव होना, दर्पण के समान भूमि का निर्मल होना, षट् ऋतु के फल फूल लगे रहना, मन्द सुगन्ध वायु का चलना, सभी जीवो को सुख की प्राप्ति होना, पृथ्वी का तृण एवं कटक रहित होना तथा गन्धोदक की वृष्टि होना, २२५ कमलों की रचना होना, आकाश का निर्मल होना, समस्त दिशाओ का निर्मल होना, देवो का जयकार होना, धर्मचक्र होना, अष्ट मगल द्रव्यो का होना। इस प्रकार भगवान के देवकृत १४ अतिशय बतलाये हैं। इन सबकी रचना करने वाले देव ही है। वह सब क्रिया भगवान की भक्ति या तीर्थंकर नामकर्म के उदय से तथा पुण्य कर्म के उदय से होती है।

आठ प्रकार के देवकृत प्रातिहार्य निम्न प्रकार बतलाये है :—

भगवान के समवशरण मे सर्वप्रथम अशोकवृक्ष होता है। उस वृक्ष को देखते ही बारह सभाओ के जीवो का शोक आदि दूर हो जाता है, कल्पवृक्ष भी भगवान के समवशरण मे उत्पन्न होता है तथा रत्नो की वर्षा भी भगवान के समवशरण मे होती है । भगवान की दिव्य ध्वनि आठ प्रहर मे पूर्वान्ह मध्यान्ह अपरान्ह एव अर्धरात्रि—इस प्रकार चार बार मे ६-६ घड़ी अक्षररहित मेघ की गर्जना के समान भगवान के सारे शरीर से खिरती है।

भावार्थ—भगवान के ओठ, तालू आदि नही हिलते । केवली भगवान के सम्पूर्ण शरीर से ही ध्वनि खिरती है । भगवान की वाणी इस प्रकार की होती है जिस प्रकार मानो मेघ की गर्जना हो रही हो, रात दिन मे चार बार ६ घड़ी प्रमाण अक्षर रहित भगवान की दिव्य ध्वनि खिरती है । कोई गणधर, इन्द्र, चक्रवर्ती राजा आदि आकर भगवान से प्रश्न करते हैं, इनका निमित्त पाकर भी भगवान की और समय मे भी दिव्य ध्वनि खिरती है । इसका कुछ प्रमाण गोम्मटसार के बारहवें अधिकार मे बतलाया है । यह दिव्यध्वनि नाम का प्रातिहार्य है । तीर्थंकर के ऊपर इन्द्र अपने हाथ से स्फटिक मणि के समान निर्मल तथा देदीप्यमान इस प्रकार के ६४ सुन्दर चमर ढोरते जाते है ।

प्रश्न—भगवान के ऊपर ६४ चमर ही क्यो ढोरे जाते है ? कम ज्यादा क्यों नहीं है—इसका क्या कारण है ?

समाधान—आदि पुराण मे जिनसेन आचार्य ने कहा है कि राजा के ऊपर एक चमर ढोरा जाता है, राजा महाराजाओ पर २ चमर ढोरे जाते है । और अर्ध माण्डलिक पर चार तथा महामाण्डलिक पर ८ चमर, अर्ध चक्रवर्ती तथा तीन खण्ड के चक्रवर्ती पर १६ चमर ढोरे जाते हैं । ६ खण्ड के अधिपति (चक्रवर्ती) के ऊपर ३२ चमर ढोरे जाते है । पुन समस्त तीन लोक के नाथ तीर्थंकर भगवान पर ६४ चमर ढोरे जाते हैं । इस प्रकार से अनादि काल से परिपाटी चली आई है । इस प्रकार भगवान पर ६४ चमर ही ढोरे जाते हैं । भगवान चार कोस ऊचे स्फटिक मणि के रत्नमय सिंहासन पर विराजमान होते हैं, उसी सिंहासन के पीछे गोल भामण्डल होता है । उसका दर्शन करते ही समस्त संसारी जीव तीन भव की अपनी समस्त बातें जान लेते हैं, और आगे होने वाले तीन भव की बातो को भी जान जाते हैं । और एक भव वर्तमान काल का इस प्रकार सात भव की अपनी जानकारी कर लेते हैं । छटवा अतिशय दुन्दुभि है । वे १२॥ करोड जाति के बाजे देवो द्वारा बजाये जाते हैं । वे बाजे समस्त भव्य जीवो को प्रिय लगते है,

उन्हें सुनते ही समस्त जीव मोहित हो जाते है। क्योकि भगवान मोहनीय कर्म से रहित है। इसलिए केवली भगवान को बाजे मोह उत्पन्न नही कर सकते हैं। भगवान के तीन छत्र होते है। वे छत्र, भगवान तीन लोक के स्वामी है, इस बात को प्रगट करने के लिए भगवान के ऊपर रहते है।

भावार्थ—अशोक वृक्ष, पुष्प वृष्टि, भामण्डल, दिव्य ध्वनि, चौसठ चमर एक सिंहासन, दुन्दुभि बाजे, तीन छत्र—इस प्रकार आठ प्रातिहार्य भगवान केवली के होते हैं। आगे अनन्त चतुष्टय को कहते हैं।

अनन्त चतुष्टय—अरि का अर्थ मोहनीय कर्म है। रज का अर्थ ज्ञानावरणीय कर्म तथा दर्शनावरणीय तथा अन्तराय कर्म इस प्रकार के चार घातिया कर्मों को नाश करके अनन्त सुख, ज्ञान, दर्शन, वीर्य इस प्रकार के चार चतुष्टय केवली भगवान को प्रकट होते है।

भगवान १८ दोष रहित होते है। क्षुधा, तृषा, जन्म, मरण, जरा, रोग, शोक, विस्मय, भय, अरति, चिन्ता, खेद, स्वेद, मद-मोह, निद्रा, राग, द्वेष, इस प्रकार के १८ दोष रहित भगवान केवली होते हैं। इन १८ दोषों से रहित केवली भगवान के ३४ अतिशय, आठ प्रातिहार्य, चार अनन्त चतुष्टय—इस प्रकार ४६ गुण सहित भगवान होते है। नीचे पृथ्वी से लेकर ५००० धनुष प्रमाण ऊंचे आकाश में समवशरण की रचना होती है।

अब आगे भगवान के समवशरण की रचना का वर्णन करते है।

समवशरण की रचना—५००० धनुष प्रमाण ऊंचे आकाश मे १२ योजन चौड़ी झालरो के समान गोल रूप रत्नमय भगवान का समवशरण होता है। उसके चारो ओर एक-एक दिशा मे एक-एक कोस लम्बी एव एक-एक हाथ चौड़ी तथा इतनी ही एक एक हाथ प्रमाण ऊंची २०००० (बीस हजार) सुवर्णमय पैड़ी होती है। यह नीचे की भूमि से ५००० धनुष प्रमाण ऊंचा होता है।

भावार्थ—एक एक हाथ चौडी २०००० (बीस हजार) सीढियो

से युक्त अढाई कोस प्रमाण ऊपर आकाश मे भगवान का समवशरण विराजमान रहता है। वहाँ पर पाच हजार (५०००) धनुष प्रमाण अढाई कोस की मोटाई और बारह योजन प्रमाण यानी ४८ कोस की चौड़ाई को लेकर नील रत्नमणि के समान गोलाकार एक शिला है। वह नीचे से लेकर ऊपर तक स्थित है। उसके चारो ओर बीस हजार (२००००) सीढिया बनी हुई हैं। उसी के ऊपर भगवान के समवशरण की रचना की गई है। वह शिला समवशरण की समभूमि समझनी चाहिए। इसलिए नीचे भूमि से पाच हजार (५०००) धनुष प्रमाण अढाई कोस ऊचाई आकाश मे आठ भूमि की रचना की गई है। वहा दो हजार धनुष प्रमाण एक कोस ऊँचाई मे चार कोट और पांच वेदियाँ हैं। उसमें पहला धूलिसाल नामक कोट है। वह पाच प्रकार के रत्नो से निर्मित है। पुन: दूसरा कोट है। वह तपे हुए स्वर्ण के समान लाल रग का हैं। तीसरा कोट स्वर्णमय पीत वर्ण है। चौथा कोट स्फटिक मणि के समान तथा चन्द्रमणि के समान श्वेत वर्ण है। इन चारों कोटो के बीच मे पाँच वेदिकायें हैं, वे भी स्वर्ण रूप हैं।

भावार्थ —पहला और चौथा ये दो कोट रत्नमय हैं। पुनः बीच के दो कोट और जो पांच वेदिया हैं, वे सातों स्वर्णमय हैं। ऐसे ६ कोट हैं। वहां एक कोट तथा वेदी की चारो दिशाओ मे तीन-तीन खण्ड ऊंचे विजय, वैजयन्त, जयन्त, अपराजित नामक चार द्वार है। उसमे पूर्व की दिशा की ओर पहला विजय नामक द्वार है, दक्षिण दिशा मे दूसरा वैजयन्त नामक द्वार है, पश्चिम दिशा मे तीसरा जयन्त नामक द्वार है और उत्तर दिशा में चौथा अपराजित नामक द्वार है। इस प्रकार ६ कोट की चारो दिशाओ में कुल ३६ (छत्तीस) द्वार है। उनमे पहले धूलिसाल कोट के जो चार दरवाजे हैं, वे स्वर्णमय तथा पीत वर्ण के हैं। बीच के जो दो कोट हैं, तथा उसमे जो चार वेदियां हैं, इन छहों के चारो ओर जो २४ दरवाजे हैं, वे रूप्यमय श्वेत वर्ण हैं। इसमे जो एक स्फटिक नामक कोट है, उसके आभ्यन्तर की पांच वेदियो के आठ

दरवाजे है। उनका रंग मरकत रत्नमय पन्ना के समान हरित वर्ण है। ऐसे समस्त तीन-तीन खण्ड मे ३६ दरवाजे हैं। उनमे अनेक देव देविया भगवान का गुणगान करती रहती हैं। उस प्रत्येक द्वार के ऊपर सौ सौ रत्नमय तोरण है। उन समस्त ३६ द्वारो के ऊपर तीन हजार छः सौ (३६००) तोरण हैं। जैसे यहा के कृत्रिम जिन मन्दिर के ऊपर स्वर्णमय गोलाकार एक कलश होता है। उसी प्रकार वहा भिन्न-भिन्न एक एक द्वार के ऊपर रक्तमणिमय लाल वर्ण रूप सौ सौ तोरण होते हैं, जो कि अत्यन्त प्रकाशमान होते हैं। इस प्रकार इन तोरणो से रहित तीन-तीन कोस ऊँचा एक द्वार होता है। उस द्वार पर अनेक रत्नमय घण्टा, मोतियो की मालायें एवं अनेक कल्पवृक्ष के पुष्पो की मालायें लटकती रहती है। उसके वाह्य तथा आभ्यन्तर दोनो तरफ अष्ट मंगल द्रव्य और नौ निधियो के समूह रहते हैं। वहा एक एक द्वार के दो-दो पार्श्व (किनारे) हैं। ये बाह्य और आभ्यन्तर भेद से एक एक द्वार के ४ पार्श्व होते है। वहां ३६ द्वार के समस्त १४४ पार्श्वों का तट होता है। उनमे एक एक तट सम्बन्धी अष्ट मगल द्रव्य और ९ निधियां विद्यमान है। उनमे जो मगल द्रव्य है, वे एक एक जाति के भिन्न-भिन्न रूप से १०८-१०८ होते है। और उसके ऊपर एक सौ आठ (१०८) पखे, १०८ छत्र, १०८ चमर, १०८ कलश, १०८ झारी, १०८ दर्पण, १०८ ध्वजायें, १०८ साथिया तथा इसी प्रकार भिन्न भिन्न रूप मे क-एक जाति के १०८-१०८ मंगल द्रव्य हैं। अतः जैसे मंगल द्रव्य को कहा है, उसी तरह काल, महाकाल, पाण्डुक, मानवक, शंख, नैसर्प, पद्म, पिंगल, नाना रत्न ये नौ प्रकार की निधिया हैं। वे भी एक एक जाति के भिन्न भिन्न रूप में एक सौ आठ एक सौ आठ ही हैं। इस तरह एक-एक पार्श्व सम्बन्धी इनकी रचना है। वहा अष्ट मगल द्रव्य का जो समूह है, वह द्वार पर भी स्थित है। और जो नौ निधियो का समूह है, वह एक एक द्वार के दोनों तटों की वाह्य भूमि मे स्थित है। उस समय मालूम पड़ता है कि मानों श्रीवीतराग भगवान से

तिरस्कृत होकर वीतराग भाव को प्राप्त होकर द्वार के आगे पड कर भगवान की सेवा कर रहा हो। ऐसे एक-एक द्वार के चार चार तटो मे अष्ट मगल द्रव्य और नौ निधियो की रचना है। वहा पहली पूर्व दिशा मे विजय नामक जो द्वार है, उसमे भवनवासी देव अपने हाथ मे स्फटिक नामक रत्नमय श्वेत वर्ण रूप दर्पण लिए हुए खडे हैं। दूसरा दक्षिण दिशा के वैजयन्त नामक द्वार मे व्यन्तर देव अपने हाथ मे स्वर्णमय छडी लेकर खडे हैं। पिछली पश्चिम दिशा में जयन्त नामक जो नौ द्वार कहे गये हैं, उनमे ज्योतिषी देव अपने हाथ मे रत्नमय गुर्ज लिए खडे हैं। चौथी उत्तर दिशा का जो अपराजित नामक नौवा द्वार है, उसमे कल्पवासी देव रत्नमय दण्ड लेकर खड़े हैं। इस प्रकार नौ कोट वेदी के चारों दिशाओ के ३६ द्वारो सम्बन्धी ये चार जाति के देव द्वारपाल होते हैं। ऐसे नौ कोट वेदी के समस्त ३६ द्वारो का स्वरूप जानना चाहिए। यहा कोट और वेदी मे केवल इतनी ही विशेषता है कि जो कोट है उसमे पृथ्वी सम्बन्धी चौडाई अधिक है, किन्तु ऊपर अनुक्रम से हानि रूप है, और वेदी नीचे से लेकर ऊपर अन्त तक भित्ति की तरह बराबर एक समान है। इस तरह इन चार कोट और पाच वेदी इन नौ कोटो के बीच मे चैत, खातिका, पुष्पवाटिका, उपवन, ध्वजा, कल्पवृक्ष, मन्दिर और सभा ये आठ भूमियाँ है। इनके आठवी सभा नामक भूमि के मध्य मे एक गन्धकुटी की रचना है।

भावार्थ सातवी मन्दिर नामक भूमि के आगे जो चौथा स्फटिक नामक कोट कहा गया है, उसके बीच मे छ हजार धनुष प्रमाण तीन कोस ऊचा और एक कोस प्रमाण चार कोस का चौडा एक गोल मण्डप है। उस मण्डप के बीच मे १६ धनुष ऊची तीन पीठ है। पीठ का नाम चबूतरा है। उसमे आठ धनुष ऊची और चार हजार धनुष प्रमाण दो कोस चौडी चौकोर गन्धकुटी है। उसके ऊपर एक योजन अर्थात् चार कोस ऊचा एक रत्नमय सिंहासन है। उसके ऊपर स्वर्णमय एक हजार पाखुडी का एक कमल है। उस कमल की कर्णिका के बीच में चार

अंगुल अधर श्री जिनेन्द्र भगवान विराजमान है। इसलिए नीचे की भूमि से छ: कोस–एक हजार छ. सौ सोलह धनुष प्रमाण का एक कमल और चार अंगुल प्रमाण अधर आकाश में भगवान विराजमान हैं। ऐसे श्री-मण्डप के बीच मे तीन पीठ के ऊपर भगवान की गन्धकुटी है। उसके चारो ओर श्रीमण्डप के नीचे दो हजार धनुष प्रमाण एक कोस की चौडी आठवी सभा की भूमि है। उसमे अनुक्रम से मुनि, कल्पवासी देव, स्त्रियाँ, ज्योतिषी देवियां, व्यन्तर देविया, भवनवासी देविया भवनवासी देव, व्यन्तर देव, ज्योतिष देव, कल्पवासी देव, मनुष्य और तिर्यंच इस प्रकार बारह सभाये विराजमान है।

भावार्थ–अढाई कोस की मोटाई और बारह योजन की चौड़ाई की रत्नमयी जो एक शिला कही गई है, उसके अन्त भाग मे पहला धूलिसाल नामक कोट है। उसमे पहली चैतन्य नामक भूमि है। उसके आगे पहली वेदी है। उसके आगे दूसरी खातिका भूमि है। उसके आगे दूसरी वेदी है। उसके आगे तीसरी पुष्पवाटिका भूमि है। उसके आगे दूसरा कोट है। उसके आगे चौथी उपवन भूमि है। उसके आगे तीसरी वेदी है। उसके आगे पाचवी ध्वजा नामक भूमि है। उसके आगे तीसरा कोट है। उसके आगे छठी कल्पवृक्ष नामक भूमि है। उसके आगे चौथी वेदी है। उसके आगे सातवी मन्दिर नामक भूमि है। उसके आगे चौथा कोट है। उसके आगे आठवी सभा नामक भूमि है। उसके आगे पांचवी वेदी है। इस तरह ६ कोट और आठ भूमि इन सत्रहो के बीच मे तीन पीठ है। उसके ऊपर एक गन्धकुटी है। उस गन्धकुटी के बीच मे एक सिंहासन है। उस सिंहासन के ऊपर एक कमल है। उस कमल से चार अगुल ऊपर आकाश मे भगवान विराजमान हैं। चारो दिशाओं की सीढियो मे अपनी-अपनी लम्बाई के समान एक कोस की चौडी और पहले धूलिसाल नामक कोट के दरवाजे से लेकर समवशरण के बीच मे गन्धकुटी के दरवाजे तक २३ कोस की लम्बी चार महागली है। उन महागलियो के मार्ग मे

होकर केवली भगवान के दर्शनार्थ समवशरण के अन्दर आते जाते हैं। इन चारो गलियो की प्रत्येक गली के दो दो पार्श्व यानी तट मे स्फटिक नामक मणिमय श्वेतवर्ण रूप एक कोस की ऊची और सात सौ पचास धनुष की चौड़ी तथा अपनी गली के समान २३ कोस की लम्बी दो दो दीवालें हैं। इनको वेदी भी कहते हैं। इस प्रकार चारो दिशाओ की महागलियो मे कुल आठ वेदिया हैं। वे पृथक-पृथक एक एक वेदी अनेक द्वारो से सुशोभित हैं। उन दरवाजो मे वज्रमयी किवाड लगे हैं। इन वेदियो की दायी और बायी तरफ आठ आठ भूमिया है। वहा पर जो कोई भव्य जीव उन आठ आठ भूमियो की रचना को यदि देखना चाहे तो उपर्युक्त द्वारो के बीच मे से जायगा। इस प्रकार समवशरण के अन्दर भूमियो का वर्णन किया गया।

अब आगे आठ भूमियो की रचना मे मानस्तम्भ की रचना का वर्णन करते हैं :—

पहली चैत्य नामक भूमि की चारो दिशाओ के बीच मे चारो ओर चार द्वारो से सयुक्त तीन-तीन पीठ है। उन पीठो के ऊपर ६००० धनुप प्रमाण तीन कोस के ऊंचे स्वर्णमय गोलरूप एक-एक मानस्तम्भ हैं, उसकी दो हजार धाराए है। वे सभी धारायें खम्भो के पहल के अनुसार हैं। उन मानस्तम्भों के नीचे मूलभाग मे तीसरे पीठ के ऊपर एक एक दिशा मे एक एक जिनबिम्ब विराजमान है। उन जिनबिम्बो का अभिपेक इन्द्रादिक देव क्षीरसागर के जल से करते हैं। पृथक पृथक एक-एक अर्हन्त प्रतिमा आठ आठ प्रातिहार्यों से युक्त है।

प्रातिहार्य—अशोकवृक्ष, पुष्पवृष्टि, दिव्यध्वनि, चामर, दिव्यासन, भामण्डल, दुन्दुभि और छत्र—ये आठ प्रातिहार्य है। इन आठो मे सबसे अधिक विशेपता दिव्यध्वनि की है। समस्त भव्य जीव इसे सुनकर अपने अपने कल्याण के मार्ग अपनाते हैं।

भावार्थ—इस प्रकार चार प्रतिमा से युक्त एक दिशा मे एक एक मानस्तम्भ है। उसे देखते ही मिथ्यादृष्टि जीव का मान गल जाता है।

इसी कारण उसका नाम मानस्तम्भ है । अर्थात् मानस्तम्भ को देखने से इन्द्रादिक देवो का भी मान गलित हो जाता है । अतः समवशरण मे जो जीव जाते है, वे सबसे पहले मानस्तम्भ को नमस्कार करते है। इसलिए मानस्तम्भ का नाम सार्थक हुआ । पहली चैत्यभूमि की चारो दिशाओ मे चार मानस्तम्भ है । जिनमे सोलह जिनप्रतिमाए है । इसलिए इस पहली पृथ्वी का नाम चैत्यभूमि सार्थक हुआ । इस प्रकार पहली चैत्यभूमि के विषय मे चार मानस्तम्भो का स्वरूप समझना चाहिए। उन मानस्तम्भो की चारो दिशाओ मे एक-एक बावड़ी है । पहली पूर्वदिशा के मानस्तम्भ सम्बन्धी नन्दा, नद्योत्तरा, नन्दावती और नन्दघोषा ये चार बावड़िया है । दूसरी दक्षिणदिशा के मानस्तम्भ सम्बन्धी विजय, वैजयन्त, जयन्त और अपराजित इस प्रकार चार वापिया हैं। इसी तरह पश्चिमदिशा के मानस्तम्भ सम्बन्धी अशोक, महाशोक, कुमुदा और पुण्डरीका ये चार वावडिया हैं । पुन· उत्तरदिशा के मानस्तम्भ सम्बन्धी नन्दा, महानन्दा, सुप्रतिबोध और प्रभकरी इस प्रकार चार है । ये सभी वापिया परमनिर्मल जल से पूरित है । उनमे अनेक रत्नमय कमल विकसित रहते है । इस प्रकार चारो ओर से बावडियां चौकोर है । उनमे पादप्रक्षालन करने के लिए दो-दो कुण्ड बने हुए है । उन कुण्डों के जल से भव्य जीव अपने चरण धोकर पुन उन वापियो के जल से जिनेन्द्र भगवान का अभिषेक करते है । इस प्रकार मानस्तम्भ की पूजा करने के पश्चात् भगवान् की पूजा करते है । इस तरह पहली चैत्यभूमि के विषय मे सोलह वावडियो के स्वरूप को जानना । जो पहला धूलिसाल नामक कोट है, उसकी चारो दिशाओ मे जो चार महागलिया कही गई हैं, उनके भाग में स्फटिकमणि के श्वेतवर्णरूप दो नाट्यशालाए है । इस तरह चारो गलियो सम्बन्धी कुल आठ नाट्यशालाएं हुईं । प्रत्येक नाट्यशाला तीन-तीन खण्ड की ऊंचाई में है । प्रत्येक नाट्यशाला मे बत्तीस-बत्तीस अखाड़े हैं और उन एक एक अखाडे में बत्तीस बत्तीस भवनवासिनी देविया है, जो नृत्य करती रहती है । और एक-एक नाट्य-

शालाके दोनो किनारो पर दो धूपघट रहते है। इस प्रकार पहली चैत्य-भूमि सम्बन्धी आठ नाट्यशालाओं को समझना।

भावार्थ—चैत्यभूमि सम्बन्धी चार मानस्तम्भ, सोलह बावड़ी, वत्तीस कुण्ड और आठ नाट्यशालाए है।

अब आगे खातिका भूमि का वर्णन करते हैं—

पहली और दूसरी वेदी के बीच मे दूसरी खातिका भूमि बतलाई गई है। उसमे जल की रचना है इसलिए इसका नाम खातिका भूमि है। दूसरी भूमि की चारो दिशाओ मे पहली भूमि के समान एक-एक कोस चौडी चार महागलिया है। उन महागलियो के मार्ग को छोड़कर उसके चारो ओर के अन्तराल मे एकसौ पच्चीस धनुप नीचे एक जल से पूरित खातिका है। उसमे विविध भाति के स्वर्णमय एक एक हजार पखडियो वाले कमल फूल रहे है। उसके चारो ओर एक एक हाथ चौडी और ऊची पैड़ियाँ बनाई गई है। इन चारो खाइयो मे दोनो तटो पर हस मोर, चकवा-चकवी आदि अनेक मायामय पक्षी शब्द करते रहते है। इस प्रकार दूसरी खातिका का वर्णन समाप्त हुआ।

अब आगे तीसरी पुष्पवाटिका का वर्णन करते है—

दूसरी वेदी और दूसरे कोट के बीच मे तीसरी पुष्पवाटिका नामक भूमि है। उसमे अनेक प्रकार के सुन्दर-सुन्दर पुष्पो की रचना की गई है। इससे इसका नाम पुष्पवाटिका है। तीसरी भूमि की चारो दिशा-सम्बन्धी दूसरी भूमि के समान एक-एक कोस की चौडी चार महा-गलियाँ है। उन महागलियो के मार्ग को छोडकर उनके चारो अन्तरालो मे वेलवन है। उसमे अनेक प्रकार की रत्नमयी बेलें फैली रहती हैं। उन वेलो मे भाँति-भाँति के सुन्दर-सुन्दर पुष्प लगते हैं। उस वन मे अनेक प्रकार के क्षुद्र याने छोटे-छोटे पर्वत हैं। उन पर्वतो के ऊपर जगह-जगह वेल के मण्डप बने हुए हैं। उसमे अनेक देव-देवियाँ भगवान का गुणा-नुवाद गाती रहती हैं। इस प्रकार पुष्पवाटिका का वर्णन समाप्त हुआ।

आगे चौथी उपवन भूमि का वर्णन करते हैं—

दूसरे कोट और तीसरी वेदी के बीच चौथी उपवन भूमि है। उसमे अनेक वृक्षो की रचना है। इसलिए उसका नाम उपवनभूमि है। इस उपवन नामक बाग मे चौथी भूमि की च रो दिशाओं मे तीसरी भूमि के समान एक-एक कोस चौड़ी चार महागलियाँ है। उन महागलियो के मार्ग को छोड़कर उनके चारो अन्तराल मे एक-एक तरफ चार-चार वन की पक्तियाँ अशोक, सप्तच्छद, चम्पक आम्र, इस प्रकार भिन्न-भिन्न प्रकार से चार वन की श्रेणियाँ है। उनमे पहले अशोक-नामक वृक्ष को देखकर ससारी जीवो का समस्त शोक दूर हो जाता है। इसलिए उसका नाम अशोक हुआ। दूसरे सप्तच्छद वृक्ष के ऊपर एक-एक शाखा मे सात-सात पत्ते होते है इसी से इसका नाम सप्तच्छद है। तीसरा चम्पक वृक्ष है। उसकी ज्योति दीपक के समान जगमगाती रहती है, इसलिए उसका नाम चम्पक पड़ा। चौथा आम् का वृक्ष है। उसके ऊपर अनेक प्रकार के आम लगे हुए है इसीलिए उसका नाम आम्रवृक्ष पड़ा। उसके ऊपर मायामय पक्षी गुजार करते है पुन: उस वन मे त्रिकोण चतुष्कोण निर्मल जलपूरित बावड़ियाँ है। इनकी पैडिया रत्नो की निर्मित है। उनके तट स्वर्णमय है। उस वन मे रत्नमय अनेक पर्वत बने हुए है। वहाँ पर अनेक रत्न-मय महल भी है। उन महलो मे अनेक देव-देवियाँ क्रीडा करती रहती है। इस प्रकार विविध भाँति की रचना से वह वन सुशोभित रहता है। पहले कहा हुआ जो अशोक नामक वन है, उसके बीच मे अशोक नामक चैत्य वृक्ष है। उसके चारो ओर एक-एक कोट है। उस कोट के चार-चार दरवाजे हैं। ऐसे तीन कोट के भीतर बीच मे स्वर्णमय तीन पीठ है। उसके ऊपर तीन कोस ऊँचा एक अशोक वृक्ष है। उस वृक्ष के नीचे मू नभाग सम्बन्धी तीसरी पीठ के ऊपर एक-एक दिशा मे एक-एक अर्हन्त भगवान् की प्रतिमा है। इसलिए अशोक वन-सम्बन्धी एक अशोक नामक चैत्य वृक्ष है। उसके ऊपर चार जिनप्रतिमाएँ विराजमान हैं। इसलिए उसको चैत्यवृक्ष कहा गया है। इसी तरह दूसरे सप्तच्छद नामक वन मे सप्तच्छद चैत्यवृक्ष है तथा ऐसे तीसरे

चम्पकवन में चम्पक नामक चैत्यवृक्ष है। इसी प्रकार चौथे आम्रवन मे आम्र नामक चैत्यवृक्ष है । यहाँ चैत्य नाम जिनप्रतिमा का है। इसलिए चारों चैत्यवृक्ष अपना-अपना नाम सार्थक करके विराजमान हैं। इस तरह चौथी भूमि के चारो अन्तराल सम्बन्धी सोलह चैत्य अशोक, सप्तच्छद, चम्पक और आम्र इन चारो जातियो के अनेक वृक्ष है। जिस प्रकार पहला चैत्य नामक भूमि की चारो गलियो के दोनो किनारे पर आठ-आठ नाट्यशालाओ का वर्णन किया गया है उसी प्रकार दूसरे कोट के आभ्यन्तर चारो गलियो के दोनो किनारे आठ-आठ नाट्यशालाएँ है। परन्तु यहाँ इतना विशेष है कि वहाँ तो भवनवासी देवियाँ नृत्य करती है और यहाँ पर कल्पवारि.नी देवियाँ नृत्य करती है।

भावार्थ—चौथी उपवन भूमि के अन्दर सोलह चैत्य नाम के वृक्षों की चारो दिशाओ मे चौंसठ जिनप्रतिमाएँ आठ-आठ नाट्यशालाएँ तथा अनेक बावडी, पर्वत, महल तथा अनेक वृक्षो की रचना है। ऐसा चौथी उपवन भूमि का वर्णन जानना।

आगे पांचवीं ध्वजाभूमि की रचना को कहते है—

तीसरी वेदी और तीसरे कोट के बीच में पाचवी ध्वजा नामक जो भूमि कही गई है उसमें दश प्रकार की ध्वजाओं की रचनाएँ है। इसलिए उसका नाम ध्वजाभूमि पड़ा। यहाँ पर चारो महागलियों के मार्ग को छोडकर चारो अन्तराल मे सिंह, हस्ती, वृषभ, मोर, हंस, गरुड़, वस्त्र, माला, कमल और चक्र इस प्रकार दश प्रकार की ध्वजाएँ एक-एक दिशाओ मे तिष्ठती है। उनके अट्ठासी अंगुल प्रमाण चौड़े और तीन कोस ऊँचे रत्नमय दण्ड हैं। तथा उनके वस्त्र भी रत्नमय है। और वे वस्त्र पवन के झकोरे लगने से लहराते रहते है। उनकी शोभा ऐसी मालूम पड़ती है कि मानो भव्यजीवो को अपनी ओर बुला रही हो। उनमे पहली सिंहध्वजा मे सिंह के आकार मे वस्त्र लहराता रहता है और इसी प्रकार अन्य हस्ती, वृषभ, मोर,

हंस, गरुड, वस्त्र, माला, कमल और चक्र इन नौ जाति की ध्वजाओं के आकार मे वस्त्र लहराते रहते है। इस प्रकार की ध्वजाओ मे दश प्रकार के पृथक्-पृथक् चिह्न है। ये दश प्रकार की ध्वजाएँ पृथक्-पृथक् एक-एक दिशा मे एक सौ आठ रहती है। इसलिए समस्त दश प्रकार की ध्वजाएँ एक दिशा मे १०८० एक हजार अस्सी हुई। तो इस हिसाब से चारों दिशाओ की कुल चार हजार तीन सौ बीस ध्वजाएँ है। उनके बीच मे परस्पर पच्चीस-पच्चीस धनुप का अंतराल है। इस प्रकार पांचवी भूमि का स्वरूप जानना।

आगे पांचवीं ध्वजाभूमि की रचना को कहते हैं—

तीसरे कोट और चौथी वेदी के बीच मे छटी कल्पवृक्ष नामक भूमि कही गई है। उसमे दश प्रकार के कल्पवृक्षो की रचना है। इसलिए इसका नाम कल्पवृक्ष भूमि पडा। वहाँ चारो महागलियो के मार्ग को छोड़कर उसके चार-चार अन्तराल में चार-चार ही कल्पवृक्षो के नाम गृहाँग, भजनाँग, आभूपणाग, वस्त्रांग, भोजनाग, मयाग, ज्योतिराग मालाँग, वादित्रांग तथा दीपाग—ऐसे दश प्रकार के कल्पवृक्ष एक-एक वन मे छह हजार धनुषप्रमाण तीन-तीन कोस ऊँचे स्थित हैं। वहा एक-एक वन मे अशोक नामक चैत्यवृक्ष के समान एक-एक सिद्धार्थ वृक्ष है। उनके नाम क्रमश मेरु, मन्दार, पार और सन्तान—ऐसे चार प्रकार के हैं उनके मूलभाग में सिद्ध प्रतिमा विराजमान है।

भावार्थ—जिस प्रकार चौथी उपवन नामक भूमि की चारो दिशाओ में चार-चार वनश्रेणियाँ कही गई हैं उसी प्रकार यहाँ भी एक-एक दिशा मे चार-चार प्रकार के कल्पवृक्षों की वनश्रेणियाँ है। उस एक-एक वनश्रेणी के बीच मे एक-एक सिद्धार्थवृक्ष है। वहाँ पहले मेरुनामक वन के बीच मे एक मेरु नामक सिद्धार्थ वृक्ष है। उसके चारो ओर तीन कोट है और एक-एक कोट के चार-चार दरवाजे हैं। उन तीनों कोटो के भीतर बीच मे सुवर्णमयी तीन पीठ है। उनके ऊपर तीन-तीन कोस ऊँचे एक-एक मेरु नामक सिद्धार्थ वृक्ष है। उन मेरु वृक्षों के नीचे

मूलभाग मे तीसरे पीठ के ऊपर एक-एक दिशा मे एक-एक सिद्ध भगवान की प्रतिमा विराजती हैं।

प्रश्न—सिद्ध भगवानजी की प्रतिमा का आकार किस प्रकार का है ?

उत्तर—अरहन्त भगवान के समान श्री सिद्धभगवान की वीतराग मूर्ति साढे तीन हाथ से लेकर कुछ कम पाँच सौ धनुष प्रमाण होती है। उसमे इतना विशेष है कि अरहन्त भगवान की प्रतिमा के निकट आठ-आठ प्रातिहार्य होते हैं परन्तु सिद्ध भगवान के निकट प्रातिहार्य नही होते। इसके अतिरिक्त समस्त रचना अरहन्त भगवान के समान ही रहती है। इस तरह एक-एक वन सम्बन्धी मेरु नामक सिद्धार्थ वृक्ष है और उसमे चार सिद्ध प्रतिमा विराजमान है। वहा पर उस वन सबधी अनेक रत्नमय महल बने हुए है। एव ५ पर्वत भी विद्यमान है। वहां की बावडी निर्मल जल से परिपूर्ण है। इस प्रकार पहले वन के सिद्धार्थ मेरु का स्वरूप जानना चाहिए। अथवा जिस पहले मेरु वन मे एक सिद्ध नाम का जो वृक्ष कहा गया है, उसी प्रकार दूसरे मन्दारजाति के वन मे एक मन्दारवृक्ष कहा गया है। इसी तरह तीसरे पारिजात वन में पारिजात सिद्धार्थ नामक वन है। इसी प्रकार चौथे सन्तानजाति के वन मे एक सन्तान नामक सिद्धार्थ वृक्ष है। इस प्रकार छोटी भूमि के चारो ओर १६ सिद्धार्थ नामक वृक्ष एवं उसमें ६४ सिद्ध प्रतिमा विराजमान हैं। पुन जिस प्रकार चौथी उपवन नाम की गली के दोनो ओर ८ नाट्यशालाएँ कही है, उसी तरह यहा भी तीसरे कोट के आभ्यन्तर चारो महागलियो के दोनों तरफ ८ नाट्यशालाएँ हैं। किन्तु यहा पर इतनी विशेषता है कि कल्प-वासिनी देविया यहाँ नृत्य करती है। यहाँ की नाट्यशाला श्वेतवर्ण की है और श्वेत तथा स्वर्णमय स्तम्भ हैं।

सातवीं भूमि का वर्णन—

चौथी वेदी और चौथे कोट के बीच मे सातवी मन्दिर नाम की भूमि है। उसमे अनेक-पवित्र-रूप-जिनमन्दिरो की रचना है। इसलिए

उसका नाम मन्दिर भूमि है। उन चारो गलियों के मार्ग को छोड़कर उसके चारो अन्तराल में तीन-तीन कोस ऊँचे शिखर निर्मित रत्नमय जिन मन्दिर हैं। उनमें अनेक देवी विद्याधर तथा चारणमुनि भगवान के गुणगान करते हैं। इस मन्दिर भूमि की एक-एक दिशा सम्बन्धी तीन कोस ऊँचे रत्न और मणिमय अत्यन्त सुन्दर नव स्तूप हैं। उनमे प्रत्येक के ऊपर एक-एक अरहन्त भगवान की प्रतिमा विराजमान है। वह प्रतिमा अष्ट मगल द्रव्य तथा अष्ट महा प्रातिहार्य से युक्त है। ऐसे नव-नव स्तूप के अन्तराल में दीवाल के स्तम्भ के समान गोल रूप रत्न-मय १००,१०० तोरण है।

भावार्थ—सातवीं मन्दिर भूमि की चारों दिशा में ३६ स्तूप तथा उनके ऊपर इतनी ही प्रतिमाये विराजमान है। इसके साथ-साथ ४०० तोरण अनेक प्रकार के महल वापी तथा विविध भाँति के पर्वतो की रचनाये हैं। इस प्रकार इस सातवी मन्दिर नाम की भूमि का वर्णन किया गया।

आठवीं भूमि का वर्णन निम्न प्रकार हैः—

वहां पर चौथे कोट तथा पाँचवी वेदी के बीच मे आठवी सभा नाम की भूमि है। उस भूमि मे मुनि, कल्पवासी देवी, अर्जिका-स्त्री, ज्योतिष देवी, व्यन्तर देव, देवी, भवनवासी देव, देवियाँ, कल्पवासी देव, ज्योतिष देव, तिर्यञ्च। इस प्रकार १२ सभायें है। इस कारण इस भूमि का नाम सभा भूमि पड़ा। वहाँ चारो अन्तराल मे एक-एक दिशा सम्बन्धी तीन-तीन सभाये है। इसलिए चारो दिशाओं के सब ओर १२ सभाये कही गई है। इसका भावार्थ इस प्रकार है—

भावार्थ—सातवी मन्दिर भूमि के आगे चौथा स्फटिक नामक कोट बतलाया गया है, इसके मध्य तीन कोस ऊँचा तथा चार कोस चौड़ा गोल रूप श्रीमंडप है। इसके मध्य में गन्धकुटी के ऊपर भगवान की प्रतिमा विराजमान है। इस कारण इसका नाम श्री मण्डप बतलाया गया है। इस श्रीमडप मे एक अशोक वृक्ष है, यह एक योजन प्रमाण

श्रीमंडप के नीचे समस्त बारह सभा के जीवों के शोक को दूर करता है। इसलिए इसका नाम अशोक वृक्ष है। अर्थात् वह अशोक वृक्ष वज्रमय है, उसकी शाखायें रत्नमय हैं। उसके पत्र मरकत मणि के समान है एवं रत्नमय लाल वर्ण रूप उसके पुष्प हैं। इस प्रकार इस वृक्ष का स्वरूप समझना चाहिए। उसकी शाखाये एक योजन प्रमाण है एव श्रीमडप के चारो ही ओर फैली हुई हैं। इस श्रीमडप मे अनेक मोतियो की मालायें, रत्नघट, धूपघट, इत्यादि विविध भाँति की रत्नमयी रचनाये हैं। इस श्रीमण्डप के बीच मे जो तीन-तीन पीठ कहे गये है, उनमे चौथे स्फटिक नामक कोट से लेकर आगे भगवान की गन्धकुटी के नीचे पहले पीठ की ऊँचाई एक-एक कोस है एव उसकी चौडाई ७५० धनुप है। इस प्रकार स्फटिक मणि के श्वेत रूप १६ भित्तियो की वेदी है। उसमे जो ८ वेदियाँ है वे ४ गलियों के दोनों तरफ हैं। आठ वेदियो से चार अन्तराल के बीच मे और एक-एक अन्तराल मे दो वेदी है। इसलिए एक-एक दिशा मे चार-चार वेदियाँ हुई। उस वेदी के बीच मे तीन-तीन कोठे है। इस प्रकार चारो दिशाओ के कुल १२ कोठे तथा भीतियाँ है।

भगवान की गन्धकुटी की रचना का वर्णन निम्न प्रकार है.—

चौथे कोठे के आगे श्रीमण्डप के नीचे स्वर्ण रूप गोलाकार जो पाचवी वेदी है उसके बीच मे तीन पीठ है। उनमे पहले पीठ की ऊँचाई तो आठ धनुष है। तथा ४००० धनुष प्रमाण दो-दो कोस चौड़े मरकत मणि तथा पन्ने के समान हरित वर्ण गोलाकार है। यहाँ पहले पीठ की चारों दिशाओ मे एक कोस की चौडी तथा २३ कोस लम्बी जो चार महागलियाँ बतलायी गई है, उनकी सीध मे जो १२ सभाये है, उनकी सीध मे १-१ हाथ की चौडी तथा इतनी ही एक-एक हाथ प्रमाण ऊँची बत्तीस-बत्तीस चढने उतरने की सीढियाँ हैं।

भावार्थ—भगवान की गन्धकुटी के चारों ओर १६+१६=३२ सीढियाँ हैं। उनमें एक-एक दरवाजा है। इसलिए गन्धकुटी के चारो

और १६ द्वार कहे गये है। इनमे चार द्वार तो चारो दिशाओ की महा-गलियो सम्बन्धी है, तथा १२ द्वार बारह सभा की तरफ है। इस प्रकार इन १६ द्वारों की ३२ सीढियो द्वारा ही मार्ग होता है। उस मार्ग से गणधर देव, इन्द्र महाराज तथा चक्रवर्ती आदि जितने भी भव्य जीव हैं वे सब इस प्रथम पीठ के ऊपर नही जाते । इस प्रकार नियम बताया है। इसलिए पहली पीठ तक ही जाते है आगे नही । वहाँ पूजा करके पुन उसी जीने के मार्ग से उतर कर अपनी-अपनी सभा मे आकर बैठ जाते हैं।

प्रश्न—भगवान के समवशरण में बार-बार भव्य जीवों का गमन होता है, ऐसा कहा है, परन्तु अभव्य जीवों के जाने के लिए क्यों नहीं बतलाया ?

समाधान—यह नियम है कि वहाँ पर भव्य जीव ही जाते हैं, अभव्य नही।

भावार्थ—शास्त्रो का ऐसा नियम है कि अभव्य जीव भगवान के समवशरण मे नही जाते । मिथ्यादृष्टि जीव समवशरण मे जाते ही सम्यक्त्व को प्राप्त हो जाते है। इसलिए भव्य जीवो को ही समवशरण मे जाने के योग्य भगवान ने बतलाया है।

प्रश्न—क्षायिक सम्यक्त्व की उत्पत्ति मनुष्य गति में होती है या तिर्यञ्च में ?

समाधान—क्षायिक सम्यक्त्व मनुष्य को ही होता है तिर्यञ्च को नही। इस प्रकार गोम्मटसार मे सम्यक्त्व मार्गणा मे बतलाया गया है। वह क्षायिक सम्यक्त्व मनुष्य को केवली अथवा श्रुत केवली के निकट ही होता है, अन्य कही नही। इस प्रकार क्षायिक सम्यक्त्व का प्रारम्भ होते ही वहाँ उसकी आयु पूरी होते ही जो पूर्णता होती है वह पहले आयु बन्ध से चारो गतियों मे होती है।

भावार्थ—क्षायिक सम्यक्त्व का प्रारम्भ केवली तथा श्रुत केवली के निकट ही मनुष्य को होता है। अन्य किसी को नहीं। परन्तु वहाँ आयु कर्म

का अन्त होते ही उसकी पूर्णता चारों गति मे होती है। इसलिए केवली भगवान के निकट ही जीव की आयु पूरी होती है। परन्तु वहाँ अकाल मृत्यु नही होती। इसलिए भगवान के समवशरण मे पहली कुटी के नीचे जो पहला पीठ है वहाँ देव मनुष्य तिर्यञ्च इस प्रकार तीन भेद वाले संसारी जीवो का गमन होता है इसके आगे नही। इस पीठ की एक-एक दिशा मे एक-एक धर्मचक्र एव आठ-आठ मंगल द्रव्य है जो कि क्रमशः झारी, कलश, दर्पण, स्वस्तिक, छत्र, ध्वजा, पखा, चामर इन आठ नामो से प्रख्यात हैं। और १००० गाड़ी के पहिये के आरे के समान गोल आकार रूप सूर्य के प्रकाश के समान धर्मचक्र का स्वरूप है। उस चक्र को यक्ष देव अपने मस्तक पर धारण किये खड़े रहते है। इस प्रकार चार हजार धनुष चौड़ा जो पहला पीठ बतलाया गया है, उसके सात सौ पचास धनुष चौड़ी एक छोटी सी कटनी है उसके दोनो तरफ की चौडाई १५०० धनुष है। इसलिए पहले पीठ के ऊपर ४ धनुष ऊँचा तथा २५०० धनुष चौडा दूसरा पीठ कहा है। इस स्वर्णमयी दूसरे पीठ पर हाथी, वृषभ, गरुड, चक्र, कमल, वस्त्र, माला—ये आठ प्रकार की रत्नमयी ध्वजाये है। पहली पीठ के समान ही ७५० धनुप चौड़ी कटनी है। उसके दोनों ओर १५०० धनुष प्रमाण स्थान है। इसलिए दूसरे पीठ के ऊपर चार धनुष ऊँचा तथा १००० धनुप चौडा पाच प्रकार का रत्नमय तीसरा पीठ बतलाया है। तीसरे पीठ पर ६०० धनुष ऊँची, ६०० धनुप लम्बी तथा इतनी ही चौडी अनेक रत्नमयी चौकोर रूप गन्धकुटी है। वहाँ भगवान के शरीर की सुगन्धि से समस्त दिशायें सुगन्धमयी हो जाती है, इसलिए इसको गन्धकुटी कहा गया है। इस गन्धकुटी को अनेक मोती की मालाओ तथा अनेक जाति की रत्नमयी ध्वजाओ द्वारा सुशोभित किया गया है। इसके बीच मे एक योजन प्रमाण यानी चार कोस ऊँचा स्फटिक मणि का सिंहासन है। इसके चारो पायो को इस प्रकार बनाया गया है कि मानो सामने प्रत्यक्ष सिंह ही बैठा हो अथवा वह सिंह मानो भगवान की भक्ति करने के

लिए श्रावक व्रत धारण करके अपने समभाव पूर्वक धर्म श्रवण करने के लिए निकट मे आया हो। इसलिए इसका नाम सिंहासन पड़ा है। इस सिंहासन पर स्वर्णमय हजार पांखुड़ी का एक कमल है। इस कमल के चार अंगुल प्रमाण ऊपर अर्थात् अन्तरिक्ष भाग मे भगवान विराजमान हैं। इसलिए नीचे की भूमि से १६१६ धनुष तथा चार अगुल प्रमाण ऊंचे आकाश मे केवली भगवान विराजमान हैं। नीचे की भूमि से ५००० धनुष प्रमाण ऊपर आकाश में श्रीमण्डप के नीचे १२ सभाओं के जीव निवास करते है।

गन्धकुटी के ऊपर विराजमान हुए केवली भगवान के शरीर की ज्योति का चारों ओर गोलरूप इस प्रकार का एक पुंज है जिसकी प्रभा समस्त समवशरण में व्याप्त हुई है। इसलिए उसका नाम प्रभा मण्डल है।

भावार्थ—भगवान की देह के प्रमाण गोलाकार रूप गन्धकुटी के चारो ओर एक भामण्डल है। उस भामण्डल से समस्त जीव मनुष्य, देव तथा तिर्यञ्च आदि के तीन भव आगे तथा तीन पीछे गये हुए भवो की और एक वर्तमान इस प्रकार सात भव की जानकारी जीव को हो जाती है। इस प्रकार आठभूमि के बीच मे भगवान की गन्धकुटी की रचना का स्वरूप जानना चाहिए। इस गन्धकुटी के चारो ओर एक कोस चौडी इस प्रकार वारह सभायें हैं। उनमे जीव बैठ कर धर्म का उपदेश प्राप्त कर सुख को प्राप्त करता है।

इस प्रकार वारह योजन चौडी तथा ४८ कोस प्रमाण समवशरण की रचना का जो वर्णन किया है वह इस समय विदेह क्षेत्र मे वर्तमान है। वहाँ पर वह हमेशा वर्तमान रहती है। इस भरत तथा ऐरावत क्षेत्र मे अवसर्पिणी काल के आदि मे तो उत्कृष्ट १२ योजन की रचना होती है। तथा इसके आगे अनुक्रम से यह घटते जाते हैं, जैसा कि पहले वृषभदेव भगवान के समवशरण का विस्तार १२ योजन बतलाया गया है। एव अन्त में २२ वें नेमिनाथ भगवान तक आधे आधे योजन की कमी

होती गई । तेईसवें पार्श्वनाथ तथा चौबीसवें महावीर भगवान के पाव-पाव योजन घट गया । इसलिए अन्त में भगवान महावीर स्वामी का समवशरण १ योजन चौड़ा कहा है ।

नाभेयस्य शतानि पंच धनुषां मान पर कीर्तितम् ।
सद्भिस्तीर्थकराष्टकस्य निपुणैः पचाशदून हि तत् ॥
पंचानां च दशोनक भुवि भवेत्पचोनकं चाष्टके ।
हस्ताः स्युर्नवसप्त चान्त्यजिनयोर्येषां तु तान्नौम्यहं ॥

समवसरणमानं योजन द्वादशादि ।
जिनपतियदुयावद्योजनार्द्धार्द्धहानि. ॥
कथयति जिनपार्श्वे योजनैक सपाद ।
निगदितजिनवीरे योजनैक प्रमाणम् ॥

भगवान आदिनाथ के शरीर की ऊँचाई ५०० धनुष थी । तदनन्तर अजितनाथ भगवान से पुष्पदन्त भगवान तक ५० धनुष प्रति गवान कम होती चली गई । पुष्पदन्तनाथ भगवान के शरीर की ऊँचाई १०० धनुष थी । शीतलनाथ भगवान से अनन्तनाथ भगवान तक दस-दस धनुष की कम होकर ऊँचाई ५० धनुष थी । धर्मनाथ भगवान से नेमिनाथ भगवान तक ५-५ धनुष की ऊँचाई घटती गई । नेमिनाथ भगवान की ऊँचाई १० धनुष थी । पार्श्वनाथ भगवान की ऊँचाई नव हाथ थी । तथा महावीर भगवान की ऊँचाई सात हाथ थी । इस प्रकार इन सभी भगवान को मैं नमस्कार करता हूँ ।

आदिनाथ भगवान के समवशरण की लम्बाई १२ योजन थी । तत्पश्चात् आधे योजन समवशरण की लम्बाई घटती गई, पार्श्वनाथ भगवान के समवशरण की लम्बाई सवा योजन तथा महावीर भगवान के समवशरण की ऊँचाई १ योजन की थी ।

अर्थात् पहले आदिनाथ स्वामी का समवशरण का प्रमाण बारह योजन था, दूसरे भगवान अजितनाथ स्वामी का ११ योजन, चौथे का

१०॥, पाचवें का १०, छट्टे का ६॥, सातवें का ६, आठवे का ८॥, नवें का ८, दसवे का ७॥, ग्यारहवे का ७, बारहवे का ६॥, तेरहवे का ६, चौदहवें का ५॥, पन्द्रहवें का ५, सोलहवे का ४॥, सत्रहवे का ४, अठारहवे का ३॥, उन्नीसवें का ३, बीसवे का २॥, इक्कीसवे का २, बाईसवे का १॥, तेईसवे पार्श्वनाथ का १।, चौबीसवे भगवान महावीर के समवशरण की लम्बाई १ योजन प्रमाण बतलाई गई है।

इस अवसर्पिणी काल मे अनुक्रम से हीन रूप होता आता है। इसी प्रकार दूसरे उत्सर्पिणी काल मे पुन वृद्धि होती है। उसमे आदि में एक योजन लम्बी-चौड़ी तथा अन्त मे २४वे भगवान के समवशरण की १२ योजन प्रमाण की लम्बाई होती है। इस प्रकार दोनो समवशरण का वर्णन किया जा चुका। वहाँ पर पाँच वेदी तथा चार कोट इस प्रकार नव कोट-वेदी तथा गली की वेदी को कहा गया। इसकी ऊँचाई तो भगवान के शरीर से चौगुनी होती है। तथा वहाँ सिद्धार्थ वृक्ष, चैत्य वृक्ष, मानस्तम्भ, ध्वजा, वन के वृक्ष, महल, जिन मन्दिर, पर्वत, स्तूप आदि इनकी ऊँचाई अपने-अपने काल सम्बन्ध को लेकर तीर्थंकर के शरीर से बारह गुनी होती है। इस प्रकार समवशरण की रचना का वर्णन समझना चाहिए। वह सौधर्म इन्द्र की आज्ञा से कुबेर द्वारा निर्मित किया जाता है। इस प्रकार श्री भगवान तीर्थंकर के समवशरण के स्वरूप को यथासम्भव शास्त्र के आधार से विवेचन किया गया है।

इस प्रकार समवशरण की लक्ष्मी से युक्त विराजमान सयोग केवली नाम के तेरहवे गुणस्थान मे तीर्थंकर भगवान तथा सामान्य केवली, सर्वज्ञ, वीतराग, परमहितोपदेशक, जो अरहन्त भगवान हैं वे देव है, और उनका वर्णन इस प्रकार किया है।

भावार्थ—तीर्थंकर केवली तथा सामान्य केवली इन दोनों केवली के समान ही गुणस्थान होते हैं, इस कारण दोनो को अरहन्त कहते हैं। पर इन दोनों में इतनी विशेषता है कि सामान्य केवली के गन्धकुटी होती है और तीर्थंकर भगवान के समवशरण आदि महान विभूति होती है।

क्योंकि वहां पर तीर्थंकर प्रकृति का उदय है। तीर्थंकर तथा केवली ये. दोनों आत्मा की दृष्टि से समान हैं और दोनों ही अरहन्त भगवान है। इस. प्रकार जो अरहन्त भगवान हैं वे सम्यग्दृष्टि के लिए पूजने योग्य हैं। इनके अलावा अन्य देव सम्यग्दृष्टि जीव के मानने योग्य नहीं बतलाए गये हैं।. इसलिए अरहन्त भगवान को देव कहना ठीक है, दूसरे को नही। इसलिए वीतराग भगवान ही देव हैं। विशेषकर अरहन्त ही सिद्ध भगवान हैं। अरहन्त सिद्ध इन दोनों मे इतना ही भेद है कि अरहन्त भगवान, सिद्ध होने के पहले का जो अरहन्त पद है वह चार घातिया कर्म के नष्ट करने से हुए हैं, सिद्ध भगवान आठों कर्मों को समूल नष्ट करते हैं इसलिए वे सिद्ध हो गये हैं। पर दोनो मे कोई विशेष भेद नही है। उस कारण सूक्ष्मत्व अर्थात् अमूर्तिक अवगाहन अगुरुलघु अव्याबाध इस प्रकार के आठ गुण सहित जो सिद्ध भगवान देव हैं वे ही पूजने योग्य हैं।

मानस्तम्भ

मानस्तंभाः सरांसि प्रविमलजलसत्खातिका पुष्पवाटी।
प्राकारो नाट्यशालाद्वितयमुपवनं वेदिकान्तर्ध्वजाद्याः॥
शालः कल्पद्रुमाणां सुपरिवृतवनं स्तूपहर्म्यावली च।
प्राकारः स्फाटिकोन्तर्नृसुरमुनिसभा पीठिकाग्रे स्वयंभूः॥

समवशरण मे मानस्तम्भ सरोवर से भरा हुआ खन्दक धूलिसाल नाम का किनारा, दो नाट्कगृह उद्यान, बावड़ी. वेदी के बीच मे ध्वजा दूसरे किनारे पर तट तथा कल्पवृक्षो के वन, ध्वजा महलो की कतार स्फटिक मणि का तट और इस तट के मध्य मे मनुष्य, देव और मुनि इनकी बारह सभा और सिंहासन के अग्रभाग पर अरहन्त भगवान इस प्रकार समवशरण का वर्णन किया गया है।

भावार्थ—कवि ने इस श्लोक मे बारह सभाओ का वर्णन किया. है।-इसके अन्दर चारो प्रकार के देव और देवागना, मनुष्य, तिर्यञ्च,

मुनिराज केवलज्ञानी अवधिज्ञानी मूककेवली आदि, मनुष्य स्त्री सभी प्रकार के प्राणी भगवान के मगलमय उपदेश को सुनने के लिए एकत्रित होते हैं। इस समवशरण में चारों तरफ चार मानस्तभ होते हैं, जिनके सुन्दर रूप को देखकर पहले जन्मो का हाल मालूम होता है और मानी से मानी व्यक्ति भी अपने मान को छोड़ देता है। भगवान की सभा मे चार बार प्रवचन होते हैं । समवशरण मे भगवान ऐसे मालूम होते है कि चारो तरफ देखने वाले स्त्री पुरुप सभी यह समझते है कि भगवान मेरी तरफ देख रहे है। जहाँ पर भगवान का समवशरण होता है उसके चारो तरफ सुकाल हो जाता है, कही पर किसी प्रकार का दुर्भिक्ष–अकाल नही पड़ता है। सभी प्राणी अपनी-अपनी भाषा मे भगवान की मगलमय अमृतमय वाणी सुनते है। समवशरण ज्ञान प्रचार की ऐसी सभा है जिसमें प्राणीमात्र आकर सुख शांति का अनुभव करते हैं और अपने जन्म को सफल बनाकर मोक्ष के मार्ग मे लगते है।

(समवशरण का विस्तृत विवेचन पहले दिया जा चुका है।)

वैराग्यनीति यात्म
विचारं तां वगेदु नोडे राजिसुगुं
शृंगारकवि हंसराजं ।
पूरिसिद सपाद शतकरत्नाकरदोळ् ॥१२८॥

स्वयं विचार करके देखने से शृंगार हंसराजकृत सपाद शतक रत्नाकर ग्रन्थ में वैराग्य और नीति तथा आत्म विचार झलकता है।

इस ग्रथ मे कवि ने वैराग्य और नीति तथा अध्यात्म इन तीनो को गुम्फित किया है और इसमें अनेक उदाहरण सहित अध्यात्म रस की सुन्दर ढंग से विवेचना करके भव्य जीवो के हृदय से अज्ञान रूपी पटल को दूर करने का प्रयत्न किया है । जो भव्य जीव इस ग्रन्थ को एक बार मनन करता है उसके मन मे संसार विपय सम्बन्धी वासना दूर हो जाती है। इसलिए सभी भव्य जीवों को इस ग्रंथ को मनन करके अपने

मनुष्य जन्म को सार्थक बनाना चाहिए। ये ग्रंथ १२८ श्लोको मे रचा हुआ है। इसके दो भाग हैं। एक रत्नाकर शतक और दूसरा अपराजितेश्वर शतक। इसके अन्दर वैराग्य-आत्म ध्यान के विषयो का अच्छी तरह से विवेचन किया है अथवा दो खण्डो मे विभाजित किया है। इसलिए हे भव्य जीव ! इन दोनो खण्डो को मनन करके अपने मनुष्य जन्म को सार्थक कर ले।

श्रीमद्द्वेवेंद्रकीर्तियोगीश्वर पादाभोजभृ गायमान शृगारकवि-हंसराजविरचितमप्परत्नाकरसपादशतक समाप्तम् ॥

कवि ने कहा है कि श्रीमद्द्वेवेन्द्रकीर्ति योगीश्वर के चरण कमल मे भ्रमर के सदृश रहने वाले शृंगार कवि हसराज विरचित "रत्नाकर सपाद शतक" ग्रन्थ समाप्त हुआ।
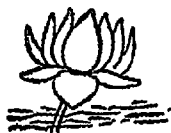
रत्नाकर शतक की साररूप

प्रश्नोत्तर-माला

प्र०—भद्र कौन है ?

उ०—विषयासक्त ।

प्र०—मुक्त क्या है ?

उ०—विषय भोगों से पूरी तरह से छूटना ।

प्र०—भय और नरक क्या है ?

उ०—सात व्यसन ।

प्र०—स्वर्ग क्या है ?

उ०—तृष्णा का छूटना ।

प्र०—ससार वधन किससे कटता है ?

उ०—आत्म ध्यान से ।

प्र०—मुक्ति के हेतु क्या हैं ?

उ०—तपश्चर्या, तप और संयम ।

प्र०—नरक का द्वार क्या है ?

उ०—कनक और कामिनी ।

प्र०—सुख से कौन सोता है ?

उ०—समाधिनिष्ठ । अर्थात् आत्म ध्यान मे मग्न रहने वाला ।

प्र०—जाग्रत कौन है ?

उ०—सत्य का विवेकी ।

प्र०—शत्रु कौन है ?

उ०—इन्द्रियो के दास ।

प्र०—दरिद्र कौन है ?

उ०—जिसकी तृष्णा बडी (अधिक) है

प्र०—श्रीमान् कौन है ?

उ०—जो पूर्ण सन्तोषी है।

प्र०—मरा कौन है ?

उ०—उद्यमहीन।

प्र०—जीवित कौन है ?

उ०—स्व और पर के ज्ञानी।

प्र०—फासी क्या है ?

उ०—ममता और अभिमान।

प्र०—मदिरा की भाति मोहित कौन करता है ?

उ०—कामान्ध नारी का ससर्ग।

प्र०—मृत्यु क्या है ?

उ०—अविवेक।

प्र०—गुरु कौन है ?

उ०—विषय आशा का जिन्होने पूर्णतया त्याग किया हो। और हमेशा ध्यान अध्ययन मे रत रहता हो।

प्र०—शिष्य कौन है ?

उ०—जो गुरु को आज्ञाओ पर चलता हो।

प्र०—लम्बा रोग क्या है ?

उ०—भव रोग।

प्र०—उसके मिटाने की दवा क्या है ?

उ०—सत्य और असत्य का विचार।

प्र०—भूषण मे उत्तम भूषण क्या है ?

उ०—स० चारित्र।

प्र०—परमतीर्थ क्या है ?

उ०—अपना विशुद्ध मन।

प्र०—कौन वस्तु हेय है ?

उ०—कामनी और कंचन।

प्र०—सदा क्या सुनना चाहिए ?

उ०—गुरु का उपदेश। सदुपदेश।

प्र०—आत्म प्राप्ति का उपाय क्या है ?

उ०—सत्संग, दान विचार और सन्तोष।

प्र०—सन्त कौन है ?

उ०—जो समस्त विषयों से वैरागी तथा मोह रहित व्रतनिष्ठ हो।

प्र०—प्राणियों का ज्वर क्या है ?

उ०—चिन्ता।

प्र०—मूर्ख कौन है ?

उ०—विवेकहीन।

प्र०—किसको प्रिय बनाना है ?

उ०—अरहन्त भक्ति को।

प्र०—यथार्थ जीवन क्या है ?

उ०—जो दोष वर्जित है।

प्र०—विद्या क्या है ?

उ०—जो स्व और पर का कल्याण करे।

प्र०—ज्ञान किसे कहते है ?

उ०—जो मोक्ष का हेतु हो।

प्र०—लाभ क्या है ?

उ०—आत्म ज्ञान।

प्र०—जग को किसने जीता है ?

उ०—जिसने मन को जीत लिया।

प्र०—वीरो में महावीर कौन है ?

उ०—जो काम-बाण से पीड़ित न हो।

प्र०—धीर कौन है ?

उ०—जो ललना के कटाक्ष से मोहित नही होता ।

प्र०—विष क्या है ?

उ०—समस्त विषय ।

प्र०—सदा दुखी कौन है ?

उ०—विषयानुरागी ।

प्र०—धन्य कौन है ?

उ०—परोपकारी ।

प्र०—पूजनीय कौन है ?

उ०—अरहन्त तत्व मे निष्ठावान ।

प्र०—सभी अवस्था मे क्या नही करना चाहिए ?

उ०—मोह और पाप ।

प्र०—विद्वानो को प्रेम के साथ क्या करना चाहिए ?

उ०—शास्त्र का पठन और धर्म ।

प्र०—ससार का मूल क्या है ?

उ०—विषय और चिन्ता ।

प्र०—किसके सग और किसके साथ निवास नही करना चाहिए ?

उ०—मूर्ख, पापी, नीच और खल के साथ वास नही करे ।

प्र०—मुमुक्षु व्यक्तियो को शीघ्रातिशीघ्र क्या करना चाहिए ?

उ०—सत्सग, निर्ममता और जिनेश्वर की भक्ति ।

प्र०—हीनता का मूल क्या है ?

उ०—याचना ।

प्र०—उच्चता का मूल क्या है ?

उ०—अयाचना ।

प्र०—किसका जन्म सार्थक है ?

उ०—जिसका फिर जन्म न हो ।

प्र०—अमर कौन है ?

उ०—जिसकी कभी मृत्यु न हो ।

प्र०—शत्रु में महाशत्रु कौन है ?

उ०—क्रोध, मान, माया और लोभ ।

प्र०—विषय भोग से तृप्त कौन नहीं होता है ?

उ०—कामना ।

प्र०—दुःख का कारण क्या है ?

उ०—ममता ।

प्र०—मृत्यु समीप होने पर बुद्धिमान व्यक्ति को क्या करना चाहिए ?

उ०—कर्म शत्रु का भय निवारण करने के लिए श्री भगवान जिनेश्वर का ध्यान करना चाहिए ।

प्र०—दिन रात हमारा ध्येय क्या है ।

उ०—संसार से वैराग्य और आत्म स्वरूप का चिन्तवन ।

प्र०—मार्ग का पाथेय क्या है ?

उ०—धर्म ।

प्र०—पवित्र कौन है ?

उ०—जिसका मन पवित्र है ?

प्र०—पडित कौन है ?

उ०—स्व पर विवेकी ।

प्र०—विष क्या है ?

उ०—गुरुजनों का अपमान ।

प्र०—मदिरा के समान मोहजनक क्या है ?

उ०—ममता ।

प्र०—डाकू कौन है ?

उ०—विषय समूह ।

प्र०—संसारवर्धक क्या है ?

उ०—विषय-तृष्णा ।

प्र०—शत्रु कौन है ?

उ०—उद्योग का अभाव।

प्र०—कमल पत्र पर स्थित जल की तरह चंचल क्या है ?

उ०—यौवन धन और आयु।

प्र०—चन्द्र किरण के समान निर्मल कौन है ?

उ०—विषय वासना से रहित, वाह्य आभ्यन्तर परिग्रह रहित, वीतराग, तप और संयम से युक्त दिगम्बर साधु।

प्र०—नरक क्या है ?

उ०—परवशता।

प्र०—सुख क्या है ?

उ०—समस्त ससार का त्याग।

प्र०—सत्य क्या है ?

उ०—जिसके द्वारा प्राणी का हित हो।

प्र०—प्राणियों को प्रिय क्या है ?

उ०—प्राण।

प्र०—दान क्या है ?

उ०—वासना रहित होना।

प्र०—मित्र कौन है ?

उ०—जो पाप से हटाये।

प्र०—आभूषण क्या है ?

उ०—शील।

प्र०—वाणी का भूषण क्या है ?

उ०—सत्य।

प्र०—अनर्थकारी कौन है ?

उ०—मान।

प्र०—सुखदायी कौन है ?

उ०—सज्जन की मित्रता।

प्र०—समस्त व्यसनो के नाश में कौन समर्थ है ?

उ०—सर्वथा त्यागी ।

प्र०—अन्धा कौन है ?

उ०—जो अकर्तव्य मे लगा हो ।

प्र०—बहरा कौन है ?

उ०—जो हित की बात न सुनता हो ।

प्र०—गूँगा कौन है ?

उ०—जो समय पर प्रिय वचन न बोलता तथा न जानता हो ।

प्र०—मरण क्या है ?

उ०—मूर्खता ।

प्र०—अमूल्य वस्तु क्या है ?

उ०—उपयुक्त समय देख करके दान देना ।

प्र०—मरते समय क्या चुभता है ?

उ०—अपने गुप्त पाप ।

प्र०—साधु कौन है ?

उ०—सच्चारित्रवान् ।

प्र०—अधम कौन है ?

उ०—चारित्रहीन ।

प्र०—जगत को जीतने मे कौन समर्थ है ?

उ०—सत्यनिष्ठ और महा सहनशील ।

प्र०—शोचनीय क्या है ?

उ०—धन होने पर भी कृपणता ।

प्र०—प्रशसनीय क्या है ?

उ०—उदारता ।

प्र०—पडितो मे पूजनीय कौन है ?

उ०—सदा स्वाभाविक विनयवान ।

प्र०—चतुर कौन है ?

उ०—प्रिय वचन के साथ दान, गर्व रहित ज्ञान, क्षमायुक्त शूरता और त्यागयुक्त धन ।

प्र०—मुक्ति किसको मिलती है ?

उ०—जिन्होंने ससार से मुँह मोडा हो ।

प्र०—इस काल मे धर्म मे मलिनता करने वाला कौन है ?

उ०—कानजी भाई ।

प्र०—वह कौन से मत को पालता है ?

उ०—एकान्त मत को ।

प्र०—नरक के भागी कौन हैं ?

उ०—एकान्त मत का प्रचार, वीतराग भगवान की वाणी को मलिन करने वाले, एकात के पोपक ।